MASO-05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

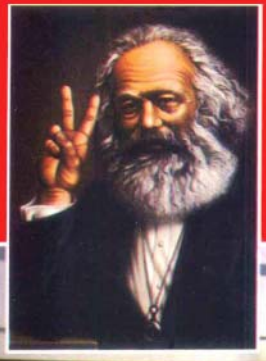

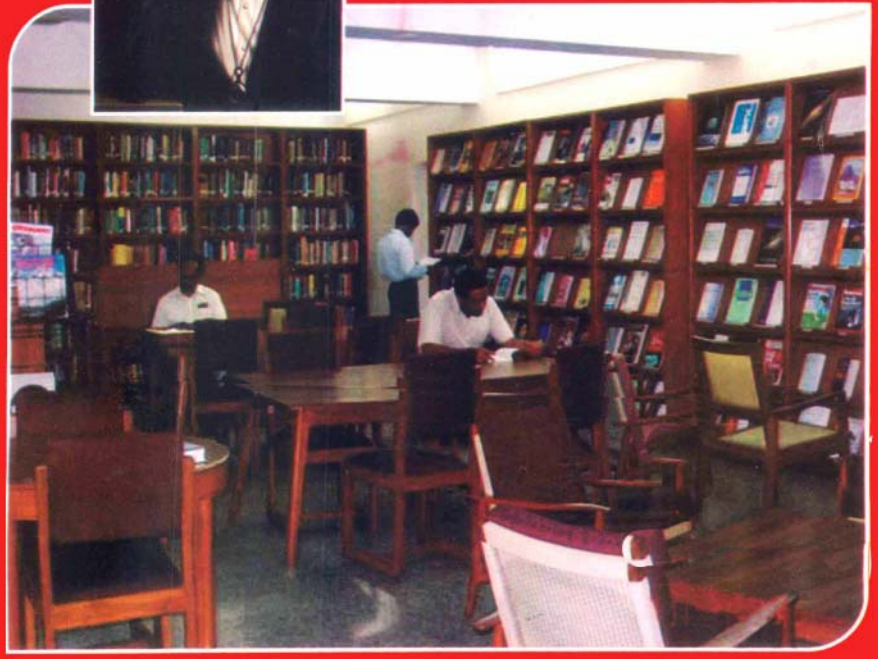

समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

MASO-05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

संयोजक/समन्वयक एवं सदस्य

डॉ. जे. के शर्मा
सहायक आचार्या, अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

डॉ. जे.एन. चौधरी
सेवानिवृतसह आचार्या,समाजशास्त्र विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

1. **प्रो. (डॉ.) के. एल. शर्मा**
   सेवानिवृत आचार्या, समाजशास्त्र विभाग
   जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **प्रो. (डॉ.) यू. आर नाहर**
   सेवानिवृत आचार्या, अर्थशास्त्र विभाग
   ज.ना. व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर
3. **प्रो. (डॉ.) इन्दु माथुर**
   सेवानिवृत आचार्या, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **डॉ. एस.एल.दोषी**
   सेवानिवृत सह आचार्या, समाजशास्त्र विभाग
   मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
5. **डॉ. आई. पी. मोदी**
   सेवानिवृत सह आचार्या,समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
6. **डॉ. कैलाश नाथ व्यास**
   सह आचार्या, समाजशास्त्र विभाग
   ज.ना. व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
7. **डॉ.(श्रीमती) रीता दाधीच**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   वैदिक कन्या पी.जी. महाविद्यालय जयपुर
8. **डॉ. अलका शर्मा**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजकीय पी.जी. महाविद्यालय दौसा

सम्पादन तथा पाठ लेखन

सम्पादन

प्रो.(डॉ.) इन्दु माथुर
सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
राज. विश्वविद्यालय, जयपुर

लेखन	इकाई सं	लेखक	इकाई सं	लेखक	इकाई सं
डॉ. सुशीला जैन सह, आचार्य, समाजशास्त्र विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1,2	**प्रो. (डॉ.) अशोक कौल** आचार्य, समाजशास्त्र विभाग बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी	5,18,20	**श्री सुबोध कुमार** सहायक, समाजशास्त्र विभाग राजकीय महाविद्यालय, कोटा	8
डॉ. फिरोज अखतर सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग आर.डी. महिला महाविद्यालय, भरतपुर	3	**डॉ. मिथलेश गुप्ता** सहायक आचार्य , समाजशास्त्र विभाग राजकीय आर्टस महविद्यालय, अलवर	6,11,12	**प्रो.(डॉ.) नरेश कुमार भार्गव** सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर	9,10 15,16
डॉ. एन. के. बीजावत सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग एस. डी. महिला महविद्यालय, ब्यावर	4	**डॉ. मनीष वर्मा** सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग राजकीय महाविद्यालय, कोटा	7	**प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच** आचार्य, राजनीतिशास्त्र विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	13
डॉ. सुशील कुमार सह आचार्य, समाजशास्त्र विभाग बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी	14,17	**डॉ. निर्मला आड़वाणी** सेवानिवृत सह आचार्य, समाजशास्त्र विभाग राजकीय महाविद्यालय, कोटा	19		

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	प्रो. डॉ. बी. के. शर्मा	योगेन्द्र गोयल
कुलपति वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	निदेशक संकाय विभाग	प्रभारी पाठय सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठयक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनःउत्पादन - Nov 2012 ISBN. : 13/978 -81 -8496 -016 -7

इस सामग्री के किसी भी अंश को व.म.खु.वि.कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं हैं। वम.खु.वि.कोटा के लिये कुलसचिव व.म.खु.वि.कोटा(राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

खण्ड -I

सामाजिक सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया एवं परिपेक्ष्य

इकाई सं	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	अवधारणा, विचार एवं सिद्धान्त: एक अन्तः सम्बन्ध	7–22
इकाई 2	समाजशास्त्रीय सिद्धान्त: अर्थ एवं प्रकृति	23–38
इकाई 3	समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकार	39–51
इकाई 4	सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया	52–64
इकाई 5	प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिपेक्ष्य	65–76
इकाई 6	रेडीकल एवं मानवतावादी परिपेक्ष्य	77–90

खण्ड . II प्रमुख समाजशास्त्रीय उपागम I

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 7	ऐतिहासिक उपागम	91–109
इकाई 8	उद्धविकसिया उपागम	110–133
इकाई 9	संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम	134–143
इकाई 10	सरंचनात्मक उपागम	144–153
इकाई 11	नृजाति पद्धतिशास्त्रीय उपागम	154–167
इकाई 12	प्रघटनाशास्त्रीय उपागम	168–183
इकाई 13	आलोचनात्मक उपागम	184–197

खण्ड . III प्रमुख समाजशास्त्रीय उपागम II

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 14	सामाजिक विनिमय सिद्धान्त	198–209
इकाई 15	संघर्षवादी सिद्धान्त: संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धान्त	210–219
इकाई 16	संघर्षवादी सिद्धान्त: संघर्ष का प्रकार्यवादी सिद्धान्त	220–230
इकाई 17	प्रतीकात्मक अन्तः क्रियावादी सिद्धान्त	231–244

खण्ड . IV अन्य उपागम/सिद्धान्त

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 18	नारीवादी उपागम	245–256
इकाई 19	संस्कृतिवादी सिद्धान्त	257–278
इकाई 20	उत्तर -आधुनिकतावादी सिद्धान्त	279–289
इकाई 21	विकासवादी सिद्धान्त	290–311

इकाई - 1

अवधारणा, विचार एवं सिद्धान्त
एक अन्त: सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.01 प्रस्तावना
1.02 तथ्य और अवधारणाएँ
1.03 चर
1.04 कथन
1.05 फार्मेट
1.06 सिद्धान्त
1.07 अवधारणाएँ एवं सिद्धांत
1.08 विज्ञान, सिद्धान्त और तथ्य
1.09 आनुभविक अनुसंधान में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की भूमिका
1.10 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में आनुभविक अनुसंधान की भूमिका
1.11 सारांश
1.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.13 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- सिद्धान्त निर्माण के मूल आधार के बारे में जान सकेंगे।
- तथ्य, अवधारणा एवं सिद्धान्त के मध्य अंत: सम्बन्ध को जान सकेंगे।
- सिद्धान्त की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि को जान सकेंगे।
- आनुभाविक अनुसंधान में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की भूमिका को भी जान सकेंगे।

1.01 प्रस्तावना

सद्धांत निर्माण की प्रक्रिया एक सार्वभौमिक प्रघटना रही है। भूतकाल से अब तक सिद्धान्त निर्माण, की प्रक्रिया चली आ रही है। केवल सिद्धान्त निर्माण के आधार मात्र बदले हैं। प्रथम अवस्था में सिद्धान्त निर्माण का आधार धार्मिक (Theological) रहा है इस स्तर में सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या धार्मिक आधार पर करने का प्रयास किया जाता था। द्वितीय अवस्था में यह आधार तात्विक (Metaphysical) रहा तथा वर्तमान में सिद्धान्त निर्माण का आधार वैज्ञानिक (Scientific) है, जिसमें प्रत्येक प्रघटना की व्याख्या हम वैज्ञानिक आधार पर करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार सिद्धांत निर्माण के आधार ने धार्मिक (Theological) से

तात्विक (Metaphysical) होते हुए वैज्ञानिकता (Scientific) तक का सफर किया। पर सिद्धान्त निर्माण का मुख्य उद्देश्य हमेशा एक ही रहा है और वह घटना चक्र के स्वरूप को समझना (Understand), विशलेषण करना (Analysis)), व्याख्या करना (Interpretation) और इनके आधार पर प्रघटनाओं पर नियंत्रण करना तथा भविष्यवाणी (Prediction) करना है।

सिद्धान्त का अर्थ

पी.एस कोहन (P.S Cohen) ने लिखा है कि "सिद्धान्त (Theory) शब्द एक खुले चैक (Blank Cheque) की भांति है, इसका सम्भावित मूल्य उस चेक को काम में लाने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है।"

सिद्धान्त की जो धारणा जन -साधारण में व्याप्त है, वह इसकी वैज्ञानिक धारणा से भिन्न है। आम धारणा के अन्तर्गत सिद्धान्त से अभिप्राय: अनुमान (Speculation), अव्यावहारिकता (Impracticability) इत्यादि से लगाया जाता है। इस आम धारणा के अन्तर्गत ही इस प्रकार की मान्यताएं प्रचलित है कि "सिद्धान्त" में सब ठीक है लेकिन व्यवहार में नहीं। सिद्धान्त की इस भ्रांति के सम्बन्ध में जहोदा (Jahoda) ने कहा है, "सिद्धान्त" शब्द का आधुनिक विज्ञान के अन्तर्गत जो स्वरूप है, उसे इस शब्द के अन्य प्रचलित स्वरूपों (अर्थों) से पृथक किया जाना नितान्त आवश्यक है। दैनिक बोलचाल की भाषा में प्राय: ही सिद्धान्त से अभिप्राय: अनुमान (Speculation) से लगाया जाकर, यह धारणा बनाई जाती है कि जो कुछ सैद्धांतिक (Theortical) है, वह सब अवास्तविक, स्वप्नमयी (Visionary)है।

पी.एस. कोहन ने सिद्धान्त के मूल्य को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि “एक कथन (Statement) को एक सिद्धान्त कहने का उद्देश्य यह सुझाते हुए उसके मूल्य को बढ़ा देता है कि वह केवल मात्र तथ्यों (Mere Facts) से कहीं अधिक है। सिद्धान्तों का कोई मूल्य या महत्व नहीं रह जायेगा यदि तथ्यों (Facts) से आगे न निकल जायें। तथ्य उन कथनों के अलावा और कुछ नहीं है जिन्हें कि घटित होने वाली कुछ विशिष्ट घटनाओं के बारे में सच माना जाता है। सिद्धान्तों का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट प्रघटनाओं से नहीं अपितु प्रघटनाओं की सम्पूर्ण श्रृंखला या श्रेणियों (Whole Categories of Events) से होता है।

अत: यह सत्य है कि सभी सिद्धान्त तथ्यों से आगे निकल जाते हैं। इसको और भी स्पष्ट शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि सिद्धान्त (Theory) वर्तमान की घटनाओं के बारे में ही नहीं बताते बल्कि भविष्य में घटने वाली प्रघटनाओं की भी भविष्यवाणी करते हैं। परन्तु सभी कथन जो तथ्यों से आगे निकल जाते है, सिद्धान्त नहीं होते इसका एक कारण यह है कि तथ्यों से आगे बढ़कर जब हम अनुमान (Guess) करते है तो उसे हमारी उपकल्पना (Hypothesis) ही कहा जायेगा।

पी.एस कोहन ने वैज्ञानिक सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए कहा है कि "आदर्श रूप में एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सार्वभौमिक, आनुभाविक कथन है जो दो या दो से अधिक प्रघटनाओं के मध्य कार्य -करण (Casual Connection) के सम्बन्धों को बताता है" परिभाषा से स्पष्ट है

कि सिद्धान्त ऐसे कथन है जो दो प्रघटनाओं के मध्य कार्य व प्रभाव के सम्बन्धों को बताते हैं। ये न केवल सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं बल्कि ये आनुभाविक सन्दर्भ भी रखते हैं।

आर.के. मर्टन के अनुसार "समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तार्किकता (Logical) में अन्त: सम्बन्धित ऐसे तर्क वाक्यों (Proposition) के समूह को कहते हैं जिनसे की आनुभाविक या प्रयोगसिद्ध समानताओं (Empirical Uniformities) को निकाला जा सके।" फोरसिस व रिचर ने भी इसी प्रकार की परिभाषा की है इनके शब्दों में "सिद्धान्त प्राक्थनों (Propositions) की एक ऐसी संयोजना है जो अन्त: सम्बन्धित है" जबकि प्राक्कथनों से अभिप्राय चरों (Variables) में निहित सम्बन्ध को दर्शाने वाले एक सत्यापित कथन (Verified Statement) से है।" परिभाषा को विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ये सत्यापित प्राक्कथन इस प्रकार क्रमबद्ध किये जाते हैं कि उच्च स्तरीय प्राक्कथनों के आधार पर निम्न स्तरीय कथनों को निर्गमित (Deduce) किया जा सकता है । अर्थात सिद्धान्त में प्रयुक्त विभिन्न स्तरीय प्राक्कलनों में सत्यापन की मात्रा के दृष्टिकोण से अन्तर होता है और इस कारण उच्च स्तरीय प्राक्कथन निम्न स्तरीय प्राक्कथनों की व्याख्या में सहायक होते है।

विज्ञान एवं वैज्ञानिक अध्ययन में तथ्यों के संकलन करने के पश्चात् इनकी व्याख्या एवं निष्कर्ष का निरूपण आवश्यक होता है। जिसके आधार पर सामान्यीकरण किया जाता है। अर्थात् सिद्धान्त निर्माण के लिये एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है और इस प्रक्रिया में से हर एक सिद्धान्त को गुजरना पड़ता है। रार्बट मर्टन ने ठीक ही कहा है कि एक सिद्धान्तवेत्ता अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तवेताओं के कंधों पर खड़ा रहता है। सर्वप्रथम तथ्यों का निर्माण होता है और तथ्य अवधारणा निर्मित करते हैं तत्पश्चात अवधारणाओं में पाये जाने वाले तार्किक सम्बन्ध का निर्माण करते हैं। वास्तव में सिद्धान्त निर्माण एक मानसिक गतिविधि है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न विचारों को विकसित पोषित किया जाता है जिनके माध्यम से हम इस तथ्य की व्याख्या कर सके कि घटनाएँ कैसे और क्यों गुजरती है।

जे.एच. टर्नर ने लिखा है कि सिद्धान्त की संरचना कई बुनियादी तत्वों से बनती है। ये बुनियादी तत्व ही एक प्रकार से सिद्धान्त की इमारत के पत्थर हैं जिसमें (1) तथ्य और अवधारणाएँ होगी, इनसे ऊपर (2) चर होंगे, और चरों के इर्द -गिर्द, (3) कथन होंगे और इन सबके समन्वित स्वरूप की अभिव्यक्ति किसी न किसी, (4) फारमेट की होगी। यह सत्य है कि सिद्धान्त की सर्वसम्मत परिभाषा देने में सभी विद्वान एकमत नहीं है। परिभाषा के संबंध में कई तरह की बहसें की जाती हैं। कई तरह के तर्क दिये जाते है। यह सब होने पर भी इस बात से सभी सिद्धान्तवेता सहमत हैं कि सिद्धान्त की संरचना में ये चार तत्व अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। ये तत्व ही सिद्धान्त को बनाते हैं।

1.02 तथ्य और अवधारणाएँ

दुर्खीम ने समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों का अध्ययन कह कर परिभाषित किया हैं दुरुखी ने सामाजिक तथ्य की व्याख्या सामाजिक दृढ़ता के संदर्भ में की है। उनके अनुसार सामाजिक तथ्य वह है जिसका व्यक्ति पर दबाव (Constrain) होता है। व्यक्ति चाहे या न चाहे उसे इस दबाव को सहने के लिये बाध्य होना पड़ता है। तथ्य की दूसरी विशेषता है उसकी

बाध्यभिमुखता (Exterioty) अर्थात वे किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं वरन् समाज की वास्तविकता है। समाज द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, परम्परा से बने/बनाये जाते है। अत: इनके बारे में सोचने की आवश्यकता व्यक्ति को नहीं होती। अर्थात् ये व्यक्ति की सोच के बाहर है। दुर्खीम के अनुसार ये तथ्य वास्तविकताएँ हे और व्यक्ति इन्हें स्वीकारने के लिये बाध्य होता है। टालकट पारसंस के अनुसार तथ्य का वास्तविक होना आवश्यक नहीं है। इसकी कसौटी तो इसका परीक्षण है। परीक्षण में तथ्य खरा भी उतर सकता है और खोटा भी। खरा हो या खोटा तथ्य तो तथ्य ही है। इसी कारण पारसंस कहते हैं कि सार रूप में तथ्य प्रघटनाओं के बारे में एक कथन जिसका आनुभावकिता के क्षेत्र में परीक्षण होना आवश्यक है। पारसंस के अनुसार इसलिये तथ्य के दो लक्षण है. 1. प्रघटना के बारे में कथन और, 2. इस कथन का आनुभाविक संदर्भ में परीक्षण। किसी भी सिद्धान्त की आंतरिक तह में या उसके बीज में मौलिक वस्तु तथ्य है। अवधारणा एक से अधिक तथ्यों के मिलने से बनती है। एक अवधारणा में एक से अधिक और आपस में तार्किक रूप से मिले जुले तथ्य होते हैं। ये सब तथ्य जो समान धर्मी होते हैं, अवधारणा बनाते हैं। माता -पिता पद एक अवधारणा है।

1.03 चर

चर का मतलब है वह वस्तु जो चलायमान है, यानि परिवर्तनशील है। विधिशास्त्र में इस पद का प्रयोग सर्वाधिक होता है। किसी भी चर के कुछ निश्चित गुण होते हैं जैसे कि आकार, अंश, गहनता, तादाद इत्यादि। उदाहरण के लिये हम समूह चर को प्रयोग में लाते हैं। अब प्रश्न उठता हे कि समूह का आकार क्या है, उसमें कितने लोग हैं, वह कितना बड़ा या छोटा है। फिर हम देखते हैं कि समूह की गहनता क्या है, उसमें कितनी एकता या सहयोग है। इस भांति जब चर का प्रयोग किया जाता है तो वैज्ञानिक दृष्टि से इसके सभी गुणों की व्याख्या की जाती है। घटनाओं को समझने के लिये चर की व्याख्या अनिवार्य है।

किसी भी सिद्धान्त के मूल में चरों का प्रयोग होता है। ये चर बदलते रहते हैं और सिद्धान्त में इन चरों के पारस्परिक तार्किक सम्बन्धों को देखा जाता है। दुर्खाइम का सामाजिक सुदृढ़ता का सिद्धान्त सावयवी और यांत्रिक समाजों के प्रकारों पर निर्भर है। सावयवी और यांत्रिक पद चर है और सिद्धान्त निर्माण में चरों की व्याख्या वैज्ञानिक रूप से होनी चाहिये।

1.04 कथन

सिद्धान्त में अवधारणाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई होनी चाहिये। अवधारणाओं का यह जोड़ या उनका पारस्परिक सम्बन्ध सैद्धान्तिक कथन है। अवधारणाओं के बीच में जो तार्किक सम्बन्ध होता है उसका वाक्य रूप में प्रस्तुतिकरण ही सैद्धान्तिक कथन है। टर्नर ने किसी भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के उपागम में इन कथनों की निर्णायक भूमिका बतायी है।

1.05 फॉरमेट

जब हम सैद्धान्तिक कथनों को एक समूह में रख देते हैं तो यह कथन फॉरमेट कहलाते हैं वास्तव में, फॉरमेट सिद्धान्त को किसी निश्चित योजना में रखने की एक विधि है। सिद्धान्त प्रस्तुत करने के फॉरमेट या तरीके कई प्रकार के है। इसमें एक फॉरमेट स्वयं सिद्ध

(Axiomatic) कथन है। इस तरह के कथन पूरी तरह से अमूर्त होते हैं और अपनी परिभाषा से ही इन्हें सत्य माना जाता है। इस तरह के स्वयंसिद्ध कथनों में परिक्षण की कोई गुंजाइश नहीं होती। मनुष्य मरण धर्मी है यह एक स्वयं सिद्ध कथन है और इसे सभी मान कर चलते हैं। स्वयं - सिद्ध सिद्धान्त के फॉर्मेट का बहुत बड़ा लाभ यह है कि अत्यधिक अमूर्त होने के कारण इसे विशाल समाज पर लागू किया जा सकता है। दूसरा इन स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों से प्राक्कल्पनाओं का निर्माण सहजता से किया जा सकता है।

सैद्धान्तिक कथनों के फॉरमेट का दूसरा प्रकार आनुभविक है जिसमें हम दो या दो से अधिक चरों में सम्बन्ध देखते है। स्वयं सिद्ध सिद्धान्त की तुलना में फॉरमेट का यह प्रकार अधिक -अमूर्त नहीं होता। वैज्ञानिक सिद्धान्त में, फॉरमेट का यह स्वरूप विवादास्पद है। इसकी बहुत बड़ी कमजोरी यह है कि चरों के सम्बन्ध अनिवार्य रूप से तार्किक या कार्य -कारण रूप से जुड़े नहीं होते। इसकी आलोचना में यहाँ तक कहा जाता है कि किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त में कार्यकारण का होना आवश्यक नहीं है। कोहेन (Cohen) तो इन दोनों तर्कों को अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि यदि कोई सिद्धान्त परिपक्व है तो उसमें कार्य -कारण होने अनिवार्य है।

टर्नर ने फॉरमेट के उपागम को चार श्रेणियों में रखा है। फॉरमेट का पहला प्रकार अधि सैद्धान्तिक रूपरेखा (Meta -Theoretical Schemes) का है।इसमे सैद्धांतिक गतिविधि विशालकाय होती है। इस तरह के सिद्धान्तों में उन मुद्दों को सम्मिलित किया जाता है जो बुनियादी मुद्दे हैं और जिनके बारे में सिद्धान्त को ध्यान देना चाहिये। इस तरह के अधिसिद्धान्त किसी भी समाज विज्ञान की रीढ़ है।

टर्नर ने सिद्धान्त फॉरमेट के दूसरे प्रकार को विश्लेषणात्मक विन्यास (Analytical Schemes) कहा है। इस तरह के विन्यास में प्रत्येक तथ्य और अवधारणा का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। हरेक अवधारणा के कुछ बुनियादी गुण होते हैं। इन गुणों के आधार पर अवधारणाओं का वर्गीकरण किया जाता है। और फिर इस वर्गीकरण के आधार पर समाज की व्याख्या के लिये विश्लेषणात्मक परियोजनाएँ बनायी जाती है। टर्नर ने फॉरमेट का तीसरा प्रकार प्रस्तावमूलक विन्यास (Propositional Scheme) कहा है। इस तरह के सिद्धान्तों में अमूर्तीकरण बहुत अधिक होता है। एक प्रकार से यह फॉरमेट काम चलाऊ होता है। इसी कारण इसे प्रस्ताव मूलक विन्यास कहते हैं।

फॉरमेट का चौथा प्रकार प्रतिरूपण रूपरेखा (Modelling Format) है। मॉडल द्वारा सामाजिक घटनाओं को व्यवस्थित रूप से रखा जाता है। इस तरह के मॉडल आनुभविक घटनाओं के समझने में सहायक होते है। यहाँ यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिये कि मॉडल सिद्धान्त नहीं है। लेकिन सिद्धान्त बनने की पूर्व अवस्था अवश्य है।

1.06 सिद्धान्त

कोई भी सिद्धान्त हो, उसकी एक निश्चित संरचना होती है। इस संरचना में तथ्य अवधारणा, चर, कथन और फॉर्मेट का कोई न कोई स्वरूप अवश्य होता है। हम संघर्ष सिद्धान्त या घटना विज्ञान, किसी भी सिद्धान्त की चर्चा करें, इसमें इन चार तत्वों का समावेश अवश्य

होता है। ये चार तत्व तो सिद्धान्त -भवन निर्माण के पत्थर है। हम सिद्धान्त की व्याख्या किसी भी संदर्भ में करें, किसी भी वैचारिकी में देखे इन संरचनात्मक तत्वों का होना आवश्यक है।

1.07 अवधारणा एवं सिद्धांत

मैकाइवर एवं पेज का यह मानना है कि प्राथमिक अवधारणाएँ किसी भी विज्ञान की नींव की ईंटों के समान है। अर्थात वैज्ञानिक शब्दावली या अवधारणाओं का यह कार्य है कि वह आम भाषा की अनिश्चितता को वैज्ञानिक संदर्भ की निश्चितता में बदल दे। विवरणात्मक अवधारणाओं का यह कार्य है कि कथनों की विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत करें। अमूर्तीकरण की प्रक्रिया में इन विशेषताओं को चरों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अवधारणाओं की प्रकृति अमूर्त है क्योंकि यह आनुभविक मूर्त विशेषताओं के आधार पर निर्मित है यह ऐतिहासिक नहीं है न ही व्यक्तिगत घटनाओं पर आधारित है। जेटरवर्ग ने अवधारणा और वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है कि यह वस्तु पर आधारित अनुभवों का अमूर्तीकरण है। अवधारणा निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण बात है परिभाषित किया जाना। अर्थात् भाषा गत रूप से वस्तु या तथ्यों को एक निश्चित अर्थ या सुनिश्चितता प्रदान करना अवधारणाओं का कार्य है। परिभाषाएँ भी भिन्न -भिन्न प्रकार की हो सकती है पहली वास्तविक व दूसरी नामात्मक (Nominal) और अन्य प्रकार है उपमा पर आधारित आंशिक सादृश्यता (Analogues Definitions) व प्रकार्यात्मक अवधारणा।

वास्तविक परिभाषाएँ प्रस्तावों की प्रकृति में निहित है और वे उपकल्पना निर्माण में सहायक है। क्योंकि वे सत्यता पर आधारित है (Truth ascertaining definitions) वास्तविक परिभाषाओं का दूसरा रूप (Ideal Type) या आदर्श प्रारूप है जो कि अवधारणाओं के निर्माण की एक पद्धति मानी जा सकती है। मैक्स वेबर Ideal Type को अवधारणात्मक अमूर्तिकरण की संज्ञा देता है जो कि औसत से भिन्न है। Ideal Type आदर्श प्रारूप भी नहीं है और न ही वह गणितीय मात्रात्मक अवधारणा है। यह इतिहास से भी भिन्न है यद्यपि यह वास्तविकता पर आधारित विशेषताओं का अमूर्तीकरण है। यह विशिष्ट (Typical) या अनूठी (Unique) अवधारणा भी नही है। वास्तव में (Ideal type) आदर्श प्रारूप अवधारणाओं के माध्यम से एक निर्मित सामान्यीकरण है। जो अनुभवजन्य तथ्यों द्वारा निर्मित है। इस अर्थ में व्यक्तिगत अनुभव से भिन्न है जिसमें अन्त: वैषयिकता है (Intersubjectivity) जो सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा निर्धारित होता है। (1) इस प्रकार अवधारणाएँ अमूर्त है। (2) सिद्धान्त निर्माण व प्रस्ताव निर्माण की नींव की ईंटें हैं। (3) वे एकक इकाई Unitary है। (4) वे स्पष्टत व सही ढंग से कहा हुआ कथन है (Clarity and Precision) (5) ये कसी विशिष्ट प्रघटना से संबंधित है। (6) इनमें प्रयोग की साम्यता है।

अवधारणा और सिद्धान्त में सम्बन्ध

कोई भी अवधारणा तर्क पूर्ण है या नहीं इसका परीक्षण करने हेतु एक सिद्धान्त मे कई अवधारणाएँ मिलकर प्रस्ताव निर्मित करती हैं और अनेक प्रस्ताव मिलकर जो कि परस्पर तर्कपूर्ण रूप से अंत: सम्बन्धित होते हैं और सिद्धान्त का निर्माण करते है। ये सिद्धान्त आगमनात्मक हो सकते है, निगमनात्मक हो सकते हैं या दोनों का मिलित रूप Retro -

deductive theory के रूप में हो सकते । आगमनात्मक सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण है जो कि प्रकार्यात्मक अवधारणाओं द्वारा निर्मित है और निगमनात्मक सिद्धान्त सामान्य से विशिष्ट तथ्यों के पूर्वानुमान की प्रक्रिया पर आधारित है। संक्षेप में सिद्धान्त तर्कपूर्ण रूप से परस्पर अत:सम्बन्धित प्रस्तावों की एक व्यवस्था है जिसका क्षेत्र विशिष्टता से सामान्यता तक विस्तृत हो सकता है। जिसमें अमूर्तता है और जो निगमनात्मक व्यवस्था को निर्मित करती है एवं जिसका सत्यापन साम्यता के नियम के आधार पर संभव है। साम्यता का नियम संबंध पर आधारित है। किसी भी विषय या क्षेत्र के बारे में सिद्धान्त एक व्याख्या निगमनात्मक व्यवस्था पर आधारित करके प्रस्तुत करती है और यही व्याख्या उस विषय के बारे में भविष्यवाणी प्रस्तुत करने में मदद करती है। किसी भी सिद्धान्त में इस अर्थ में अवधारणाओं की एक व्यवस्था पाई जाती है। यह अवधारणाएँ व्याख्यात्मक हो सकती है या कार्यमूलक (Operactive) (कुछ अवधारणाएँ मौलिक या आदिम हो सकती है और कुछ निर्मित) अभिधारणा (Postulates) अवधारणाओं से निर्मित होते हे। सिद्धान्त निर्माण के लिये अवधारणाओं की एक Scheme या विन्यास का होना आवश्यक है किन्तु यह अपने आप में एक सिद्धान्त नहीं है।

अवधारणाएँ किसी भी क्षेत्र प्रघटना की प्रकृति की जानकारी देती है। इस प्रकार एक प्रस्तावों की व्यवस्था निर्मित होती है जो उस क्षेत्र की विभिन्न विशेषताओं या तत्वों के मध्य अन्त: सबंधी की व्याख्या करती है ये प्रस्ताव एक निगमनात्मक व्यवस्था निर्मित करती है।

कुछ प्रस्ताव आनुभाविक रूप से प्रासंगिक होते हैं। जिसकी सत्यता की परीक्षा संभव है। कुछ प्रस्ताव उच्च श्रेणी के होते हैं और कुछ निम्न श्रेणी के। उच्च श्रेणी के प्रस्ताव अधिक सामान्य निष्कर्ष प्रदान करते है वनिस्पत निम्न श्रेणी के प्रस्तावों के । सिद्धान्त में दोनों ही प्रकार के प्रस्ताव निहित होते हैं एवं सिद्धान्त एकाधिक प्रघटना की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

किसी भी सिद्धान्त की शक्ति इस बात में निहित है कि उससे विस्तृत आनुभाविक प्रस्तावों को भिन्न -भिन्न अवस्थाओं में रखकर निर्मित या derive किया जा सकता है। यही कारण है कि उनको उच्च श्रेणी के प्रस्तावों की संज्ञा दी जाती है।

कोई भी सैद्धान्तिक व्यवस्था सम्पूर्ण नहीं होती यह सदैव ही उच्च धरातल पर खुली (open) होती है और उच्च श्रेणी के प्रस्तावों को अन्य प्रस्तावों से भी निर्मित किया जा सकता हे।

प्राकृतिक विज्ञानों में सिद्धान्त की प्रकृति एक प्रकार की है एवं समाज विज्ञानों में भिन्न प्रकार की किन्तु सिद्धान्त की प्रकृति सार्वभौमिक है। और सिद्धान्त का यह प्रमुख कार्य है कि वह प्रघटना की व्याख्या द्वारा भविष्यवाणी कर सकने में मदद करता है। इन कथनों को भी तीन प्रकार से देख सकते हैं । पहला तर्कयुक्त कथन, द्वितीय मौलिक सैद्धान्तिक (Principal) कथन और तृतीय सामान्य कथन । ये कथन सिद्धान्त नहीं है किन्तु सिद्धान्तों के लगभग करीब (Approximate) है। उप सार्वभौमिक कथन है और (Explicandum) भविष्यवाणी कर सकने योग्य कथन सिद्धान्त निर्माण की विशेषता है।

सिद्धान्त तथ्यों द्वारा निर्मित होते हैं किन्तु सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों से संबंधित नहीं होते तथ्य तर्कपूर्ण रूप से परस्पर अर्तसम्बन्धित होने चाहिये । जब इन तथ्यों को

चर के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। तथ्य अपने आप में सिद्धान्त नहीं बन जाते। तथ्यों का सारणीयण करके वर्गीकरण कर परस्पर अर्तसम्बन्धित कथनों के योग से सिद्धान्त निर्मित होते है जो कि तर्कपूर्ण रूप से व्यवस्थित किये जाते है और जिनका परीक्षण संभव है। किन्तु सिद्धान्त हमेशा तथ्यों से ही निर्मित हो यह आवश्यक नहीं है। यह कथन मानसिक निर्मित संरचना में भी निहित हो सकते हैं। जिनको तत्पश्चात वास्तविक परिस्थितियों में परस्पर अर्त:सम्बन्धित तर्कपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी भी कथन में Subject' व 'Predicate' का होना आवश्यक हे जो विश्लेषणात्मक कथन के रूप में हो सकते हैं या आनुभाविक कथन के रूप में जिनको तर्कपूर्ण रूप से या गणितीय रूप से स्थापित किया जा सकता है। 'Calculus of abstraction' को वैज्ञानिकों ने निगमनात्मक व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया हे जिसमें सांकेतिक जोड तोड़ (manipulation) के नियम को लागू किया जा सकता है। नवीन कल्पनाओं को निर्मित कर सिद्धान्तों को सही या गलत प्रमाणित किया जा सकता है। इसीलिये विज्ञान को स्वयं को झुठलाने की प्रक्रिया कहा गया है। इसलिये वैज्ञानिक सिद्धान्त की एक प्रक्रिया है सृजनात्मकता (Creativity)।

1.08 विज्ञान, सिद्धान्त और तथ्य

विज्ञान को क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है। किन्तु यह विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा नहीं है। वास्तव में विज्ञान एक पद्धति है जिसमें आनुभाविक रूप से या निरीक्षण द्वारा या अनुभव द्वारा वस्तुओं की प्रकृति को जाना जा सकता है। विज्ञान अंतिम सत्य की खोज नहीं है न ही यह रूपान्तरण (Conversion) में विश्वास है। बल्कि विज्ञान कार्य कारण की शर्तो द्वारा लागू होता है और विज्ञान के सिद्धान्त नवीन प्रयोगों द्वारा परिवर्तित व संशोधित होते रहते हैं।

विज्ञान का मुख्य आधार तथ्य है। वैज्ञानिक तथ्य को अनुभव द्वारा प्रमाणित निरीक्षण मानता है।

सिद्धान्त के कार्य

सिद्धान्त विज्ञान का एक साधन हे क्योंकि:

1. यह विज्ञान की प्रमुख अभिरूचियों (Orientations) को परिभाषित करता है। अर्थात किस प्रकार के आँकडों का अमूर्तिकरण किया जाना है यह परिभाषित करता है।
2. यह एक अवधारणाबद्ध योजना प्रस्तुत करता है जिससे कि विषय से संबंधित क्षेत्र की योजना, वर्गीकरण एवं तथ्यों का आपसी सम्बन्ध निश्चित होता है।
3. यह तथ्यों का सार प्रस्तुत करता है जो कि अनुभव द्वारा प्रमाणित तथ्यों का सामान्यीकरण है। सामान्यीकरण की एक क्रमबद्ध योजना है।
4. यह तथ्यों की पूर्व सूचना या भविष्यवाणी करने में मदद करता है और अंत में यह हमारे ज्ञान की कमियों या दरारों की ओर इंगित करता है।

दूसरी ओर तथ्य भी सिद्धान्त निर्माण में सहायक है।

1. वे सिद्धान्तों की उत्पत्ति में सहायक है।
2. ये पूर्व स्थापित सिद्धान्त को नवीन रूप में प्रस्तुत करने में सहायक है।

3. उन सिद्धान्तों को जो कि तथ्यों के अनुरूप सही नहीं है उनको नकारने में मदद करते है।
4. तथ्य सिद्धान्तों को पुन: परिभाषित करने एवं स्पष्टता लाने में मदद करते हैं।

अर्थात जो कुछ हम आनुभविक प्रसंगों और घटनाओं को देखते हैं उनमें हमें बराबर समानताएँ मिलती हैं। सिद्धान्त की पदावली में इन्हें हम आनुभाविक समुरूपताऐं कहते है (Empirical Uniformities)। जो कुछ जनजीवन में, आनुभाविक दुनिया में, एक बार नहीं बार -बार देखा अनुभव किया वह एक सामाजिक नियम बन गया। इसी आनुभाविक समरूपता ने तथ्य के रूप में सिद्धान्त के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा की। उदाहरणार्थ दुर्खीम ने देखा कि यूरोप में आत्म -हत्याएँ सर्दी के मौसम की अपेक्षा गर्मी में अधिक होती है। आगे उन्होंने देखा कि प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों की तुलना में कैथोलिक धर्मावलम्बियों में आत्म हत्याएँ अधिक होती हैं। फिर उन्होंने अवलोकन किया कि पारिवारिक सदस्यों की तुलना में एकाकी व्यक्ति में आत्म हत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। तब उन्होंने नियम बनाया कि व्यक्ति जितना अधिक समूह या समाज से पृथक रहेगा उतनी ही अधिक उसकी आत्म हत्या करने की सम्भावना है। दुर्खीम का यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से आनुभाविक अनुसंधान के सिद्धान्त पर पड़ने वाला प्रभाव है।

इसी प्रकार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त भी आनुभाविक अनुसंधान को प्रभावित करता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्राकल्पनाएँ बनाने में सहायक होते है। ये सिद्धान्त ही नये सिद्धान्तों के निर्माण में मार्गदर्शक होते हैं। रेडक्लिफ ब्राउन और मैलिनोवस्की ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कोई भी प्रकार्य समाज की किन्ही आवश्यकताओं को पूरा करते है। ये प्रकार्य अपरिहार्य है। रार्बट मर्टन ने मानवशास्त्रीय प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता को स्थापित किया। यह स्थापना आदिवासी समाज के आनुभाविक अनुसंधान पर आधारित थी। रार्बट मर्टन ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि कोई भी प्रकार्य अपरिहार्य नहीं हैं। किसी भी समाज या व्यक्ति को प्रकार्यो के अगणित विकल्प उपलब्ध है - जो विकल्प उसे रास आये अपना सकता है। अर्थात् आनुभाविक अनुसंधान समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को प्रभावित करते हैं। उसमें संशोधन करते हैं। वहां समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभाविक अनुसंधान को पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं। अर्थात दोनों में अन्योन्यन्ता यानि पारस्परिकता है।

किसी भी विषय के शोध कार्यो द्वारा उस विषय के स्थापित सिद्धान्तों की सबलता का आकलन किया जा सकता है। सिद्धान्त और शोध में न केवल सहसम्बन्ध है बल्कि समानुपाती संबंध भी देखने को मिलता है। सिद्धान्त द्वारा शोध को बढावा मिलता है। जबकि पूर्व स्थापित सिद्धान्तों की प्रभाविकता की पुष्टि शोध द्वारा की जाती है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त और आनुभविक अनुसंधान : एक विवाद

सिद्धान्त और अनुसंधान के पारस्परिक संबंधों को लगभग सभी ज्ञान शाखाएँ स्वीकार करती हैं। आदर्श रूप में सिद्धान्त आनुभविक अनुसंधान के लिये सशक्त समस्याओं का सुझाव देते है दूसरी ओर आनुभविक अध्ययन से जो कुछ उपलब्धियाँ होती है उन्हें सैद्धान्तिक व्यवस्था में जोड़ दिया जाता है।

किन्तु सिद्धान्त और आनुभविक अध्ययन को कुछ समाजशास्त्रीय विचारक अलग - अलग श्रेणी में रखते है। मेक्स वेबर ने सिद्धान्तवेताओं को व्याख्या विशेषज्ञ कहा और

आनुभविक अनुसंधानकर्ताओं को विषय सामग्री विशेषज्ञ के नाम से परिभाषित किया है। श्री राइट मिल्स सिद्धान्त को भव्य सिद्धान्त और आनुभविक अनुसंधान को अनुभाविक अमूर्तता कहते हैं। वेबर और मिल्स के अनुसार सिद्धान्त का स्थान अलग है और आनुभाविक अनुसंधान उससे बहुत दूर, दोनों में कोई पारस्परिकता नहीं।

व्यवस्थित रूप से सबसे पहली बार रार्बट मर्टन ने इस विवाद को अपनी कृति में प्रस्तुत किया । उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा कि सिद्धान्त व अनुसंधान का सम्बन्ध चोली दामन के सम्बन्ध जैसा है। सिद्धान्तों की कोई चर्चा आनुभाविकता के संदर्भ के बिना बेमतलब है और इसी तरह आनुभविक अनुसंधान का कोई विवरण सिद्धान्त के संदर्भ के बिना अर्थहीन है। दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू हैं, एक पहलू को दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता ।

1.09 आनुभविक अनुसंधान में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की भूमिका

मर्टन ने सिद्धान्त और अनुसंधान की जिस पारस्परिकता को प्रस्तुत किया है इसका हम यहां विश्लेषण देंगे ।

(1) सिद्धान्त आनुभविकता के प्रति सामान्य अनुकूलन स्थापित करता है

जब कोई अनुसंधानकर्ता आनुभविक अध्ययन के लिये क्षेत्र में पहुंचता है तो उसे क्षेत्र की समस्याओं की जानकारी सबसे पहले सिद्धान्तों के अध्ययन से ही होती है। यह बहुत सामान्य बात है। जब कोई अनुसंधानकर्ता प्रकल्प (Project) बनाता है तो अपनी समस्या का उल्लेख करने से पहले वह अनिवार्य रूप से समस्या से सम्बन्धित जो भी सिद्धान्त है, उनका एक विश्लेषण देता है। विश्लेषण से उसे ज्ञात हो जाता है कि अमुक विषय में कौन से मुद्दे, प्रसंग और समस्याएँ विचाराधीन हैं। इन समस्याओं में कौन सी बहस चल रही है। यह सारा सर्वेक्षण उसे अध्ययन की समस्या को परिभाषित करने में सहायक होता है।

सिद्धान्त के माध्यम से हम महत्वपूर्ण प्राक्कल्पनाओं का निर्माण कर सकते हैं। सिद्धान्त के माध्यम से ही हम उपयोगी चरों और अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकते है। यह सिद्धान्त द्वारा ही है कि आनुभविक अध्ययन में हम विविध विषयों और समस्याओं को विस्तृत अध्ययन के लिये लेते हैं। सिद्धान्त तो अध्ययन के लिये कई घटनाओं, प्रसंगों आदि को प्रस्तुत करता है, लेकिन अनुसंधान कर्ता तो अपनी रूचि के अनुसार प्रसंगों ओर घटनाओं को अध्ययन के लिये ले लेता है। होमन्स का कहना है कि चाहे समाजशास्त्र में सही अर्थों में कोई सिद्धान्त न हो तो भी आनुभविक अनुसंधानकर्ता कुछ प्रस्तावों (Proposition) के आधार पर ही अपने आपको समस्याओं के प्रति अभिमुख कर सकता है।

(2) सिद्धान्त समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को विकसित करने में सहायक होता है

किसी भी सिद्धान्त का बुनियादी तत्व उसकी अवधारणाएँ (Concepts) होती है। अवधारणाओं के माध्यम से ही हम चरों को निश्चित करते हैं, उन्हें परिभाषित करते है। उदाहरण के लिये दुर्खाइम ने सामाजिक तथ्य की व्याख्या और उसके प्रकारों को भली प्रकार परिभाषित किया है। आनुभविक अनुसंधानकर्ता सामाजिक तथ्य की अवधारणा के सहारे अपने अनुसंधान को आगे बढ़ाता है। पारसंस ने 'पैटर्न वेरीयबल्स' (Pattern Variables) के आदर्श प्रारूप को रखा है। यह प्रारूप अवधारणाओं को परिभाषित करता है। संक्षेप में, हमें यही कहना

है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अवधारणाओं को विवेचनात्मक रूप से परिभाषित करते हैं। जबकि आनुभविक अनुसंधान अवधारणाओं की काम चलाऊ परिभाषाएँ देता है। काम चलाऊ परिभाषाओं का निर्माण निश्चित रूप से सिद्धान्तों के द्वारा ही संभव है।

(3) सिद्धान्त घटनोत्तर समाजशास्त्रीय निर्वचन में सहायक होते है

सामान्यतया अनुसंधानकर्ता आनुभविक क्षेत्र में तथ्यों को एकत्र करता है और इसके बाद उनका निर्वचन करता है। इस तरह की प्रक्रिया नई प्राप्तियों की व्याख्या में सहायक होती है, यद्यपि इसमें पहले से निश्चित की गई या बनाई हुई कोई प्रकल्पनाएँ नहीं होती। इस पद्धति के साथ एक कठिनाई भी है और वह यह कि जब एकत्र किये गये तथ्य सिद्धान्त से मेल नहीं खाते तो हम प्राय: तथ्य एकत्र करने की विधि को दोष देते है। अत: हम या तो विधि को दोष दें अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों अनुरूप निर्वचन प्रस्तुत करें।

घटनोत्तर निर्वचन की इस कठिनाई के होते हुए भी कुछ समाजशास्त्री जिनमें होमन्स अग्रणी हैं, इस प्रक्रिया से प्रसन्न हैं और वे इस विधि के प्रशंसक है। उनका कहना है कि घटनोत्तर निर्वचन के माध्यम से हम आगनमनात्मक तरीके से निगमनात्मक व्यवस्था तैयार करते हैं। यह इस प्रक्रिया द्वारा ही संभव है कि हम सिद्धान्त की सहायता से आनुभविक उपलब्धियों को व्यवस्थित रूप से संगठित करते हैं। जोन्स के अनुसार घटनोत्तर निर्वचन की विधि कुछ इस तरह है सबसे पहले हम तथ्यों के आधार पर आनुभविकता सामान्यीकरणों को बनाते हैं। हो सकता है कि इस तरह के सामान्यीकरण हमारे पास बहुत बड़ी तादाद में हो जायें। तब हम ऐसी प्रक्रिया अपनाते हैं जिसके द्वारा अप्रासंगिक सामान्यीकरण जिनका अध्ययन के मुद्दे से निकट का भी सरोकार नहीं होता हटा देते है। तदुपरान्त शेष सामान्यीकरणों को परिभाषित करते हैं और उनकी तुलना ऐसे ही प्रस्तावों से करते हैं। अब हम ऐसी स्थिति में आ जाते हैं जब कुछ उच्च स्तर के प्रस्ताव (Higher Level Propositions) तैयार कर लेते हैं। इस प्रकार के आनुभविक अवलोकन का विधिवत संकेतीकरण (Codification) सिद्धान्त के माध्यम से ही हो सकता है और यही घटनोत्तर निर्वचन है।

(4) सिद्धान्त द्वारा ही हम आनुभविक सामान्यीकरणों का निर्माण कर पाते है

किसी भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त की आनुभविक अनुसंधान में एक निर्णायक भूमिका यह भी है कि हम इसके द्वारा विभिन्न चरों के शेष में पाये गये सम्बन्धों को एकरूपता में रख पाते हैं। ये एक रूपता वाले चर बाद में चलकर अवधारणात्मक रूपरेखा में प्रस्तुत किये जाते हैं। यह भी संभव है कि तथ्य सम्पूर्ण सिद्धान्त को नकार दें, अस्वीकार कर दें। यह भी संभव है कि तथ्यों के कारण सिद्धान्त में संशोधन हो जाये और ऐसा भी हो सकता है कि तथ्य नये सिद्धान्त का निर्माण करने में सहायक हो जाये। स्टाउफर (Stoufer) द्वारा द अमेरीकन सोल्जर के लिये एकत्र तथ्यों ने मर्टन को संदर्भ सिद्धान्त (Reference Theory) के निर्माण के लिये प्रेरित किया।

पारसंस की निश्चित धारणा है कि यह सिद्धान्त द्वारा ही संभव है कि हम विश्वसनीय आनुभविक सामान्यीकरणों का निर्माण कर सकते हैं। तथ्यों की सुंदरता इसी में है कि वे अवधारणाओं और चरों के बीच के सम्बन्धों को बतायें और यह तभी संभव है जब हम तथ्यों को सिद्धान्त के नजरिये से देखते है।

(5) सिद्धान्त से ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का विकास होता है

यह इसी कारण है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त न केवल आनुभाविक अनुसंधान में मार्गदर्शन प्रदान करता है। वरन इस तरह का मार्गदर्शन नये सिद्धांतों को जन्म भी देता है। नये सिद्धान्त प्रत्येक आनुभविक अनुसंधान के परिणाम नहीं होते, यह सभी स्वीकार करते हैं। यह होते हुये भी मानना पडेगा कि नये सिद्धान्त भले न बने, जो कुछ सिद्धान्त है वे सुस्पष्ट हो जाते है, उनमें निर्णायक शक्ति आ जाती है और उनकी विश्वसनीयता बढ़ जाती है।

रोबर्ट के.मर्टन के अतिरिक्त पारसंस ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि किसी भी ज्ञान शाखा में सिद्धान्त की भूमिका आनुभविक अनुसंधान के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। सिद्धान्त की इस भूमिका को जो आनुभविक अध्ययन के लिये प्रासंगिक है, पारसंस लिखते है:

विविध आनुभविक तथ्य सिद्धान्त द्वारा व्यवस्थित किये जाते है।

जब कोई अनुसंधानकर्ता आनुभविक क्षेत्र में कदम रखता है तो उसे चारों ओर विविधता देखने को मिलती है। जहां तक उसका हाथ पहुँचता है जहां तक उसकी रणनीति काम करती है जितने भी तथ्य उसे उपलब्ध हो सकते हैं, उन्हें वह अपनी झोली में डाल लेता है। तथ्यों की इस झोली को जब वह सिद्धान्त के संदर्श में देखता है तो उसे लगता है कि कई ऐसे अप्रासंगिक तथ्य हैं जिन्हें उसने एकत्र कर लिया है। ऐसे तथ्यों को शायद उसे फैंक देना पड़े। उसे यह भी विश्वास हो जाता है कि कुछ ऐसे तथ्य भी है जिन्हें उसे एकत्र करना था और उन्हें एकत्र करने में वह चूक गया।

(6) सिद्धान्त तथ्यों के चयन और संगठन में लाभदायक होता है

अनुसंधानकर्ता के पास अनुभविक तथ्यों की कोई कमी नहीं होती। वास्तव में उसके पास तथ्यों की विविधता और विशदता होती है। इन तथ्यों के इस अम्बार में से वह सिद्धान्त की सहायता से कतिपय तथ्यों को लेता है और उन्हें कार्य -कारण की रूपरेखा में संगठित करता है।

(7) सिद्धान्त के क्षेत्र में पायी जाने वाली दरारों की पहचान

पार का कहना है कि कुछ सिद्धान्तों का विन्यास उसका आकार -प्रकार यह भलीभाँति बताता है कि इसमें कुछ दरारें हैं, कमियां है, जो पूरी नहीं हो रही है। सिद्धान्त की इस कमजोरी को पूरा करने के लिये आये दिन आनुभविक अनुसंधान होते रहते है। यह दरारें ही है जो आनुभविक अनुसंधान को लाभदायक बनाती है। यदि सिद्धान्त के संदर्श को नकार कर आनुभविक अनुसंधान किया जाये तो सिद्धान्त में पायी जाने वाली दरारें कभी भरी नहीं जायेगी। किसी भी सिद्धान्त की यह भूमिका जो आनुभविक अनुसंधान में होती है निर्णायक है।

1.10 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में आनुभविक अनुसंधान की भूमिका

सृजनात्मकता इतिहास की भेंट घिसी पिटी व्यवस्था को उखाड़ फैंकती है। समाजशास्त्र के विकास के इतिहास में इसे हम देख सकते है। एक समय था जब अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया था एक समय था जब वेबर ने समाजशास्त्र का सार सामाजिक क्रिया के रूप में परिभाषित किया था एक समय था जब दुर्खीम ने समाज को सर्वोपरि रूप में रखा था। आज ये सब परिभाषाएं भूत बीते कल की बात हो गयी

हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि जहाँ इतिहास पुनरावृति करता है, वहां इतिहास बुद्धिमता और मूर्खता का खजाना है, जहाँ इतिहास संस्कृति की धरोहर है, वहीं इतिहास अपने कलेवर में कुछ नयी चीजें भी सामने रखता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो का इतिहास भी इस सृजनात्मकता से बाहर नहीं है। ज्यों -ज्यों आनुभविक अनुसंधान की गति त्वरित होती है, त्यों -त्यों सिद्धान्तों की विश्वसनीयता में भी बढ़ोतरी होती है।

(1) 'सिरेन्डीपिटी' (Serendipity) का आविर्भाव

कभी -कभी अनुसंधानकर्ता जब क्षेत्र में होता है तब ऐसे तथ्यों और प्रसंगों के साथ रूबरू होता है जिसका उसे कोई पूर्वानुमान नहीं होता । इस तरह के तथ्य कभी -कभी किसी नये सिद्धान्त को जन्म देते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आनुभविक अनुसंधान न केवल सिद्धान्त से निकाली गयी नयी प्राक्कल्पनाओं का परीक्षण ही करता है, वरन् कभी -कभी वह नयी प्राकल्पनाओं को भी जन्म देता है। इसी को रोबर्ट मर्टन "सिरेन्डीपिटी" यानि नयी खोज कहते है। यह नई खोज ऐसी होती है जिसे खोजने का प्रयास अनुसंधानकर्ता ने कभी नहीं किया था। मर्टन ने सिरेन्डीपिटी के कुछ लक्षण दिये हैं: (1) यह वह खोज है जिसका अनुसंधानकर्ता को कोई पूर्वानुमान (Unanticipated) नहीं होता, (2) यह अनियमित (Anomalous) तथ्य होता है, इस अर्थ में कि इसका प्रचलित सिद्धान्तों के साथ दूर का संबन्ध भी नहीं दिखायी देता और (3) यह तथ्य चौंकाने वाला होता है। चौंकाने वाला इसलिये कि इसके आविर्भाव की अनुसंधानकर्ता को कोई कल्पना भी नहीं थी। इन सब लक्षणों के कारण मर्टन सिरेन्डीपिटी को एक ऐसा सामान्य अनुभव कहते है जिसका कोई पूर्वानुमान नहीं, जिसकी कोई नियमितता नहीं और जो चौंकाने वाला होता है।

(2) आनुभविक अनुसंधान सिद्धान्त को नये सांचे में ढालता है

आनुभविक अनुसंधान में कुछ ऐसे उपेक्षित तथ्य होते है, जो सिद्धान्त के साथ ताल - मेल नहीं खाते लेकिन जब ये तथ्य बार -बार देखने को मिलते है तब अनुसंधानकर्ता को लगता है कि वह इन तथ्यों की अधिक उपेक्षा नहीं कर सकता। अनुसंधानकर्ता का यह अनुभव प्रचलित सिद्धान्त को नये सांचे में ढालने के लिये प्रेरित करता है। सिरेन्डीपिटी इस प्रकार की प्रक्रिया से भिन्न है। सिरेन्डीपिटी में वे तथ्य होते हैं जो सिद्धान्त के साथ मेल नहीं खाते जबकि सिद्धान्त के नये सांचे को तैयार करने वाले तथ्य वे होते हैं जिनकी अतीत में बराबर उपेक्षा होती रही है। होता यह है कि सामान्यतया अनुसंधानकर्ता तथ्य एकत्र करते समय सिद्धान्त की सीमा या उसके दायरे से बाहर नहीं जाता। इस अभिव्यक्ति के कारण या तो सिद्धान्त परीक्षण में सही उतरता है उनमें संशोधन होता है या वह नकारा जाता है। लेकिन जब उपेक्षित तथ्यों की संख्या बढ़ जाती है तब एक ऐसी अवस्था आती है जब प्रचलित सिद्धान्त को किसी नये सांचे में ढालने के लिये सिद्धान्तवेताओं को बाध्य होना पड़ता है।

(3) आनुभविक अध्ययन की नयी विधियां सैद्धान्तिक रूचि को फोकस या केन्द्रीयता प्रदान करती है।

सिद्धान्त जो कुछ भी है, अपनी जगह पर सही है। जब आनुभविक अनुसंधान में नयी विधियों को अपनाया जाता है, तब सिद्धान्त को देखने का हमारा दृष्टिकोण भी बदल जाता है।

होता यह है कि आये दिन होने वाले आनुभविक अध्ययनों के परिणामस्वरूप हमें क्षेत्र में बराबर नयी विधियों का पता लगता रहता है। इन नयी विधियों के प्रयोग से हमारे सामने कई नयी प्राकल्पनाओं उभर कर आती है। इन प्राकल्पनाओं के संदर्श में हम प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को देखते हैं तब हमें लगता है कि सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वे सिद्धान्त जो पुरानी विधियों पर बनाये गये थे अब नयी विधियों के परिणामस्वरूप कुछ दूसरे विश्लेषण देते हैं। स्पष्ट है इस तरह की प्राप्तियाँ आनुभाविक अध्ययन की नयी विधियों के कारण ही हैं।

(4) आनुभविक अनुसंधान अवधारणाओं को सुस्पष्ट करता है

आनुभविक अनुसंधान और सिद्धान्त के बीच में जो रिश्ता है इसका बहुत बड़ा पक्ष यह है कि आनुभविक अनुसंधान सिद्धान्त में प्रयुक्त अवधारणाओं को स्पष्ट करता है, उन्हें मानता है। बात यह है कि जब तब अवधारणाएं आनुभविक भूमि से सटकर नहीं रहती, उनकी विश्वसनीयता कमजोर हो जाती है। इसलिये आनुभविकता जितनी अपनी भूमि से जुड़ी होगी यानि आनुभविकता से बनी होगी उतनी ही वे विशुद्ध और खरी होगी । इन अवधारणाओं को मांजने का काम, बार -बार साम पर चढ़ाने का काम आनुभविक अनुसंधान ही करता है।

सिद्धान्त और आनुभविक अध्ययन की पारस्परिकता पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इस पारस्परिकता के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। इस विवाद से थोड़ा हटकर कहें तो कहना चाहिये कि सिद्धान्त और आनुभविक अनुसंधान निश्चित रूप से एक -दूसरे पर निर्भर है। अकेला सिद्धान्त आनुभविक अनुसंधान वे अभाव में कमजोर हो जायेगा और इसी तरह आनुभविक अनुसंधान भी सिद्धान्त के मार्गदर्शन बिना क्षेत्र में अपनी दिशा बनाये नहीं रख सकेगा। दोनों एक -दूसरे से जुडे हुए हैं - दोनों में लेन -देन है।

1.11 सारांश

विद्वान सिद्धान्त की परिभाषा में एकमत नहीं है। उनकी विविधता के होते हुए भी सभी यह स्वीकार हैं कि सिद्धान्त में आनुभविक समरूपता के आधार पर दो या दो से अधिक अवधारणाओं में तार्किक सम्बन्ध जाता है, जिसका क्षेत्र में परीक्षण कोई भी व कहीं भी कर सकता है। सिद्धान्त बने बनाये उपलब्ध नहीं उनके निर्माण करने की एक निश्चित प्रक्रिया होती है। सिद्धान्त की बंधी हुई गठरी को कोई उघाड़े तो उसमें हमें अवधारणाएं, चर, बयान और फॉर्मेट एक -दूसरे से जुड़े हुए मिलेंगे ।

सिद्धान्त के कुछ निश्चित लक्षण होते है। सिद्धान्त की प्रकृति आनुभविक -तार्किक होती है। इसमें अवधारणाएँ सुस्पष्ट और पूरी तरह से परिभाषित होती है। सिद्धान्त गतिहीन नहीं होते, उनमें तथ्यों और अवधारणाओं के बदलाव के साथ बराबर परिवर्तन आता रहा है। अत: सिद्धान्त की आधारशिला तथ्य होते हैं।

सिद्धान्त का उद्देश्य समाज की वास्तविकता को जानना होता है, उसके रूबरू होना होता है। अत: सिद्धान्त समाज की इस वास्तविकता को जानना अपनी प्राथमिकता लक्ष्य मानता है। यदि सिद्धान्त भरोसेमन्द है तो हमें समाज की भविष्य में होने वाली गतिविधियों का पूर्वानुमान हो जायेगा।

1.12 बोध प्रश्न

1. सिद्धान्त निर्माण के मूल आधार क्या हैं? तथ्य, अवधारणा एवं सिद्धान्त के मध्य अंत:सम्बन्ध की विवेचना कीजिये?
2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो की वैज्ञानिक प्रकृति की व्याख्या कीजिये । आनुभाविक अनुसंधान में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की भूमिका की विवेचना कीजिये ।

1.13 संदर्भ ग्रंथ

1. Abraham, M.Francis; Modern sociological theory. Oxford university press, Delhi, 1982.
2. Barmes, H.E; An introduction to the history of Sociology, University of Chicago Press, Chicago, 1958.
3. Cohen, P.S., The Modern Social theory, Hainan London, 1968.
4. Comte, Auguste, The positive philosophy of Auguste Comte (Tr. By H. Martieau) New York. 1855.
5. Cooley, C.H. Human Nature and the social order, revised edition scriber, New York 1922.
6. Coser, L.A. and Rosenberg B.; Sociology Theory Macmillan Co. New York, 1922.
7. Doshi S.L. and Trivedi M.S; Advanced Sociology Theories, Rawat Publications, 2007.
8. Durkheim, Emile; the Rules of the Sociological Methods Translated in English, 1938.
9. Gibbs, Willard, Quoted by George C.Homan's, The Human Group, Harcourt, Brace and co.New York, 1950.
10. Boulder, A.W, the Coming Crisis in Western Sociological, Heinemann, London, 1971.
11. Gross Llewellyn; Sociological Theory: Inquiry and Paradigms, Allied Publishers Pvt.Ltd, 1975.
12. Gupta M.and Saini R.l contemporary sociological Theories, Rawat Publications, 1991.
13. Martindale, Don; the Nature and Types of Sociological Theories, Rawat Publications, 1990.
14. Marx; Karl; Selected work Vol.1English edition, Macow, 1946.
15. Merton, R.K; (i) -Sociological Today, Basic Books, New York, 1959.

16. Merton,R.K; (ii) -Sociological Theory and Social Structure, Amerind Publishing Co.ltd,New Delhi,1968.
17. (I) parsons, Talcott; Essays in Sociological Theory, The Free Press, Glencoe.IIInois, 1958.
    (Ii) Parsons, Talcott; the Structure of Social Action, McGraw Hill, New York, 1937(ed.) Frewe Press 1949.
18. Propper, K.R; the Logic of Scientific Discovery, Hotchison, London, 1959.
19. Ritzer George; Sociological Theory 4th ed.McGraw Hill international Editions Sociology Series 1996.
20. Sorokin, P.Contemporary Sociolocal Theories, New York, 1928.
21. Spencer, Herbert, The Principles of Sociology vol.1 The Appleton and Co, New York, 1914.
22. Summer, William Graham,Folkways,A Study of the Sociological Importance of Usages,Maners,Customs,Mores and Morals, New York,Dover -Apapper book edition was published in 1960 by New American Library.
23. Timasheff, N.S, Sociological Theory, its Nature and Growth.Timasheff, N.S.Order cauasality, conjucture in Llewellyn Gross ed.Symposium on sociological Theory, Row, Peterson, 1959.
24. Turner J, H, the Structure of Sociological Theory. Rawat Publications, Jaipur, 2001.
25. Wagner, Types of Sociological Theory, Towards System Os Class; American Sociological Review, Quoted by Sorokin.
26. Wallec, L. Walter, Sociological Theory, Heinemann, London, 1969.
27. Warsay,L.S;A Typology for Modern Sociological Theories Diversity and Polaqrity in Search of Order, Sociological and social research,vol.55,No.2,june 1971.
28. Waber,Max The Theory of Social and Economic Organosation,(tr) by A.M.Heuderson and Talcott Parsons, New York.Oxford University Press,1947.
29. Zimmerman, Contemporary Tread in Sociological, Quoted by Sorokin.

इकाई - 2

समाजशास्त्रीय सिद्धांत : अर्थ, प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

20 उद्देश्य

2.01 प्रस्तावना

2.02 समाजशास्त्रीय सिद्धांत: अर्थ और परिभाषा

2.03 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की विशेषताएं

2.04 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रकृति

2.05 सिद्धांतों का वर्गीकरण या प्रकार

2.06 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की उपयोगिताएं

2.07 सारांश

2.08 बोध प्रश्न

2.09 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- सामाजिक सिद्धान्त का अर्थ और परिभाषा के बारे में जान सकेंगे ।
- सिद्धान्त के निर्माण के तत्व इसके निर्माण के बुनियादी आधारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- समाजशास्त्रीय सिद्धांत की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रकृति के बारे में जानकारी
- समाजशास्त्रीय सिद्धांत के प्रकारों की जानकारी
- समाजशास्त्रीय सिद्धांत की उपयोगिता प्राकल्पनाओं का निर्माण, मॉडल के निर्माण में किस प्रकार सहायक होते हैं के बारे मैं जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

2.01 प्रस्तावना : समाजशास्त्रीय सिद्धांत का विकास

कोजर एव रोजनबर्ग ने बताया है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांत के अग्रदूत (Precursors)ने ही पुराने हैं जितनी की सभ्यता। अति प्राचीन काल में भी सभ्यता एंव साहित्य के विकास के साथ उस समय के दार्शनिकों ने बहुधा ऐसे -ऐसे विचारों का पूर्वज्ञान किया जिन्हें की आधुनिक आधार पर विकसित करने के लिये एक युग की आवश्यकता होगी । यही कारण है कि 20वी शताब्दी के मध्य में जिस माध्यमिक विस्तार सिद्धांत (Middle Range Theories) को श्री राबर्ट के मर्टन ने प्रस्तुत किया इसका पूर्वज्ञान वर्षो पूर्व प्लेटो को था ।

समाज के संदर्भ में विचारों की अभिव्यक्ति समाज के अस्तित्व के साथ ही आर्विभाव हो गई थी किन्तु सामाजिक सिद्धांतों का क्रमबद्ध एंव व्यवस्थित अध्ययन 19वीं शताब्दी के बाद

ही औपचारिक एंव सैद्धांतिक रूप में विकसित हुआ तथा जबसे समाजशास्त्र का व्यवस्थित व क्रमबद्ध अध्ययन आरम्भ हुआ । आगस्त काम्टे को न केवल समाजशास्त्र का पिता माना जाता है अपितु उन्हें प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता भी माना जाता है ।

हरबर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय सिद्धांत को विकासवादी सिद्धांत के रूप में जोड़कर उसके व्यापक प्रयोग से भारी सम्मान व लोकप्रियता हासिल की । अमेरिकन समाजशास्त्र के जनक लेस्टरवार्ड का योगदान समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है । इनका रचनात्मक संश्लेषण (Creative Synthesis) का सिद्धांत एक सर्वव्यापी सिद्धान्त है । विलियम ग्राहम समनर का योगदान रूढ़ियों का सिद्धान्त (Theory of Mores) भी ख्याति प्राप्त है । गेबरियल टार्ड का मनौवैज्ञानिक सम्बल प्रदान करने वाला सिद्धान्त अनुकरण का सिद्धान्त सामाजिक जीवन के सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया । फ्रान्स के विचारक इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना । कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में सर्वविख्यात सिद्धान्त है ।

चार्ल्स कूले 20वी शताब्दी के अग्रणी विचारक है जिन्होंने समाजीकरण का स्वदर्पण का सिद्धान्त एवं प्राथमिक समूहों की अवधाराणाए दी हैं । थर्सटीन वेबलन का आर्कषक उपभोग तथा विलासिता का एंव शिल्पकौशल की मूल प्रवृति का सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है । विलफ्रेड पेरेटो ने तर्क संगत क्रिया की अवधारणा का विकास कर सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का आधार स्तम्भ तैयार किया है । उन्होंने अभिजातवर्ग के परिभ्रमण के सिद्धान्त मे बताया कि इतिहास कुलीन तन्त्रों का कब्रिस्तान है ।

मैक्सवेबर ने भी धर्म का समाजशास्त्र, नौकरशाही, आदर्श प्रारूप एंव सामाजिक क्रिया के सिद्धान्तों द्वारा समाजशास्त्र की विषयवस्तु को अर्थपूर्ण सामाजिक क्रिया के रूप में परिभाषित किया है । पिटरिम सोरोकिन ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को नवीन आधार प्रदान किया । टालकट पारसन्स का सामाजिक क्रिया व सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त, हाइमन का संदर्भ समूह का सिद्धान्त, मर्टन का माध्यमिक विस्तार तथा विसंगति या विचलन व्यवहार का सिद्धान्त भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में नवीन प्रवृति व प्रगति का परिचायक हे । ये सिद्धान्त उत्तरोत्तर वैज्ञानिक बनते जा रहे है तथा वर्तमान में ऐसे सिद्धान्त समय की आवश्यकता को पूरा करने की दृष्टी से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सिद्धान्तों की एक निश्चित दिशा होती है और यह दिशा ही इसे एक निश्चित सीमा में समाज को समझने का मौका देती है । सिद्धान्त को बनाने की भी एक निश्चित प्रक्रिया होती है । इस प्रक्रिया को विकसित होने के लिए तथ्य और सामग्री चाहिये । समाज की कई बौद्धिक बहसों के उपरांत समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण होता है ।

2.02 समाजशास्त्रीय सिद्धांत: अर्थ और परिभाषा

वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित समाजशास्त्रीय अध्ययन में भी तथ्य संकलन करने के पश्चात उनकी व्याख्या एंव निष्कर्ष का निरूपण आवश्यक होता है । जिसके आधार पर सामान्यीकरण किया जाता है । समाजशास्त्र, जो कि समाज का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करता है, उन सभी व्यापक सिद्धान्तों को भी हमारे सामने प्रस्तुत करता है जिससे कि हम मानव समाज, संस्कृति, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक व्यवहार आदि को समझते हैं । समाज की

वास्तविकता (Reality) को समझना और उसके आधार पर भरोसेमंद सिद्धान्त को बनाया जा जा सके ताकि व्यक्ति और समाज के बारे में भविष्य की दिशा के बारे में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकें ।

सिद्धान्त निर्माण की सबसे बड़ी कठिनाई विधि (Method) होती है । यदि तथ्य सामग्री को सही वैज्ञानिक विधि से रखा गया है तो सिद्धान्त में विश्वसनीयता होगी । दूसरी ओर तथ्य सामग्री एकत्र करने की विधि दोषपूर्ण है तो सिद्धान्त का निर्वचनात्मक पहलू अप्रासंगिक हो जायेगा । समाजशास्त्र में अनेक सिद्धान्त हैं कुछ सूक्ष्म और कुछ वृहद स्थापना के किन्तु उनका उद्देश्य विभिन्न दृष्टियों से समाज की वास्तविकता को जानना मात्र है । अत: इस विधि को तर्क आधारित, वैज्ञानिक होना चाहिए । इसमें प्रासंगिक तथ्यों का समावेश अनिवार्य रूप से होता है इसीलिये वास्तविकता के विश्लेषण में सिद्धान्त, तथ्य और विधि (Theory data And Method) अनिवार्य रूप से होते हैं ।

पर्सी एस. कोहन ने लिखा है कि सिद्धान्त शब्द एक खुला बैंक या रिक्त बैंक की भांति है जिसका संभावित मूल्य इस बैंक को प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है । कोहन कहते हैं कि सिद्धान्त का महत्व तथ्यों से अधिक है तथा तथ्य सिद्धान्त के रूप में स्थापित नहीं हो पाते तो उनका कोई महत्व नहीं रह जायेगा सिद्धान्तों का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट घटनाओं से न होकर घटनाओं की सम्पूर्ण श्रेणियों या श्रृंखला से होता है ।

मर्टन के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तार्किक रूप से अन्त: सम्बन्धित ऐसे तर्क वाक्यों के समूह को कहते है जिनमें कि आनुभाविक या प्रयोग सिद्ध समानताओं को ढूंढा जा सकता है । समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तर्क पर आधारित अवधाराणाए हैं, जो क्षेत्र की दृष्टी से सीमित होते हुए आडम्बरहीन है न कि विस्तृत एव विशाल समग्र को अपने में शामिल करने वाले।

मर्टन का यह मानना है कि सिद्धान्त तथ्यों से आगे निकल जाते है किन्तु सभी कथन जो तथ्यों से आगे निकल जाते है सिद्धान्त नहीं होते । इसका कारण यह है कि तथ्यों से आगे बढ़कर जब हम कुछ अनुमान लगाने की कोशिश करते है तो उसको उपकल्पना कहा जाता है । गिब्स के अनुसार सिद्धान्त अवधारणाओं का वह स्वरूप है जिनमें कि प्रयोग या परीक्षण के परिणामों को व्यक्त किया जा सके ।

इस अर्थ में अवधारणाओं की एक विशिष्ट संदर्भ संरचना में अन्त: संबंधित स्वरूप को सिद्धान्त कहते है अर्थात सिद्धान्त संदर्भ संरचना में अवधारणाओं का एक सामान्य परिसम्बन्ध है ।

लूमिस के अनुसार तर्क संगत रूप से अन्त: सम्बन्धित ऐसी अवधाराणाएँ जिन्हें कि वैज्ञानिक निरीक्षण द्वारा सुझाये गये तर्क वाक्यों में संयुक्त किया गया हो, एक सिद्धान्त का निर्माण करती है ।

वाल्टर वारेस ने अपनी पुस्तक सोशियोलोजिकल थ्योरी में लिखा है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांत भी “सिद्धांत” ही हैं, जो कि सामाजिक है, उनका सम्बंध ऐसी सामाजिक घटनाओं से होता है जिनकी व्याख्या करना शेष है ।

टिमाशेफ ने भी लिखा है कि सिद्धांत कुछ ऐसे तर्क वाक्यों का एक समूह है जो निम्न शर्तो को पूरा करते है

(1) तर्क वाक्यों को पारिभाषित अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया हो (2) तर्क वाक्य परस्पर एक दूसरे के साथ संगतपूर्ण हो (3) उनसे नियमित तौर पर वर्तमान सामान्यीकरणों को निकाला जा सके । (4) तर्क वाक्य आगे के निरीक्षण व सामान्यीकरण का मार्ग प्रशस्त करते हुए ज्ञान को उत्तरोत्तर आगे को बढ़ाये । अत: तर्क वाक्यों के सामान्यीकरण का दूसरा नाम ही सिद्धांत है । सिद्धान्त के संबंध में मूल बात यह है कि इसका रूप अमूर्त है । सिद्धांत में यथेष्ट आनुभाविक सामग्री होती है । अत: सिद्धांत में जहाँ एक ओर अमूर्तीकरण होता है, वहीं सिद्धांत की अन्तर्वस्तु में आनुभाविक संदर्भ भी होते है ।

जोनाथन टर्नर ने अपनी पुस्तक द स्ट्रक्चर आफ सोशियोलोजिकल थ्योरी में भी सिद्धांत के विश्लेषण में अमूर्तीकरण पर अत्यधिक बल दिया है । उनका दूसरा आग्रह यह है कि सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में खण्डन की भूमिका निर्णायक है ।

कार्ल पीपर ने भी सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में खण्डन की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वास्तविकता यह है कि सैद्धान्तिक विविधता, एंव सिद्धान्त का आनुभाविक खण्डन ही सिद्धान्त की शक्ति है ।

इस प्रकार सिद्धान्त का अर्थ और इसकी परिभाषा देने में सिद्धान्तवेत्ता एकमत नहीं है किन्तु पिछले कुछ दशकों में जिस गम्भीरता से सिद्धान्त निर्मित हुए है इससे यह स्पष्ट हो गया है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त ऐसे संदर्भ (Perspective) देते है जिनके प्रयोग से समाज को देखने का नजरिया या दृष्टिकोण ही बदल जाता है । सिद्धान्त के कुछ केन्द्रीय तत्व हैं जो विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं में देखने को मिलते हैं ।

1. सिद्धान्त अमूर्त तथा पर्याप्त रूप से स्पष्ट होते हैं । टर्नर के अनुसार केवल आनुभाविक सामान्यीकरण या आकस्मिक माडल सिद्धान्त नहीं हैं । सिद्धान्त के लिये बहुत बड़ी आवश्यकता अन्तर्दृष्टि के उछाले की है । अर्थात जो कुछ आनुभाविक तथ्यों का सामान्यीकरण है इसका अमूर्तीकरण करने के लिये सिद्धान्तवेत्ता में सामाजिक वास्तविकता को समझने की एक अन्तर्दृष्टि होना अनिवार्य है ।
2. सिद्धान्त निगमनात्मक होता है तथा इसमें कतिपय सामान्य प्रस्ताव होते हैं ।
   रूथ वेलेस तथा ऐलिसन वुल्फ के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रभाव जनता के व्यवहार को देखने का एक नजरिया प्रदान करता है । उनके अनुसार कोई भी सिद्धान्त अनिवार्य रूप से निगमनात्मक होता है । सिद्धान्त निर्माण की प्रकिया में आरम्भ में (1) कुछ सामान्य अवधारणाओं और सुस्पष्ट पूर्वधारणाओ को सही तरीके से पारिभाषित किया जाता है । (2) तत्पश्चात जिन वस्तुओं का अवलोकन किया जाता है उनके वर्गीकरण के कुछ निश्चित नियम बनाये जाते हैं और अन्त मे कुछ (3) सामान्य प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं । अर्थात वस्तुओं घटनाओं मुद्दों और प्रसंगों को श्रेणियों में रखकर, इन्हें आधार बनाकर तार्किक रूप से इनका निगमन करते हैं और ये प्रस्ताव या बयान हमें व्यक्तियों की प्रकृति एवं व्यवहार को समझने में सहायक होते हैं अर्थात सिद्धान्त वास्तविक घटनाओं को समझने का एक यथेष्ट

अनुकूलन हैं, पद्धति हैं, और यह निगमनात्मक होता है जो सामान्य प्रस्तावों के निरूपण में सहायक होते हैं।

3. सिद्धान्त आनुभाविक होते है तथा इसकी अवधारणाएँ तार्किक रूप से परस्पर जुड़ी होती हैं । द स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन, नामक पुस्तक में टालकट पारसंस ने सामाजिक क्रिया सिद्धान्त का निगमन का अवधारणात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार किसी भी सिद्धान्त में तथ्य और अवधारणाएँ होती हैं जो कि प्रघटनाओ के बारे में कुछ निश्चित प्रस्ताव या वक्तव्य होते है । तथ्यों से अवधारणाएँ बनती हैं और दो या दो से अधिक आनुभाविक अवधारणाओं के बीच जो तार्किक सम्बन्ध होते हैं, उन्हें सिद्धान्त कहते है । इस तरह आनुभाविकता और तर्क सिद्धान्त को बनाते है । किन्तु सिद्धान्त में तथ्य अनिवार्य रूप से होते है लेकिन अकेले तथ्य सिद्धान्त नहीं हैं।
4. आनुभाविक सामान्यीकरण तथा चरो में तार्किक सम्बन्ध होता है । रार्बट के मर्टन ने अपनी पुस्तक सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्टर में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की सुस्पष्ट व्याख्या की है। इनके अनुसार सिद्धान्त का बुनियादी आधार आनुभाविकता हैं। उनमें जो समानता हमें मिलती है इसके आधार पर पृथक - पृथक आनुभाविक प्रस्ताव रखे जाते है । इसके बाद इन आनुभाविक एकरूपताओं को जोड़कर इनमें प्रयुक्त चरो के तार्किक संबंधों को देखा जाता है । इस प्रकार आनुभाविक आधार पर पारस्परिक रूप से तार्किक सम्बन्ध रखने वाली ये एकरूपताएँ ही सिद्धान्त को बनाती हैं ।

मटर्न का कथन है कि क्रमबद्ध समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विभिन्न भागों का वह संग्रह है, जो आनुभाविक शोध कार्य द्वारा जाँचे जाने के बाद भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं ।

2.03 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की विशेषताएँ

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की विशेषताएँ उन सिद्धान्तों की प्रकृति और प्रकार पर निर्भर करती हैं । यही कारण है कि एक सिद्धान्त के लिये जो विशिष्टता हो वह दूसरे पर लागू नहीं हो सकती । उदाहरणार्थ पीटर बर्जर ने समाजशास्त्र को मानववादी संदर्श में देखने का प्रयास किया है उनके अनुसार समाजशास्त्र समाज का अध्ययन एक अनुशासित शान शाखा के रूप में करता है । इसका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में वैज्ञानिक दबाव अवश्य रखते हैं। थामस जे.वार्ड ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विशेषताओं को समझने के लिये एक सांख्यिकीय पद्धति को अपनाया । उन्होंने अमेरिका में प्रचलित लगभग एक सौ लोकप्रिय पाठ्य पुस्तकों में से समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की 27 परिभाषाओं का चयन कर उनका विश्लेषण प्रस्तुत किया है । उनमें से अधिकांश परिभाषाएं (89%) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को एक व्यवस्थित संरचना मानती है । कुछ परिभाषाओं (74%) के आधार पर सिद्धान्त का एक बहुत बड़ा लक्षण है कि इससे कुछ प्राकल्पनाओं को निकाला जा सके और उनका आनुभाविक परीक्षण भी हो सके । 70% परिभाषाओं की मान्यता के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में अवधारणाओं के बीच में तार्किक सम्बन्ध होना चाहिये । 59 प्रतिशत परिभाषाओं में सिद्धान्त की परिभाषा प्रस्ताव के पद द्वारा की गई है । सिद्धान्त की तार्किक निगमनात्मक विशेषता दर्शाने वाली

परिभाषाएं 44 प्रतिशत है । सिद्धान्त को नियम व सामान्यीकरण की पदावली में रखने वाली परिभाषाएं केवल 19 प्रतिशत है। अभिधारणाओं (Postulates) और स्वयंसिद्ध (Axioms) पदों का प्रयोग केवल मात्र 15 प्रतिशत परिभाषाओं में ही हुआ है । इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विशेषता आनुभाविकता प्राकल्पना तर्क और प्रस्ताव आदि पदों में निहित है । उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार है।

1. सिद्धान्त स्वयं में अमूर्त (Abstract) होते है ।
2. सिद्धान्त ऐसे होने चाहिये जो आनुभाविक स्तर पर परीक्षण के आधार पर गलत सिद्ध किये जा सके ।
3. सिद्धान्त में आनुभाविकता होनी चाहिये ।
4. सिद्धान्त में प्रयुक्त अवधारणाओं में तार्किक सम्बन्ध होता है ।
5. सिद्धान्त की कसौटी उसका परीक्षण है ।
6. सिद्धान्त अव्यवहारिक (Speculative) या संदिग्ध भी होते हैं ।
7. सिद्धान्त की स्वत: शोध प्रणाली (Heuristic Devise)
8. सिद्धान्त निगमनात्मक होता है । (Deductive)
9. सिद्धान्त गुणात्मक (Qualitative) होता है ।
10. सिद्धान्त कामचलाऊ (Provisional) होते हैं ।

2.04 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रकृति

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के गुण प्राकृतिक विज्ञानों से पृथक देखने को मिलते है । समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या सामाजिक परिपेक्ष्य में ही संभव है । इन सिद्धान्तों का विकास भी सरल सिद्धान्तों से जटिल और विकसित सिद्धान्तों की ओर हुआ है । क्योंकि समाजशास्त्र का प्रारम्भ में दर्शनशास्त्र राजनीति शास्त्र, इतिहास आदि विषयों से अधिक सम्बन्ध था । टिमाशेफ के अनुसार "अतीत के और वर्तमान समय के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को देखने पर पता चलता है कि वे सिद्धान्त मुख्यत: निम्नलिखित समस्याओं के इर्द गिर्द घूमते रहते है । जैसे समाज क्या है? संस्कृति क्या है? इनका विश्लेषण किन मौलिक इकाईयों के अन्तर्गत होगा? समाजशास्त्र और उसकी उपर्युक्त पद्धतियां क्या है? समाज, संस्कृति और व्यक्ति के मध्य अन्त: सम्बन्ध क्या है? समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को निर्धारित करने वाले कारक कौन से हैं?

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति वैज्ञानिक होती है किन्तु उनका सम्बन्ध समाज व सामाजिक घटना से होता है । वाल्टर, मर्टन, पारसन्स आदि ने अपनी परिभाषाओं में बताया है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त है जो अन्तःसम्बन्धित एंव परीक्षण युक्त अवधारणाओं पर आधारित होते हैं, जिनके आधार पर सामाजिक व्यवहार या सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित आनुभाविक या प्रयोग द्वारा सामान्यीकरण किये जा सके । सामाजिक सिद्धान्तों का सृजन, निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर किया

जाता है । अत: पद्धति शास्त्रीय आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विज्ञान है जबकि विषयवस्तु की दृष्टि से सामाजिक।

कोहेन ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के बारे में कमी बताते हुए कहा है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतरते जिसके मुख्य तीन कारण है ।

(i) अनेक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त ऐसे हैं जो न तो शुद्ध सार्वभोम कथन माने जा सकते हैं और न ही तथ्य के कथन

(ii) अनेक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अस्पष्ट होते हैं अत: इनका विश्वसनीय परीक्षण संभव नहीं है।

(iii) कुछ समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं अत: उनका आनुभाविक परीक्षण संभव नहीं है ।

अत: सिद्धान्त की प्रकृति के अनुसार -सभी सिद्धान्त समान नहीं होते । उनमें कुछ परिशुद्ध होते हैं जबकि अन्य परीक्षण योग्य । इन भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों को एक ही कोटि में रखना अनुपयुक्त होगा ।

2.05 सिद्धांतों का वर्गीकरण या प्रकार

सिद्धान्तों के वर्गीकरण का कोई भी एक निश्चित आधार जो सबको स्वीकार हो पक्का करना मुश्किल है । विभिन्न सिद्धान्तवेत्ताओ ने सामाजिक वास्तविकताओं के विश्लेषण के लिये पृथक -पृथक सिद्धान्त बनाये हैं । इन सिद्धान्तों को प्रकारों में रखने का प्रयास भी किया गया है। सिद्धान्तों के किसी भी वर्गीकरण मे मुख्य मुद्दा यह निश्चित करना होता है कि हम किस आधार या पैमाने पर सिद्धान्तों को प्रकारों में रखे । अगर पैमाने पर सहमति हो जाये तो वर्गीकरण का काम अत्यन्त सरल हो जायेगा । उदाहरण के लिये सिद्धान्तों के वर्गीकरण का एक आधार काल विभाजन है । इसमें हम किसी भी शताब्दी के दशकों के आधार पर सिद्धान्तो को प्रकारों में रख सकते है । हम एक और पैमाना भी ले सकते हैं । यह पैमाना देश आधारित हो सकता है । इसके अनुसार अमेरिका में बने सिद्धान्त एक कोटि में रखे जा सकते हैं, जर्मनी में बने सिद्धान्त दूसरी कोटि में, फ्रांस में बने सिद्धान्त तीसरी कोटि में और इस तरह सभी सिद्धान्तों को विभिन्न देशों की कोटियों में रखा जा सकता है ।

वर्गीकरण का एक और विकल्प भी है । सिद्धान्तों को हम मुख्य विचारों या वैचारिकी अथवा मान्यताओं के आधार पर भी प्रकारों में रख सकते हैं । सिद्धान्त का ऐसा वर्गीकरण इस अर्थ में तो लाभदायक है कि हम विभिन्न सिद्धान्तों को उनकी तार्किक एकरूपता के आधार पर निश्चित प्रकारों में रख सकते हे । ऐसा करने पर सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है । ऐसा करने में खतरा भी बना रहता है । यदि हम वैचारिकी के आधार पर कुछ सिद्धान्तों को निश्चित प्रकार में रखते है तब इस प्रकार से आने वाले सिद्धान्तों में जो अन्तर होता है वह धुंधला जाता है । उदाहरण के लिये यदि हम थोड़ी कवायद करके एक ही वैचारिकी के सिद्धान्तो को संघर्ष सिद्धान्त के प्रकार में रखते हैं तब मार्क्स, कोजर डेहरेन्डार्फ आदि के संघर्ष सिद्धान्तों में जो थोड़ा बहुत अन्तर है वह लुप्त हो जायेगा ।

सिद्धान्तों के वर्गीकरण का कोई भी एक निश्चित आधार जो सबको स्वीकार हो पक्का करना मुश्किल है । इस कठिनाई में हम यहाँ कुछ सिद्धान्तवेत्ताओं द्वारा दिये गये सिद्धान्तों के प्रकारों का उल्लेख करेंगे :

परसी एस कोहन ने सिद्धान्तों के चार प्रमुख प्रकार बताये : -

1. **विश्लेषणात्मक सिद्धान्त :** इस प्रकार के सिद्धान्त ऐसे स्वयं सिद्ध कथनों (Axiomatic Statement) से बनते हैं जो पारिभाषिक आधार पर सत्य होते हैं जिनसे दूसरे कथनों को निकाला जाता है जैसे - गणित के सिद्धान्त एंव तर्कशास्त्र के सिद्धान्त ।
2. **आदर्शात्मक सिद्धान्त :** अमूर्त सिद्धान्त जिनका निर्माण ज्ञान कोष की वृद्धि के लिये किया जाता है जो ऐसे आदर्श अवस्थाओं के एक समूह का विस्तार करता है जिनकी हम आकांक्षा करते हैं । जिन्हें वैचारिक स्तर पर स्वीकृति दी जाती है जैसे - नीतिशास्त्र, धर्म आदि के सिद्धान्त ।
3. **वैज्ञानिक सिद्धान्त** : सार्वभौमिक आनुभाविक कथन पर आधारित वाक्य जो किसी घटना के कार्य -कारण की व्याख्या करता है । जिन वाक्यों का परीक्षण एंव पुर्नपरीक्षण संभव है वैज्ञानिक सिद्धान्त कहलाते हैं । विज्ञान की आधारभूत विशेषता इस बात की व्याख्या करता हे कि घटनायें क्यों और कैसे घटित हुई?
4. **तात्विक सिद्धान्त :** तात्विक सिद्धान्त परीक्षण योग्य नहीं होते । यद्यपि उनका तार्किक मूल्यांकन किया जा सकता है । तात्विक सिद्धान्तों में उपयोगी मान्यतायें होती है जो सुझावात्मक भूमिका निर्वाह करती है जैसे - प्राकृतिक वरण का सिद्धान्त, ऐसे तात्विक सिद्धान्त विज्ञान के लिये लाभदायक भी हो सकते हैं ।

जिम्मरमेन (Zimmer Man) ने अपनी कृति के पृष्ठ संख्या 8 -9 पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के तीन प्रमुख प्रकार बताये है -

1. स्थायी संरचनात्मक (Static Structure)
2. नवीन प्रत्यक्षवाद (New Positivism)
3. नवीन गतिशीलतावादी (New Dyanamic)

एल. एस. वारशे ने चार प्रतिरूपी प्रकारों की व्याख्या की है जो निम्नवत है -

1. **व्यावहारिक प्रारूप** : (Practical Model) जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य सामाजिक शक्तियों द्वारा अनुबन्धित व निर्देशित होता है । इसमें व्यक्ति का अगुआ बनने की प्रवृति को नजर अन्दाज किया जाता है । जैसे होमन्स तथा ऑगबर्न का बहुवादी -व्यवहार -वादी सिद्धान्त।
2. **स्थानीय प्रारूप :** (Space Model) ये सिद्धान्त स्थान सापेक्ष होते है अत: छोटे समूह के सिद्धान्त तथा अन्त क्रिया की प्रक्रिया का विश्लेषण इस प्रतिरूप में समाहित है ।
3. **सवयवी प्रारूप :** (Organic Model) अंश या खण्डों की वास्तविक समग्र द्वारा व समस्त की वास्तविक प्रवृति का अध्ययन अंशों के माध्यम से करते हुये उनमें अन्तर्निहित सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं । इस प्रारूप में विश्लेषण की इकाई सावयवी व्यवस्था या सामाजिक संरचना को माना जाता है, और परिवर्तन को संरचना की सहमति या आवश्यक उत्पाद के

रूप में अर्थ दिया जाता है । इस प्रारूप का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । जैसे - संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक सिद्धान्त ।

4. **गत्यात्मक प्रारूप :** (Flux Model) जिन सिद्धान्तों में मानवीय व्यवहार को गत्यात्मक माना जाता है और उसको परिवतर्य प्रक्रियाओं पर आधारित किया जाता है । इस प्रारूप के अन्तर्गत समाहित सिद्धान्त मुख्यत: प्रक्रिया संघर्ष स्वायत्त क्रान्ति तथा नवीनीकरण से जुड़े होते है । जैसे - सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त, प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावादी सिद्धान्त आदि ।

वैगनर के सामजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार : -

वैगनर ने अपने वर्गीकरण में मुख्य तीन स्वरूपों की चर्चा की है : -

(1) प्रत्यक्षवादी (Positivism) जिसके उप प्रकार निम्नवत हैं: -

(अ) नवीन प्रत्यक्षवाद (Neo Positivism)

(ब) मानव पर्यावरण विज्ञान (Human Ecology)

(स) संरचनात्मक प्रकार्यवाद (Structure Functionalism)

(द) सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviorism)

(य) संस्कृति का जैव मनोवैज्ञानिक (Bio -Psychological theory of Culture)

(2) व्याख्यात्मक सिद्धान्त (Interpretative) जिसके पुन: उप प्रकार निम्नवत है: -

(अ) संस्कृति बोध सिद्धान्त (theory of Culture Understanding)

(ब) क्रिया एंव अन्त: क्रिया का विवेचनात्मक समाजशास्त्र (Interpretative sociology of action and interaction)

(स) व्याख्यात्मक समाज मनोविज्ञान (Interpretative Social Phycology)

(द) सामाजिक प्रघटना शास्त्र (Social Phenomenology)

(3) गैर वैज्ञानिक अथवा मूल्यांकन (Non scientific or Evaluative) इस प्रकार को पुन: 3 उपशाखाओं में बांटा गया है -

(अ) सामाजिक दर्शन सिद्धान्त (Social Philosophical Theory)

(ब) वैचारिक सामाजिक सिद्धान्त (Ideological Social Theory)

(स) मानवतावादी -सुधारवादी सिद्धान्त (Humanistic Reformative Theory)

रोकिन ने अपनी कृति में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को चार प्रकारों में वर्गीकृत किया है -

(1) एकल -अणु सिद्धान्त, जो दो वर्गो में विभाजित है : - शारीरिक यान्त्रिक सिद्धान्त, संख्यात्मक अणु सिद्धान्त (एकल)

(2) क्रम -बद्ध सिद्धान्त, जो चार वृहद सांस्कृतिक व्यवस्था और उप -व्यवस्था या सभ्यताओं के समाजशास्त्रों में विभाजित किए गए हैं : - एकाधिपत्य, शून्य -द्विभाजक एंव प्रकारात्मक सिद्धान्त ।

(3) सामाजिक व्यवस्था के क्रमबद्ध सिद्धांत जो छ: भागों में विभाजित किए गए हैं : - सामाजिक क्रिया और विश्लेषणात्मक सिद्धान्त, प्रकार्यात्मक, संरचनात्मक और संज्ञानात्मक

सिद्धान्त, द्वन्दात्मक सिद्धान्त अर्द्धव्यवहार या मिश्रित सिद्धान्त, सामाजिक व्यवस्था का वर्गीकृत सिद्धान्त ।

(4) संरचनात्मक और गत्यात्मक समाजशास्त्र का मिलाजुला सिद्धान्त ।

डॉन मार्टिन्डेल (Don Martindale)

डीन मार्टिन्डेल की पुस्तक 'द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोशियोलोजिकल थ्योरी' (थे Nature of Types of sociological Theory,1961) 1961 में प्रकाशित हुई । इस प्रकाशन को समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में ऐतिहासिक प्रकाशन मानते हैं । मार्टिन्डेल ने सिद्धान्तों को पांच सम्प्रदायों (Schools) या शाखाओं में रखा है : 1. प्रत्यक्षवादी सावयववाद (Positivistic Organisms) 2. संघर्ष सिद्धान्त (Conflict Theory) 3. स्वरूपतामक सिद्धान्त (Formal Theory) 4. सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviorism) और 5. समाजशास्त्रीय प्रकार्यवादी (Sociological Functionalism).

(1) **प्रत्यक्षवादी सावयववाद: -** सिद्धान्त के क्षेत्र में अगस्त कॉम्ट (1798 -1857) ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को रखा । उन पर जीव विज्ञान का बहुत प्रभाव था । उनका कहना था कि जिस तरह शरीर का उद्गम और पतन होता है वैसे ही समाज भी बनता -बिगड़ता है । कॉम्ट ने समाजशास्त्र और जीव विज्ञान के अटूट सम्बन्धों को स्थापित किया । बाद में चलकर गिडेन्स (Giddens) ने अपने संरचनावाद (Structuralism) के सिद्धान्त में प्रत्यक्षवाद का तीव्र विरोध किया ।

प्रत्यक्षवाद की कई कमियाँ है, फिर भी इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित युग में कुछ ऐसे विचारक हुए है जिनका नाम उल्लेखनीय है । फ्रांस में अगस्त कॉम्ट, इंग्लैण्ड में हर्बर्ट स्पेंसर और अमेरिका में लिस्टर वार्ड, ऐसे संस्थागत सिद्धान्तवेत्ता हुए है जिन्होंने प्रत्यक्षवाद को ठोस धरातल पर खड़ा किया है ।

(2) **संघर्ष सिद्धान्त:** - दूसरा सम्प्रदाय संघर्ष सिद्धान्तों को बताया है । संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता विचारधारा (Ideology) और वैज्ञानिक सिद्धान्त के बीच में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते है । यह कहा जाता है कि मार्क्स का समाजवादी सिद्धान्त, जिसकी उत्पत्ति 19वी शताब्दी में हुई, एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है । संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं ने जहां एक तरफ किसी निश्चित विचारधारा को अपनाया वहीं उन्होंने सैद्धान्तिक विधि को भी स्वीकार किया ।

संघर्ष सिद्धान्त किसी एक स्वरूप में ही नहीं है । उनके भी प्रकार है । कार्ल मार्क्स उत्पादन सम्बन्धों (Production Relations)की चर्चा करते हैं कॉल्फ डेहरेनडॉर्फ प्राधिकार सम्बन्धों (Authority Relations) की चर्चा करते हैं और कोजर व्यवस्था के अन्तर्गत ही होने वाले संघर्ष को अपने विवेचन का मुद्दा बनाते है । इस तरह संघर्ष के सभी प्रकार समाज के लिये विघटनकारी नहीं है, संघर्ष से समाज में सुधार आता है, एकता आती है ।

(3) **स्वरूपतामक सिद्धांत (Formal Theory)**: वास्तव में स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों (Axiomatic Theories) का एक घटिया प्रकार है । इन सिद्धान्तों के पीछे बहुत बड़ा विचार यह है कि हमें कुछ ऐसे अत्यन्त अमूर्त प्रस्तावों (Abstract Propositions) का निर्माण

करना चाहिये जिनके माध्यम से हम कतिपय आनुभाविक घटनाओं व प्रसंगों को समझा सकें, उनका विश्लेषण कर सकें । सामान्यतया हम कुछ अमूर्त प्रस्तावों को एक निश्चित श्रेणी में रख देते हैं और इन्हें उच्च स्तर के नियम समझते हैं । इन नियमें से हम निगमन करते हैं और इस भांति आनुभाविक यथार्थता का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । स्वरूपतामक सिद्धान्त में बुनियादी रूप से हमारी विचारधारा यह है कि हम अमूर्त नियमों को बनाते है और इसी कारण इन्हें स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों के हाशिये पर रखते हैं ।

जोनाथन टर्नर ने स्वरूपतामक सिद्धान्त की व्याख्या अधिक विस्तारपूर्वक की है । वे दृढतापूर्वक कहते हैं कि स्वरूपतामक सिद्धान्त अपने सम्पूर्ण अर्थ में आनुभाविक घटनाओं का अमूर्तीकरण है । लेकिन यह अमूर्तीकरण सामान्यतया दो स्तरों (Levels) का होता है । पहला अमूर्तीकरण निम्न स्तर का होता है । जिसमें हम आनुभाविक सामान्यीकरण (Empirial Generalization) यानि जो कुछ होता है उसे अमूर्तकरण में रखते हैं । फिर इससे आगे एक समान आनुभाविक सामान्यीकरणों को जोड़कर मध्यस्तर के प्रस्ताव (Middle Range Propositions) बनाते है ।

जब छोटे स्तर का अमूर्तीकरण हो जाता है तब हम उच्च स्तर के अमूर्तीकरण की ओर बढ़ते हैं। इस स्तर पर पहुँच कर हम व्याख्यात्मक मॉडल, वृहद सिद्धान्त और स्वरूपतामक सिद्धान्त तैयार करते हैं ।

(4) **सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviorism)** : सामाजिक व्यवहारवाद का उद्‌गम सामाजिक मनोविज्ञान के कारण है । इन सिद्धान्तों का आधार व्यक्तियों का व्यवहार है । ये सिद्धान्त व्यक्ति को समाज से पृथक कर देते है । जहां मार्क्स और वेबर समाज को प्रधानता देते हैं, वहां सामाजिक व्यवहारवाद सिद्धान्तवेता अपने उपागम में सूक्ष्म (Micro) है उनका केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है । मार्टिन्ड़ेल ने सामाजिक व्यवहारवादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद (Symbolic Interactionism) तथा सामाजिक क्रिया (Social Action) सिद्धान्तों को रखा है ।

(5) **समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद (Sociological Functionalism)** समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद मार्टिन्ड़ेल के वर्गीकरण में पाँचवां सम्प्रदाय है । समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का उद्‌गम सामाजिक मानवशास्त्र से हुआ है । मानवशास्त्रियों में मेलिनोस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन ने प्रकार्यवाद को सर्वप्रथम विकसित किया । उन्होंने तीन प्रकार्यवादी अभिधारणाओ की चर्चा की है 1. समाज की प्रकार्यात्मक एकता, 2. प्रकार्यवादी सार्वभौमिकता और 3. प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता ।

मानवशास्त्रीय प्रकार्यवाद की अवधारणाओं को अपना आधार बनाकर टालकट पारसस, रोबर्ट मर्टन और डेविस आदि ने समाजशास्त्रीय प्रकार्यवादी सिद्धान्तों का निरूपण किया हैं

जोनाथन टर्नर (Jonathan Turner)

जोनाथन टर्नर जहां कहीं सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं, वे दृढ़ता पूर्वक यह कहते है कि सिद्धान्त अनिवार्य रूप से आनुभविक स्थिति का अमूर्तीकरण है । उनका कहना है कि वर्गीकरण की दृष्टि से सिद्धान्तों को हम चार श्रेणियों में रख सकते है । वास्तव में सिद्धान्तों की ये श्रेणियों सिद्धान्तों को देखने का एक दृष्टिकोण मात्र है । ये श्रेणियों है; 1. अधि सैद्धान्तिक

रूपरेखा (Meta - Theoretical Schemes) 2. विश्लेषणात्मक रूपरेखा (Analytical Schemes) 3. प्रस्तावपरक रूपरेखा (Propositional Schemes) और 4. प्रतिरूपण रूपरेखा (Modelling Schemes) । यदि टर्नर को सिद्धान्तों के वर्गीकरण की दृष्टि से देखा जाये तो कहना होगा कि उनके अनुसार सिद्धान्त मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं :

(1) **अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा: (Meta - Theoretical Schemes)** सामान्य सिद्धान्त की तुलना मे अधिसैद्धान्तिक रूपरेखा अपने स्वरूप में वृहद होती है । वास्तव में इस तरह की रूपरेखा हमें निश्चित एंव विशिष्ट घटनाओं या प्रसंगों के विश्लेषण में सहायक नहीं होती । अधि -सिद्धान्त तो केवल उन बुनियादी मुद्दों को उठाते हैं जिनका निरूपण किसी भी सिद्धान्त को करना चाहिये । उदाहरण के लिये समाज में आदर्श बनाम यथार्थता आगमन बनाम निगमन, व्यक्तिनिष्ठ बनाम वस्तुनिष्ठ, आदि ऐसे बुनियादी मुद्दे है जिनका सिद्धान्त विवेचन करता है । पिछले कुछ दशकों में ऐसी ही अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा को कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, इमाइल दुर्खाइम, टालकट पारसंस आदि ने उभारा है ।

(2) **विश्लेषणात्मक रूपरेखा: (Analytical Schemes)** सैद्धान्तिक गतिविधि के नाम पर समाजशास्त्र में अवधारणाओं को संगठित करके कुछ वर्गीकरण रूपरेखाओं में रखा है । इन अवधारणाओं के बीच में जो आनुभविक व तार्किक सम्बन्ध है उनके विश्लेषण की रूपरेखा ही इस तरह के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है ।

(3) **प्रस्तावपरक रूपरेखा: (Propositional schemes)** इस तरह के सिद्धान्त वे हैं जो दो या दो से अधिक चरों के बीच के सम्बन्धों के बताते हैं ।

प्रस्ताव -परक रूपरेखा में भिन्नता इस आधार पर होती है कि कुछ रूपरेखाएँ विशिष्ट नियमों के आधार पर बनी होती है जबकि कुछ सरल प्रस्तावों के आधार पर । टर्नर के अनुसार प्रस्ताव रूपरेखा को दो आयामों के आधार पर देखा जा सकता है :

1.अमूर्तता के आधार पर और 2. आनुभाविक तथ्यों के आधार पर । इन्हीं दोनों आयामों के आधार पर तीन सैद्धान्तिक रूपरेखाओं को देखा जा सकता है.

1. स्वयं सिद्ध रूपरेखा (Axiomatic Formats)
2. औपचारिक रूपरेखा (Formal Formats)
3. आनुभविक रूपरेखा (Empirical formats)

(4) **प्रतिरूपण रूपरेखा: (Modelling Schemes):** सामान्यता मॉडल में हम वास्तविकता का प्रतिरूपण प्रस्तुत करते है । उदाहरण के लिये जब हम आनुभविक प्रक्रियाओं को देखते हैं और उन्हें प्रस्ताव के रूप में रखते हैं और यह रखना जब एक चित्र की तरह रखना होता है तब यह, टर्नर की परिभाषा में प्रतिरूपण रूपरेखा है ।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार कई तरह के हैं । प्रत्येक प्रतिष्ठित सिद्धान्तवेत्ता ने अपनी आनुभविक और विश्लेषणात्मक समझ के अनुसार सैद्धान्तिक वर्गीकरण किया है । निश्चित रूप से कोई भी वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है । जहाँ एक और प्रकार्यवादी सिद्धान्तवेत्ता समाज को एक व्यवस्था और सर्वसम्मति के रूप में रखते हैं, वहीं संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता यह प्रस्तुत करते है कि निहित या व्यवस्थागत हितों के कारण समाज में

अन्तर्निहित विरोध है और जब तक व्यवस्था बदली नहीं जाती संघर्ष का कोई निदान नहीं है । सिद्धान्तों के इस वर्गीकरण में दो बाते बहुत स्पष्ट है । पहली तो यह कि समाज और व्यक्ति की लम्बी बहस में कुछ सिद्धान्तवेत्ता व्यक्ति या सूक्ष्म को अपना केन्द्र बनाते है और कुछ समाज को अपना केन्द्र । सूक्ष्म (Micro) केन्द्रित सिद्धानावेत्ताओ में उदाहरण के लिये विलियम जेम्स, कूले, मीड, ब्लूमर, गोफमेन, आदि सम्मिलित' है । दूसरी ओर, समाज यानि वृहद (Micro) को अपना केन्द्र मानने वाले सिद्धान्तावेत्ताओं में मार्क्स, वेबर, दुर्खाइम, पारसंस, मर्टन, होमन्स और पीटर ब्लॉ आदि आते हैं । अत: हम समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का कितना ही विशद् वर्गीकरण करें, ये दो बुनियादी आधार सभी तरह के वर्गीकरण में आते है ।

2.06 समाजशास्त्रीय सिद्धांत की उपयोगिताएं

सिद्धान्तशास्त्रीयों ने दृढ़तापूर्वक यह स्थापित किया है कि सिद्धान्त किसी भी समाज विज्ञान के लिये लफवाजी मात्र नहीं है । समाज विज्ञान के लिये इनकी उपयोगिता बराबर समझी जाती रही है । राबर्ट मर्टन, टालकट परसंस, पी. ब्ला, होमन्स आदि ने बराबर आग्रहपूर्वक यह कहा है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त समाज की वास्तविकता से जुड़े होते हैं ।

(1) सिद्धान्त प्राक्कल्पनाओं को पैदा करते है

प्रत्येक सिद्धान्त के वैज्ञानिक नियम होते है और इन नियमों से ही प्राक्कल्पनाएं बनायी जाती है । प्रत्येक सिद्धान्त प्राक्कल्पनाओं के निर्माण में सहायक होता है ।

(2) सिद्धान्त के आधार पर मॉडल (Model) भी बनाये जाते है

वास्तव में जैसा कि विलियम स्कीडमोर का कहना है कि मॉडल अपने आप में वास्तविकता नहीं है वरन् यह एक ऐसा प्रारूप है जो वास्तविकता के सदृश है । अत: जब हम मॉडल की बात करते हैं तो स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि यह वास्तविकता की अनुकृति मात्र है, किसी भी स्थिति में स्वयं वास्तविकता नहीं है ।

(3) सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु: आनुभाविकता

किसी भी सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु (Content) उसकी आनुभविकता होती है । आखिर सिद्धान्त है क्या सीमित अर्थों में सिद्धान्त और कुछ न होकर सामाजिक एक रूपताओं (Social Uniformities) का एक बयान मात्र है ।

(4) सिद्धान्त अवधारणाओं के विश्लेषण में सहायक है

प्रत्येक सिद्धान्त में अवधारणाओं का होना आवश्यक है ओर अवधारणाओं के प्रयोग के बिना सिद्धान्त बन ही नहीं सकता । फिर यह भी तथ्य है कि अवधारणाएं ही सिद्धान्त को बनाती हो ऐसा नहीं है ।

(5) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त घटनोत्तर निर्वचन में सहायक है

आनुभविक सामाजिक अनुसंधान में हम किसी समाजशास्त्रीय प्रसंग पर क्षेत्र में आकड़ों को एकत्रित करते हैं । आवश्यक हुआ तो हम वैयक्तिक अध्ययन भी करते है । इन तथ्यों, वैयक्तिक अध्ययनों और स्थानीय इतिहास को जो क्षेत्र में एकत्रित किये गये हैं उन्हें इस समुचित रूप से रखते है । इस आनुभविक सामग्री का जिसे तकनीकी भाषा में घटन्नोतर (Post - Factun) कहा जाता है, हम किसी सिद्धान्त के अन्तर्गत सामग्री तदर्थ (Ad -

Hoc) प्राक्कल्पना बन जाती है और दूसरी ओर कालांतर चलकर इसका समावेश किसी न किसी सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है ।

2.07 सारांश

सिद्धान्त की परिभाषा हम किसी भी सिद्धान्तवेत्ता की भाषा में करें, मुख्य बात यह है कि कोई भी सिद्धान्त एक निश्चित मानसिक गतिविधि है । यह गतिविधि वास्तविकता पर खड़ी होती है, लेकिन वास्तविकता बहुत विशद् एंव विविध है और इस करण इसमें अमूर्तीकरण आवश्यक है । यदि हमें एक शब्द में सिद्धान्त को परिभाषित करना हो तो हम कहेंगे की सिद्धान्त आनुभविकता का अमूर्त स्वरूप है ।

सिद्धान्त के कुछ निश्चित लक्षण होते हैं । सिद्धान्त की प्रकृति आनुभविक -तार्किक होती है । इसमें अवधारणाएं सुस्पष्ट और पूरी तरह से परिभाषित होती है । सिद्धान्त गतिहीन नहीं होते, उनमें तथ्यों और अवधारणाओं के बदलाव के साथ बराबर परिवर्तन आता रहता है ।

सिद्धान्त का उद्देश्य समाज की वास्तविकता को जानना होता है, उसके रूबरू होना होता है । अत: सिद्धान्त समाज की इस वास्तविकता को जानना अपना प्राथमिक लक्ष्य मानता है । यदि सिद्धान्त भरोसेमन्द है तो हमें समाज की भविष्य में होने वाली गतिविधियों को पूर्वानुमान हो जायेगा ।

2.08 बोध प्रश्न

1. सामाजिक सिद्धान्त की परिभाषा किजिये । समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकारों की विवेचना कीजिये ।
2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति की विशेषताओं की विवेचना कीजिये । प्राकल्पनाओं के निर्माण के संदर्भ में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की उपयोगिता की विवेचना कीजिये ।

2.09 सन्दर्भ ग्रंथ

1. Abraham. M. Francis: Modern Sociological, Oxford University Press Delhi. 1982.
2. Bames, H.E. an Introduce on to the History University of the Chicago, 1958.
3. Cohen, P.S, the Modern Social theory Hennman London. 1968.
4. Comte, Auguste the positive Philosophy of Auguste Comte (Tr.by H.Martineau) New York 1855.
5. Cooley, C.H.; Human Nature and the Social Order revised edition Scriber, New York, 1922.
6. Coser, L.A. and Rosenberg B.; Sociolgical Theory, MacMillan co., New York, 1965.

7. Doshi S.L. and Trivede M.S.; Advanced Sociological Theories, Rawat Publication, 2007.
8. Durkheim, Emile; the Rules of Sociological Methods Translated in English, 1938.
9. Gibbs, Willard, Quoted by George C. Homan's, The Human Grop, Harcourt, Brace and co., New York, 1950.
10. Gouldner, A.W., the Coming Crisis in Western Sociology, Heinman, London, 1971.
11. Gross Llewellyn; Sociological Theory: Inquiry and Pardigms. Allied Publisshers,. Pvt. Ltd. 1975.
12. Gupta M. and Saini R.L.; Contemporary Sociological Theories, Rawat Publications, 1991.
13. Martindale, Don'. The Nature and types of Sociological Theory, Rawat Publication, 1990.
14. Marx; Karl' Selected works Yells English edition, Macow, 1946.
15. Merton, R.K.; (i) - Sociology Today, Basic Books, New York,1959.
16. Merton, R.K.; (ii) - Social Theory and Social Structure, Amerind Publishing co. Ltd., New Delhi, 1968.
17. (i) Parson, Talcott; Essays in Sociological Theory, the Free Press, Glencoe, Illiois, 1958.
    (ii) Parson, Talcott; The Structure of Social Action, McGraw Hill, New York, 1937 (ed.) free Press 1949.
18. Popper, K.R.; the Logic of Scientific Discovery, Hotchison, London, 1959.
19. Ritzer George; Sociological Theory 4th ed. McGraw Hill International Editions Sociology Series 1996.
20. Sorokin, P.; Contemporary Sociological Theories, New York, 1928.
21. Spencer, Herbert, the Principles of Sociology, Vol. 1 the Appleton and co.; New York, 1914.
22. Sumner, William Graham, Folkways, A Study of the Sociological Importance of Usages, Manners, Customs, Mores and Morals, New York, Dover - A Paper book edition was published in 1960 by New American Library.

23. Timasheff, N.S.; Sociological Theory, Its Nature and Growth. Timasheff, N.S.; Order Causality conjuncture in Llewellyn Gross ed. Symposium on Sociological Theory, Row, Peterson, 1959.
24. Turner J.H.; the Structure of Sociologcal Theory. Rawat Publications, Jaipur, 2001.
25. Wagner; Types of Sociological Theory; Towards a System of Class; American Sociological Review, Quoted by Sorokin.
26. Wallec, L. Walter, Sociological Theory, Heinemann, London, 1969.
27. Warsay, L. S.; A Typology for modern Sociological Theories Diversity and Polarity in Search of Order Sociology and Social Research, Vol. 55, No.2, June 1971.
28. Weber, Max, the Theory of Social and Economic Organization, (tr.) by A.M. Heuderson and Talcott Parsons, New York. Oxford University Press, 1947.
29. Zimmerman; Contemporary Trends in Sociology, Quoted by Sorokin.

इकाई - 3

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.01 प्रस्तावना

3.02 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

3.03 सारांश

3.04 बोध प्रश्न

3.05 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

1. सामाजिक यथार्थ को देखने के अनेक परिप्रेक्ष्य की जानकारी हासिल कर सकते है ।
2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के विभिन्न आधारों के बारे में जानकारी हासिल कर सकते है ।
3. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की विविधता की जानकारी विस्तार से हासिल कर सकते है ।
4. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में आधुनिक प्रवृत्तियों के बारे में भी जानकारी हासिल कर सकते है।

3.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का उद्देश्य समाज की वास्तविकता को जानना होता है, उससे रूबरू होना होता है । यदि सिद्धान्त भरोसेमन्द है, तो हमें समाज की भविष्य में होने वाली गतिविधियों का पूर्वानुमान हो जायेगा । यह सही है कि भविष्य का समाज कैसा होगा इसका हम हुबहु चित्रण न कर सकें, पर समाज की परिवर्तन की दिशा का बोध तो सिद्धान्त दे ही देते है । समाज की इस वास्तविकता के कई पहलू है । और इसी कारण इन विविध पहलुओं को समझने के लिए सिद्धान्तों में भी विविधता है । सामाजिक वास्तविकता को देखने के अनेक परिप्रेक्ष्य हैं । ज्ञान मीमांसा के विविध उपागम वास्तविकता की प्रकृति की जटिलता को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं । समाज की किसी भी प्रघटना को उदाहरण के रूप में, संरचनात्मक विधा, प्रकार्यात्मक उपागम, संघर्षात्मक उपागम आदि से देखा जा सकता है । प्रश्न यह है कि अध्ययनकर्त्ता घटना के किस पक्ष को देखना चाहता है, उसके मस्तिष्क में क्या प्रश्न है और वह किस पद्धति से इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है । अत: सिद्धान्न्तवेदत्ताओं ने अपने -अपने दृष्टिकोण से सिद्धान्तों को विभिन्न श्रेणियों या प्रकारों में रखा हैं ।

3.02 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अनेक प्रकार के हैं । अलग -अलग विद्वानों ने उन्हें अलग -अलग ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

डॉन मार्टीन्डेल (Don Martindale)

डॉन मार्टीन्डेल (Don Martindale) ने अपनी पुस्तक ' The Nature and Types of Sociological Theory (1981) में 'वाद' (ism) के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है -

1. **प्रत्यक्षवादी सावयवाद (Positivistic Organisms) -** प्रत्यक्षवादी सावयवादी सिद्धान्त की उत्पत्ति यूरोप में 18वी तथा 19वी शताब्दियों में विज्ञान का जो विकास हुआ उसके परिणामस्वरूप हुई है । इस प्रकार के अन्तर्गत 'उन सिद्धान्तों को रखा गया है जिनमें समाज या सामाजिक घटना की विवेचना या व्याख्या किसी न किसी रूप में सावयवाद आधार पर या उससे हटकर की गई है । इसके अन्तर्गत अगस्त कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, लेस्टर वार्ड टॉनिज (F.Tonnie), दुर्खोम आदि द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया है । साथ -ही - साथ इस श्रेणी के अन्तर्गत परेटो फ्रायड आदि के सिद्धान्तों को भी रखा गया है जिन्होंने उपरोक्त सिद्धान्तकारों के सिद्धान्त में रूपान्तरण (Transformation) किया है ।

2. **संघर्ष सिद्धान्त (Conflict Theory) -** इस प्रकार के सिद्धान्त के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया है जो मानव जीवन या समाज में संघर्ष की स्थिति से सम्बन्धित है । इस प्रकार के सिद्धान्त की आधारशिला के रूप में बोडिन (Jean Bodin), हॉब्स (Hobbes), हामू (Hume) आदि के सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है । जबकि 19वी शताब्दी के संघर्ष में स्पेन्सर, समनर, कार्ल मार्क्स आदि के सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं । संघर्ष सिद्धान्त किसी एक स्वरूप में ही नहीं है । उनके भी प्रकार है । जैसे, कार्ल मार्क्स उत्पादन सम्बन्धी (Production Relations) पर जोर देते है, राल्फ डेहरेन्हॉर्फ प्राधिकार सम्बन्धी (Authority Relations) की चर्चा करते हैं और कोजर व्यवस्था के अन्तर्गत ही होने वाले संघर्ष को अपने विवेचन का मुद्दा बनाते है । समाजशास्त्रीय संघर्ष सिद्धान्तों में बेगहॉट (W. Bagehot) रैजेनहोफर (Ratzenhofer), स्माल (Small), ओपेनहाइमर (Oppenheimer) आदि के सिद्धान्त उल्लेखनीय है ।

3. **समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (The Formal School of Sociological Theory) -** इस श्रेणी के अन्तर्गत इस सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया है जिन्हें स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School) के प्रवर्तकों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र का अध्ययन -विषय 'मानवीय सम्बन्धों का स्वरूप' समाजीकरण का स्वरूप' (Formal Socialization) है । इस स्वरूपात्मक दृष्टिकोण से जॉर्ज सिम्मेल, वीरकान्त वान वीज आदि ने अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है ।

4. **सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviorism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जो सामाजिक व्यवहार या सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित हैं । टार्डे (Tarde) द्वारा प्रस्तुत अनुकरण का सिद्धान्त अथवा ली बों (Le Bon) द्वारा भीड़ में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धान्त व्यवहारवादी सिद्धान्त ही है । इसी प्रकार गिडिग्स (Gidding), रॉस (Ross) आदि के सिद्धान्त भी इसी प्रकार के है । इसी श्रेणी के अन्तर्गत चार्ल्स कूले, विलियम थॉमस, जार्ज मीड आदि के सिद्धान्तों को भी सम्मिलित किया गया है जिनमें सामाजिक व्यवहार को प्रतीकात्मक अन्त: क्रियाओं (Symbolic Interactions) के आधार पर विश्लेषित किया गया है । साथ ही, इस

श्रेणी के अन्तर्गत मैक्स वेबर, वेब्लन (Veblen), पारसन्स आदि द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के सिद्धान्तों का सम्मिलित किया गया है।

5. **समाजशास्त्रीय प्रकार्यात्मकवाद (Sociological Functionalism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों को सम्मिलित किया गया है जिनका प्रतिपादन समाज के निर्माणक (Constituent) अंगो या इकाइयों के प्रकार्यो (Functions) के सन्दर्भ में किया गया है । स्पेन्सर, दुर्खीम, परेटो मैलिनोस्की रेडक्लिफ ब्राउन आदि द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यात्मक सिद्धान्त इसी प्रकार के सिद्धान्त है । इस विषय में आधुनिक प्रवृत्ति सामाजिक संरचना और प्रकार्यो के अन्त: सम्बन्ध व अन्त: निर्भरता का विश्लेषण करना है । इस क्षेत्र में मर्टन, पारसन्स आदि का सिद्धान्त (संरचनात्मक प्रकार्यवाद) विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

वाल्टर वालैस (Walter Wallace)

वाल्टर वालैस ने भी अपने द्वारा सम्पादित (Edited) पुस्तक Sociological Theory' (1969) में विभिन्न वाद (ism) के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निम्न प्रकारों का उल्लेख किया है ।

1. **परिस्थितिवाद (Ecologism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जो मानवीय परिस्थितिकी (Human ecology) से सम्बन्धित हैं अर्थात इन सिद्धान्तों में मानव और उसके गैर -मानवीय पर्यावरणों (Non -Human environments) या परिस्थितियों के बीच आन्तरिक सम्बन्धों की व्याख्या होती है । जैसे ली प्ले, डब्ल्यू ई. मूर (W.E.Moore) आदि के सिद्धान्त।

2. **जनांकिकीबाद (Demographism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जो जनांकिकीय या मानवीय पर्यावरणो (Human environment) से सम्बन्धित होते है, एवं उसी से सम्बन्धित किसी प्रवृत्ति की व्याख्या करते है जैसे - माल्थस, सैडलर आदि का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त ।

3. **भौतिकवाद (Materialism)-** सामाजिक जीवन या सामाजिक घटनाओं की व्याख्या भौतिक आधार पर करने वाले सिद्धान्त इस श्रेणी के अन्तर्गत आते है । कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त इसी प्रकार के सिद्धान्त हैं ।

4. **मनोवैज्ञानिककवाद (Psychologism)-** अक्सर सामाजिक जीवन या मानवीय व्यवहारों की मनोवैज्ञानिक आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की जाती है । इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले सिद्धान्तों को इस श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है । उदाहरणार्थ: टार्डे (Tarde) का 'अनुकरण का सिद्धान्त' या कूले का 'आत्म दर्पण दर्शन' (Looking Glass' Self) का सिद्धान्त इस प्रकार के सिद्धान्त हैं ।

5. **प्रौद्योगिकवाद (Technologism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनमें औद्योगिकी या प्रौद्योगिकी को सामाजिक घटनाओं का आधार या निर्णायक कारक माना जाता है । कार्ल मार्क्स व वेब्लन (Veblen) द्वारा प्रस्तुत सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त अथवा ऑगबर्न द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural Lag) का सिद्धान्त इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है ।

6. **प्रकार्यात्मक संरचनात्मकवाद (Functional Structuralism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण वाले सिद्धान्त आते है जैसे - मर्टन आदि का सिद्धान्त ।

7. **विनिमय संरचनात्मकवाद (Exchange Structuralism)-** सामाजिक जीवन में भाग लेने वाले दो या अधिक इकाइयों के व्यवहारों के विनिमय (Exchange) के फलस्वरूप संरचना का निर्माण - इस उपकल्पना को प्रमाणित करने वाले सिद्धान्त इस श्रेणी के अन्तर्गत आते है । इसी संदर्भ में दुर्खीम का सिद्धान्त यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक तथ्य वैयक्तित मस्तिष्क में विद्यमान रहता है, फिर भी कोई भी सामाजिक तथ्य तब तक नहीं पनपता जब तक ये व्यक्ति एक -दूसरे के साहचर्य (Association) में नही आते । इसी प्रकार पीटर ब्लाउ (Peter M. Blau) का सिद्धान्त यह है कि सामाजिक सम्बन्ध जो केवल व्यक्तियों के समूहों को संयुक्त (Unite) करता है अपितु समूहों को समुदायों और समाजों में मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत 'सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का सिद्धान्त' भी इसी श्रेणी में आता है ।

8. **संघर्ष संरचनात्मकवाद (Conflict Structuralism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिनमे यह दर्शाने का प्रयास किया जाता है कि सामाजिक जीवन में भाग लेने वाली दो या अधिक इकाईयों के व्यवहारों के विनिमय के फलस्वरूप संरचना का निर्माण नही, विघटन भी हो सकता है अर्थात् इस प्रकार के विनिमय हानिकारक व्यवहार (infurious behavior) पर आधारित होते हैं । संक्षेप में, इस प्रकार के सिद्धान्त सामाजिक संघर्ष के स्वरूप और परिणामों को दर्शाते है जैसे कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत समाज के दो महान वर्गो के बीच होने वाला वर्ग -संघर्ष का सिद्धांत ।

9. **प्रतीकात्मक अन्त: क्रिया (Symbolic Interactionism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जिनकी सामाजिक अन्त: क्रियाओं का वस्तुनिष्ठ व्यवहार सम्बन्धों (Objective behavior relation) के संदर्भ में विवेचना की जाती है । चार्ल्स कूले, विलियम थॉमस, जार्ज हर्बर्ट मीड (G.H. Mead) आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के है ।

10. **सामाजिक क्रियावाद (Social Actionism)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जिनमे सामाजिक अन्त: क्रियाओं की व्यक्तिनिष्ठ व्यवहार सम्बन्धों (Subjective behavior relations) के सन्दर्भ में विवेचना की जाती है । मैक्स वेबर, पारसन्स आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के है ।

11. **प्रकार्यात्मक अनिवार्यवाद (Functional Imperativesm)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते है जो सामाजिक अन्त: क्रियाओं में भाग लेने वाली इकाइयों की प्रकार्यात्मक अनिवार्यता को उनके व्यक्तिनिष्ठ व्यवहार सम्बन्धों के संदर्भ में परिभाषित करते हैं । पारसन्स, मर्टन आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के है ।

जोनाथन टर्नर (Jonathan Turner)

जोनाथन टर्नर का कहना है कि वर्गीकरण की दृष्टि से सिद्धान्तों को हम चार श्रेणियों में रख सकते है । ये श्रेणियां है -

1. अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा (Meta - Theoretical Schemes)
2. विश्लेषणात्मक रूपरेखा (Analytical Schemes)
3. प्रस्तावपरक रूपरेखा (Propositional Schemes) और

4. प्रतिरूपण रूपरेखा (Modelling Schemes)

अब यहां हम इनके बारे में विस्तार से चर्चा करेंगें ।

1. **अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा (Meta Theoretical Schemes)** - सामान्य सिद्धान्त की तुलना मे अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा अपने स्वरूप में वृहद होती है । वास्तव में इस तरह की रूपरेखा हमे निश्चित एवं विशिष्ट घटनाओं या प्रसंगों के विश्लेषण में सहायक नहीं होती । अधि -सिद्धान्त तो केवल उन बुनियादी मुद्दों को उठाते हैं जिनका निरूपण किसी भी सिद्धान्त को करना चाहिए । इस दृष्टि से एक अच्छे सिद्धान्त के निर्माण के लिए अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा पूर्व आवश्यकता है । इस रूपरेखा में यह देखा जाता है कि घटनाओं के बारे में हमारी मान्यताएँ कैसी हैं? क्या ये मान्यताएँ महत्वपूर्ण हैं ' इससे आगे अधि -सिद्धान्तों में ऐसे प्रश्नों के उत्तर भी सिद्धान्त निर्माण से पहले हल करने होते है कि मनुष्य की बुनियादी गतिविधि क्या हैं? जिसे हमें सिद्धान्त में विकसित करना हैं ? समाज की बुनियादी प्रकृति क्या है? वे कौन से मूलभूत आधार हैं जो मनुष्यों को एक -दूसरे के साथ जोड़ते है ' इन प्रश्नों के उत्तर अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा में होते है । कहना चाहिए, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त इन प्रश्नों का उत्तर देता है । उदाहरण के लिए समाज में आदर्श बनाम यथार्थता आगमन बनाम निगमन, व्यक्तिनिष्ठ बनाम वस्तुनिष्ठ, आदि ऐसे बुनियादी मुद्दे हैं जिनका सिद्धान्त विवेचन करता है । पिछले कुछ दशकों में ऐसी ही अधि -सैद्धान्तिक रूपरेखा को कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, इमाइल दुर्खीम, टालकॉट पारसन्स आदि ने उभारा है।

2. **विश्लेषणात्मक रूपरेखा (Analytical Schemes)-** विश्लेषणात्मक रूपरेखा सैद्धान्तिक गतिविधि के नाम पर समाजशास्त्र में अवधारणाओं को संगठित करके कुछ वर्गीकरण रूपरेखाओं में रखा है । इन अवधारणाओं के बीच मे जो आनुभाविक व तार्किक सम्बन्ध है उनके विश्लेषण की रूपरेखा ही इस तरह के सिद्धान्तों को प्रस्तुत श्रेणी में रखती है । विश्लेषणात्मक रूपरेखाएँ एक समान नही है इनमें विविधताएँ है । इस विविधता के होते हुए भी ये अवधारणात्मक श्रेणियां अमूर्त है और इनका उद्देश्य समाज का विश्लेषण करना है । पारसन्स का व्यवस्था सिद्धान्त और हेमन्त का सह वर्गीकरण विश्लेषणात्मक रूपरेखा की श्रेणी में दृष्टान्त स्वरूप रखा जा सकता है ।

3. **प्रस्तावपरक रूपरेखा (Propositional Schemes)-** इस तरह के सिद्धान्त वे हैं जो दो या दो से अधिक चरों के बीच के सम्बन्धों को बताते हैं । इसमें यह बताया जाता है कि किस प्रकार एक चर में आने वाला परिवर्तन दूसरे चरों को भी प्रभावित करता है । प्रस्ताव परक रूपरेखा का बहुत अच्छा दृष्टान्त यह कथन है कि जब कोई समूह दूसरे बाहरी समूहों के साथ संघर्ष में होता है तो इस समूह की सुदृढ़ता बढ़ जाती है । इस कथन मे दो मुख्य गुण है : समूह की सुदृढ़ता और संघर्ष । जब इन दोनों के बीच के सम्बन्ध को बताया जाता है तो इसे प्रस्ताव परक रूपरेखा की कोटि में सम्मिलित किया जाता है । सभी सैद्धान्तिक उपागमों में प्रस्तावपरक रूपरेखाएँ बदलती रहती है । इस बदलाव का कारण सामान्यतया अमूर्तिकरण का स्तर होता है ।

टर्नर के अनुसार प्रस्ताव रूपरेखा को दो आयामों के आधार पर देखा जा सकता है ।

1. अमूर्तता के आधार पर और
2. आनुभविक तथ्यों के आधार पर ।

इन्हीं दोनो आयामों के आधार पर तीन सैद्धान्तिक रूपरेखाओ को देखा जा सकता है:

(i) स्वयं सिद्ध रूपरेखा (Axiomatic Formats)

(ii) औपचारिक रूपरेखा (Formal Formats)

(iii) आनुभाविक रूपरेखा (Empirical Formats)

4. **प्रतिरूपण रूपरेखा (Modelling Schemes)** - सामान्यता मॉडल में हम वास्तविकता का प्रतिरूपण प्रस्तुत करते है । विज्ञापनों में मॉडल काम में लिए जाते है । मॉडल एक लक्ष्य कों संदेश रूप में रखते है । विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को पहिन कर मॉडल विज्ञापित किये जाते है । विज्ञापनदाताओं का उद्देश्य होता है कि इन परिधानों को पहने हुए देखकर ग्राहक उनकी खरीद करें। कुछ इस तरह से सिद्धान्त में भी प्रतिरूपण होता है । उदाहरण के लिए जब हम आनुभविक प्रक्रियाओं को देखते है और उन्हें प्रस्ताव के रूप में रखते है और यह रखना जब एक चित्र की तरह रखना होता है तब यह, टर्नर की परिभाषा में प्रतिरूपण रूपरेखा है । समाजशास्त्र में मॉडल की परिभाषा के बारे में कोई सर्वसम्मति नहीं है । लेकिन फिर भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में कुछ गतिविधियां ऐसी है जिनमें हम अवधारणाओं और उनके सम्बन्धों को चित्रात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं । उदाहरण के लिए हम सर्वेक्षणों में आनुभविक तथ्य सामग्री को चित्रात्मक रूप में रखते है । चित्रात्मक मॉडल वस्तुत: अवधारणाओं के कार्य - कारण सम्बन्धों को बताते है ।

कोहन (Cohen)

कोहन ने अपनी पुस्तक 'माडर्न सोशल थ्योरी' (Moden Social Theory) में सिद्धान्तों को चार प्रकार का बताया है ।

1. विश्लेषणात्मक (Analytical)
2. मानदण्डात्मक (Normative)
3. वैज्ञानिक (Scientific)
4. तात्विक (Metaphysical)

पहले दो प्रकार के सिद्धान्तों को कोहन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं मानते ।

(1) विश्लेषणात्मक सिद्धान्त तर्कशास्त्र एवं गणितशास्त्र के समरूप होते हैं जो की वास्तविक विषयों के बारे में कोई कथन प्रस्तुत नही करते, अपितु ऐसे प्राकथनो के योग से बने होते है जो कि स्वयं में सत्य है और जिनके माध्यम से अन्य प्राकथनों का निर्माण सम्भव है ।

(2) मानदण्डात्मक सिद्धांना एक ऐसी आदर्श स्थिति की परिकल्पना करता है जिसको प्राप्त करन के व्यक्ताव्यक्तियों को प्रयास करना चाहिए । मानदण्डात्मक सिद्धान्त, क्या होना चाहिए' के पक्षधर हैं । ऐसे सिद्धान्त मूल्यों व आदर्शो की प्रस्थापना करना चाहते हैं जिससे कि मानवीय व्यवहार व सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चल सके । 'वादो (Isms) की स्थापना भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होती - है ।

(3) वैज्ञानिक सिद्धान्त एक सार्वभौमिक आनुभाविक कथन है जो कि दो अथवा दो से अधिक घटनाओँ में कार्य -कारण का संबध स्थापित करते है । इसका एक सरलतम उदाहरण यह है "जब जब ग घटित होगा तब तब ल भी घटित होगा " अत: यह कथन दो चरों के मध्य निर्भरता का अवश्यम्भावी प्रभाव दर्शाता है । एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सार्वेभौमिक इसलिए होता है क्योंकि यह उन स्थितियों के बारे में कोई कथन प्रस्तुत करता है जो कि स्थितियों की समरूपता होने पर वैसी ही होगी । वैज्ञानिक सिद्धान्त आनुभविक भी होते हैं । जब यह कहा जता है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त आनुभविक है तो उसका यह अर्थ होता है कि विशिष्ट घटनाओं से व्यापक एंव साधारण कथन का निर्माण संभव है और साथ ही सिद्धान्त जब आनुभविक होता है तो उसका परीक्षण सम्भाव्य है । आनुभविक आधार पर निर्मित कथनों का पुन: उसी आधार पर परीक्षण संभव न हो तो सिद्धान्त में परिवर्तन आवश्यक होता है अथवा उसका अस्वीकार कर नकारा जाता है ।

(4) तात्त्विक (Metaphysical) सिद्धान्त - इस सिद्धान्त एंव वैज्ञानिक सिद्धान्त के मध्य प्रमुख भेद यह है कि तात्त्विक सिद्धान्त का परीक्षण संभव नहीं है हालाँकि उसका तार्किक मूल्यांकन संभव है तात्त्विक सिद्धान्तों की भूमिका सुझावात्मक है, उनके द्वारा व्याख्या करने की प्रक्रिया व तर्कों की सरंचना को सशक्त प्रारूप प्राप्त होता है । विज्ञान की परिभाषा के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि विज्ञान आनुभविक है और साथ ही तार्किक भी । तर्क का स्वरूप व पद्धति तात्त्विक सिद्धान्त से प्राप्त होती है । समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आदर्श आधार प्राप्त नहीं कर सके है इसके अनेक कारण है ।

(5) कुछ सिद्धान्त विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों की तरह है जो कि पुनरुक्ति (Tautology) के अधिक नजदीक है । इनका आनुभविक परीक्षण संभव नही है । एक ऐसे सिद्धान्त का उदाहरण लें - 'सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भाग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है । ' यह सिद्धान्त सत्य होगा ही । इसके विपरित अगर यह कहा जाए कि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों में परस्पर निर्भरता की स्थिति की सीमाओं में किस सीमा तक भिन्नताएँ है तो हम पुनरुक्ति (Tautology) से दूर हटते जायेंगे और अगर हम यह कह सके कि किन स्थितियों में अन्तनिर्भरता की सीमाओं में भेद है तो वैज्ञानिक रूप से परीक्षण योग्य सिद्धान्त की ओर हम बढ़ते जायेंगे ।

(इ) दूसरा वह कारण जो कि समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के परीक्षण की परिधि में नहीं ला पाता वह यह है कि ये न तो सही मायने में सार्वभौमिक कथन है और न ही तथ्यों पर आश्रित कथन ।

अब यही पर एक अन्य महत्वपूर्ण वर्गीकरण -वृहद् एवं मध्यम मार्गीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करेंगे ।

वृहद सिद्धान्त एवं मध्यम मार्गीय सिद्धान्त
(Grand Theory and Middle Range Theory)

वृहत सिद्धांत - मर्दन ने इसकी चर्चा करते हुए वृहद सिद्धान्तों को एक ऐसा प्रयास माना है जो कि एकीकृत सिद्धान्त का निर्माण कर सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संगठन एंव सामाजिक

परिवर्तन की एकरूपता की व्याख्या कर सकें । समाजशास्त्र में वृहद सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्त्तक पारसन्स रहे है । उनके अनुसार इस सिद्धान्त का प्रमुख लाभ इसमें हैं कि यह प्रघटना को समझने के लिए एक व्यापक अभिमुखन प्रस्तुत करता है साथ ही इसके माध्यम से बिखरे हुए ओर व्यापक आनुभाविक विज्ञान को समन्वित किया जा सकता है । यह सिद्धान्त हमारे शान की कमियों को बताता है और आनुभाविक साधारणीकरण एवं आलोचना के आधारों को स्पष्ट करता है । साथ ही साथ उपकल्पनाओं के निर्माण में एवं समस्याओं का व्यवस्थित स्पष्टीकरण भी बृहद् सिद्धान्त के माध्यम से हो सकता है ।

मर्टन के अनुसार कालान्तर में पारसन्स ने इस बात को स्वीकार किया कि बृहद् सिद्धान्त, सिद्धान्त नही हैं क्योंकि ये किसी विशिष्ट उपकल्पना का निर्माण करने में असफल रहते है । यह केवल विशिष्ट समस्याओं के लिए एक साधारण अभिमुखन प्रस्तुत करता है । सी. राइट मिल्स ने वृहद् सिद्धान्त की आलोचना की है । मर्टन भी यह मानते हे अभी समाजशास्त्र में वृहद सिद्धान्त के निर्माण की परिस्थितियाँ नही उभरी है । उनके अनुसार समाजशास्त्र का विकास मध्य मार्गीय सिद्धान्तो के निर्माण द्वारा ही संभव है ।

मध्यम मार्गीय सिद्धान्त - मध्य मार्गीय सिद्धान्त की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय श्री रॉबर्ट के. मर्टन को ही है । मर्टन के शब्दों में 'मध्य मार्गीय सिद्धान्त वे सिद्धान्त हैं जो एक ओर दिन -प्रतिदिन के शोध में प्रचुर मात्रा में प्रगट होने वाले लघु किन्तु जरूरी कार्यनिर्वाही प्राक्कल्पनाओं (Working hypothesis) एवं दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संगठन व सामाजिक परिवर्तन में समस्त निरीक्षित समानताओं (observed uniformities) की व्याख्या करने वाले एक समन्वित सिद्धान्त को विकसित करने हेतु सब कुछ को सम्मिलित करते हुए किये गये व्यवस्थित प्रयत्नों के बीच में स्थित होते है। संक्षेप मे, यदि हम एक ओर दिन प्रतिदिन के शोध -कार्य में उपयोगी छोटी -मोटी प्राक्कल्पनाओं को रख एवं दूसरी ओर एक साथ अनेक सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने वाले समन्वित सिद्धान्तों को रखे तो मध्य मार्गीय सिद्धान्त का स्थान इन दोनों के बीच में होगा अर्थात वे न तो प्राक्कल्पनाओं की भाँति इतने लघु प्रकृति के होंगे कि उन्हें केवल मात्र एक कण चलाऊ सामान्यीकरण (Tentative Generalization) या निष्कर्ष के रूप में गना जाए और न ही वे इतने विस्तृत व समन्वित, सिद्धान्त होंगे जिनके आधार पर बहुत कुछ' की व्याख्या संभव हो । दूसरे शब्दों मे हम यह भी कह सकते हैं कि मध्य मार्गीय सिद्धान्त न तो छोटे -मोटे अध्ययनों या शोध -कार्यो के आधार पर निकाले गये सादे व सरल निष्कर्ष हें और न ही बहुत विस्तृत पैमाने में समस्त व्यवस्थित प्रयासों द्वारा प्रतिपादित समन्वित, व जटिल सिद्धान्त ही हैं, अपितु इन दोनो के बीच की स्थिति है ।

गोफमैन एवं वीयरस्टीड ने मध्य मार्गीय सिद्धान्त की आलोचना की है । उनकी आलोचना का प्रमुख आधार इस सिद्धान्त का सीमित क्षेत्र एंव उद्देश्य होना हैं । वे यह भी मानते है कि इस सिद्धान्त ने समाजशास्त्र को भिन्न -भिन्न टुकड़ों में बाँट दिया है क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्य क्षेत्रों को जोड़ने का प्रयास नही किया जाता न ही उसकी सार्थकता समझी

जाती है । इस सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख कमजोरी इसका सत्यापन के प्रति अत्यधिक रूझान माना गया है ।

वृहद सिद्धान्त एवं मध्य मार्गीय सिद्धान्तों की विशेषताएँ : -

(1) वृहद सिद्धान्त अमूर्तता एवं साधारणीकरण का ऊर्ध्वतम स्तर प्रस्तुत करता है। ये तथ्यात्मक कथनों अर्थात आनुभाविक एवं अवलोकित तथ्यों से सम्बन्धित नही होते अपितु सैद्धान्तिक कथनों का निर्माण करते है । पारसन्स का सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त वृहद् सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जबकि सापेक्ष अभाव का सिद्धान्त (Theory of Relative Deprivation) एवं संदर्भ समूह का सिद्धान्त मध्य मार्गीय सिद्धान्तों के उदाहरण हैं ।

(2) वृहद सिद्धान्त के आधारभूत विचार जटिल होते हैं । उदाहरण के तौर पर संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विचारक सामाजिक यथार्थ को समझाने के लिए सावयवी का प्रारूप स्वीकार करते है । सावयवी की स्वयं की एक जटिल संरचना है और यही संरचना की जटिलता वृहद सिद्धान्त का आधारभूत विचार भी है । अत: एक जटिलता दूसरी जटिलता को अधिक क्लिष्ट बनाती है । इसके विपरित मध्य मार्गीय सिद्धान्त आनुभाविक व अवलोकित तथ्यों पर निर्भर है । इससे इस सिद्धान्त का बोध सरलता से हो जाता है । तुलनात्मक रूप में सरल है । उदाहरण के तौर पर, संदर्भ समूह एवं सापेक्ष अभाव के सिद्धान्त (Theory of Relatives Deprivation) के आरम्भिक विचार यह हैं कि साधारणतया व्यक्ति कुछ अन्य व्यक्तियों को स्वयं के मूल्यांकन का आधार मान लेता है । अत: सारल्य मध्य मार्गीय सिद्धान्त की विशेषता हैं ।

(3) बृहद् सिद्धान्तों की प्रकृति विचारणीय (Speculative) है । मध्य मार्गीय सिद्धान्त आनुभविक तथ्यों से उभरने के कारण यथार्थत्मक है । वे तथ्यों के आधार पर निर्मित होते हैं । अत: ये सिद्धान्त विचारणीय (Speculative) नहीं होते ।

(4) वृहद् सिद्धान्तों का परीक्षण संभव नही है क्योंकि आधारभूत कथनों व सार्वभौमिक साधारणीकरणों का आनुभविक सत्यापन संभव नही होता । इसके विपरीत मध्य मार्गीय सिद्धान्त विभिन्न प्राक्कथनो के बीच अन्तर्समन्वता से जुड़े है और उनका आनुभविक सत्यापन संभव है ।

(5) वृहद सिद्धान्त की प्रकृति सर्व -समावेशता (All inclusive) की है । उदाहरण के तौर पर मार्क्स का सिद्धान्त हर प्रघटना को आर्थिक निर्णयवाद के आधार पर समझाता है और प्रकार्यवादी हर प्रघटना की व्याख्या उसकी प्रकार्यात्मक भूमिका के संदर्भ में करता है । मध्य मार्गीय सिद्धान्त व्याप्त सामाजिक स्थिति में से किसी एक की ही सीमित व्याख्या करता है और उसके अध्ययन का क्षेत्र भी सीमित होता है । मर्टन के द्वारा प्रस्थापित मध्यमार्गीय सिद्धान्त की अधिक स्वीकारोक्ति है जिसका प्रमुख कारण उसकी व्यवहारिकता एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण है ।

सूक्ष्म (Micro) एवं वृहद (Macro) सिद्धान्त

1980 के दशक से पहले अमेरिका के समाजशास्त्र में सूक्ष्म -वृहद् सिद्धान्तों को लेकर दो बड़े बड़े उभरकर सामने आये । कुछ सिद्धान्तवेत्ताओ ने सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को

दो श्रेणियों मे बाँट दिया । एक वे सिद्धान्त हैं जो सूक्ष्म (Micro) सिद्धान्त की श्रेणी में आते है और दूसरे वे जो बृहद् (Macro) श्रेणी में आते है ।

गुरविच के अनुसार सूक्ष्म समाजशास्त्र सामाजिक यथार्थ की सरलतम अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है जिसका प्रमुख केन्द्र बिन्दु सामाजिकता को माना जा सकता है । इसका अर्थ है विभिन्न तरीकों से पूर्णता से जुडना और पूर्णता द्वारा जुड़ना । इसके विपरित बृहद् समाजशास्त्र संपूर्ण सामाजिक यथार्थ एवं उसके विभिन्न संरचनात्मक तत्वों -समूह, वर्ग एवं. समग्र समाज और उनके भिन्न -भिन्न भागों की गहराइयों से जुड़ा है ।

सूक्ष्म समाजशास्त्र एवं वृहद् समाजशास्त्र का भेद अध्ययन की इकाई के आधार पर भी किया जाता है । पूर्ण समाज एवं प्रमुख संस्थात्मक संगठन बृहद् समाजशास्त्र के अन्तर्गत वर्गीकृत किए जाते हैं जबकि ऐसे अध्ययन जिनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन के लघु स्तरीय भागों से जुड़ा है, वे सूक्ष्म समाजशास्त्र के अन्तर्गत विभक्त किए गए है ।

सूक्ष्म (Micro) सिद्धान्त

सूक्ष्म (Micro) एक ऐसी अवधारणा है जिसमें केवल कोई एक सिद्धान्त हो ऐसा नही है। यह तो कई सिद्धान्तों की एक कोटि है । उदाहरण के लिए विनिमय सिद्धान्त, प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद और एथनोमेथडोलॉजी, जेसे कई सिद्धान्त हैं जिन्हें सूक्ष्म सिद्धान्तों की कोटि में रखा जाता है । निश्चित रूप से प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद, एथनोमेथडोलॉजी से भिन्न है, फिर भी इनमे एक बहुत बड़ी समानता यह है कि ये दोनो सिद्धान्त लघु समूहों का अध्ययन करते है । दोनो ही सिद्धान्त और इस अर्थ में सूक्ष्म सिद्धान्तो की कोटि में आने वाले सभी सिद्धान्त सूक्ष्म अन्त: क्रियाओं का अध्ययन करते है । इन सिद्धान्तों को एक सूत्र में बॉधने का काम व्यक्तियो के बीच में होने वाली अन्त: क्रियाएँ है ।

सूक्ष्म सिद्धान्त के कुछ बुनियादी तत्त्व निम्नलिखित हैं : -

(a) सूक्ष्म समाजशास्त्र का सरोकार समाज के विभिन्न भागों में होने वाली अन्त: क्रियाओं से है।

(b) आमने -सामने की अन्त: क्रिया

(c) सीमित फासला (Limited Space)

(d) सूक्ष्म समाजशास्त्र वैयक्तिक और व्यक्तिनिष्ठ होता है ।

(e) सूक्ष्म स्तर की सामाजिक वास्तविकता

(f) गतिविधि (Activity)

(g) भावात्मकता (Sentiment)

(h) रिवाज (Customs)

सूक्ष्म सिद्धानावेत्ताओं में ब्लूमर, जार्ज होमन्स स्कीनर गारफिकल आदि सम्मिलित है । सूक्ष्म सिद्धान्तीकरण का प्रभाव क्षेत्र बहुत वृहद् है । कहना चाहिए कि समाजशास्त्र के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का एक निश्चित स्वरूप भी है । उदाहरण के लिए जब हम प्रकार्यवाद सिद्धान्त की बात करते हैं तो इसका एक स्वरूप सूक्ष्म प्रकार्यवाद है और दूसरा वृहद् प्रकार्यवाद । इसी भांति संरचनावाद के भी दो सैद्धान्तिक प्रकार है : सूक्ष्म संरचनावाद और वृहद् संरचनावाद ।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रभाव क्षेत्र ऐसे भी हैं जो अनिवार्य रूप से सूक्ष्म सिद्धान्तीकरण के क्षेत्र में ही आते है । ऐसे प्रभाव क्षेत्रों में रेन्डाल कोलिन्स का विनिमय संघर्ष सिद्धान्त, होमन्स का विनिमय व्यवहारवाद, पीटर ब्लॉ का संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त हर्बर्ट ब्लूमर तथा मेमफोर्ड, कुह्न (Kuhn) का अन्त: क्रियावादी सिद्धान्त, इविंग गोफमेन का अन्त: क्रियावाद और ब्लूमर का एथनोमेथडोलॉजी सम्मिलित है ।

वृहद् (Macro) सिद्धान्त

बृहद् सिद्धान्तवेत्ता व्यक्ति को अपनी इकाई नही मानते । ये तो व्यक्तियों की सामूहिकता यानि समाज को अपने अध्ययन की इकाई समझते है । मिशेल (Mitchell) ने बृहत् समाजशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह पूर्ण समाज एंव संस्कृति एवं उनके प्रमुख अंगो का अध्ययन करता है और उनकी परस्पर तुलना भी । वास्तव में देखा जाऐ तो समाजशास्त्र के संस्थापक जनक, जिनकी 19वीं शताब्दी के यूरोप में समाजशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिया, लगभग सभी वृहद् समाजशास्त्री थे । इन बृहत् (Macro) सिद्धानावेत्ताओ में अगस्ट कॉम्टे, कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, इमाइल दुर्खीम और मैक्स वेबर सम्मिलित हैं । यह अवश्य है कि जिन विचारकों को हम वृहद् सिद्धान्तवेत्ता कहते है उन्होंने जटिल संगठनों समुदायो और शायद द्वैतियक समूहों का अध्ययन भी किया है ।

अधिकांश वृहद् सिद्धान्तवेत्ता प्रकार्यवादी रहे है । 20वी शताब्दी के प्रकार्यवादी वृहद् सिद्धानावेत्ताओं में टालकाट पारसन्स, रोबर्ट मर्टन, मेरियन जे. लेवी आदि सम्मिलित है । इन प्रकार्यवादियो ने व्यवस्था की अवधारणा का सामान्यीकरण करके वृहद् सिद्धान्त को परिभाषित किया है ।

जोनाथन टर्नर बड़े नपे तुले शब्दों मे वृहद् समष्टि (Macro Univese) को परिभाषित करते है । उनके अनुसार वृहद (Macro) वह है जिनमें निम्नतत्व पाये जाते है -

(a) विशाल भौगोलिक क्षेत्र

(b) व्यक्तियों की बड़ी संख्या जिनमें अधिकांश व्यक्ति आमने - सामने अन्त: क्रिया नही कर सकते और

(c) समय की लम्बी अवधि

सूक्ष्म -वृहद एकीकरण (Micro -Macro Integration)

हाल में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तीकरण में यह सोच विकसित हो रहा है कि सूक्ष्म व वृहद् के बीच जो फासला है उसे कम से कम मध्यम स्तर तक तो लाना ही चाहिए । जब दोनो के उद्देश्य ' 'यथार्थता को समझना ' है तो इस फासले का कोई अर्थ नहीं है । जोनाथन टर्नर का तर्क है कि इन दोनो सिद्धान्तों को जोड़ने वाली कड़ियों को उनकी पहचान करनी चाहिए । इन दोनो मे एकीकरण करने की प्रक्रिया या खोज को टर्नर मध्यम विश्लेषण यानि मेसो विश्लेषण (Meso Analysis) कहते है । अंग्रेजी शब्द मेसो का मतलब हे मध्यम मार्ग या मध्य स्तरीय सिद्धान्तीकरण ।

यद्यपि रोबर्ट मर्टन ने मध्य मार्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) का सुझाव दिया है, लेकिन ऐसा करने में कहीं भी उन्होंने सूक्ष्म बनाम वृहद् (Micro VS Macro) सिद्धान्तों की बात नही की है ।

3.03 सारांश

इस समूची इकाई में आपने यह जाना कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कितने प्रकार के है । आपने यह भी समझ लिया होगा कि सिद्धान्तों के वर्गीकरण का कोई भी एक निश्चित आधार जो सबको स्वीकार हो पक्का करना मुश्किल है । अत: सिद्धान्त के वर्गीकरण में व्यापक रूप से प्रभेद हैं । डॉन मार्टिनडेल, वाल्टर वालैस, जोनाथन टर्नर, कोहन आदि विद्वानों ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को अलग -अलग आधारों पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया है । बृहद (Grand) बनाम मध्यम मार्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) एवं सूक्ष्म (Micro) बनाम वृहद् (Macro) सिद्धान्त के रूप में भी विस्तार से चर्चा की गई है । प्रत्येक प्रतिष्ठित सिद्धान्वेता ने अपनी आनुभाविक और विश्लेषणात्मक समझ के अनुसार सैद्धान्तिक वर्गीकरण किया है । निश्चित रूप से कोई भी वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है । जहाँ एक ओर प्रकार्यवादी सिद्धान्तवेत्ता समाज को एक व्यवस्था और सर्वसम्मत्ति के रूप में रखते है, वहीं संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता यह प्रस्तुत करते है कि निहित या व्यवस्थागत हितों के कारण समाज में अन्तनिर्हित विरोध है और जब तक व्यस्था बदली नही जाती संघर्ष का कोई निदान नही है । सिद्धान्तों के इस वर्गीकरण में दो बातें बहुत स्पष्ट है । पहली तो यह कि समाज और व्यक्ति की लम्बी बहस में कुछ सिद्धानादेता व्यक्ति या सूक्ष्म को अपना केन्द्र बनाते है और कुछ समाज को अपना केन्द्र । आपने यह जाना कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र में आधुनिक प्रवृत्ति का भी पता चलता है । आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि इसके सिद्धान्तकार आज पहले जमाने की भाँति तात्विक (Mata physical) या दार्शनिक आधारों पर नही अपितु निरीक्षण - परीक्षण, प्रयोग व वर्गीकरण की अध्ययन -पद्वति को अपनाते हुए वास्तविक, पर्याप्त व निर्भरयोग्य (Reliable) तथ्यों के आधार पर आनुभाविक या प्रयोग सिद्ध सामान्यीकरण (Empirical generalization) के द्वारा ऐसे सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने में रूचि ले रहे हैं जो घटनाओं के कार्य -कारण सम्बन्ध को तर्कसंगत रूप मे स्पष्ट कर सकें । आज सामाजिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा आधुनिक सिद्धान्तकारो की रूचि 'मध्य मार्गीय सिद्धान्तों (Middle Range Theories) को प्रतिपादित करने की दिशा में बढ़ती जा रही हे ।

अत: विभिन्न प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को जानकर समाज की वास्तविकता को जाना जा सकता है।

3.04 बोध प्रश्न

1. डॉन मार्टिनडेल के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों क प्रकार बताइये ।
2. वाल्टर वालैस ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का वर्गीकरण का उल्लेख किस प्रकार किया है?

3. वृहद सिद्धान्त (Grand Theory) एवं मध्यम मार्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) की अवधारणा की विवेचना कीजिए ।
4. सूक्ष्म (Micro) एवं वृहद् (Macro) सिद्धान्त की अवधारणा की विवेचना कीजिए ।

3.05 सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉन मार्टिनडेल : द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोशियोलोजीकल थ्योरी, हफटन मिफलिन वोस्टन, 1960
2. कोहन, परसी एस. : मोडर्न सोशल थ्योरी, लन्दन : हनिमेन 1979
3. नरेन्द्र कुमार सिंधी : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त -विवेचन एवं व्याख्या, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, 1998
4. एस. एल. दोषी एवं : उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, एस. एस. त्रिवेदी जयपुर एवं नई दिल्ली, 1996
5. मर्टन, रोबर्ट के. : सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर, न्यूयोर्क: फ्री प्रेस, 1968

इकाई - 4

सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.01 प्रस्तावना: सिद्धान्त निर्माण

4.02 सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषा

4.03 सिद्धान्त निर्माण की विशेषतायें

4.04 सिद्धान्त निर्माण के तत्व

4.05 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया

4.06 सिद्धान्त निर्माण की समस्याएँ

4.07 सारांश

4.08 बोध प्रश्न

4.09 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया को समझ सकेंगे ।
- समाजशास्त्र कुछ सामान्य कथनों को ढेर मात्र नहीं है, कुछ अवलोकित घटनाओं का वर्णन मात्र नहीं है बल्कि उन व्यापक सिद्धान्तों का एक व्यवस्थित विज्ञान है जिसकी सहायता से हम मानव समाज, संस्कृति, सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक व्यवहार को सही परिप्रेक्ष्य में समझ पाते हैं । सिद्धान्त -निर्माण की प्रक्रिया इसकी व्याख्या कर सकेगी ।
- सिद्धान्त आगे के अवलोकन एवं सामान्यीकरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं । इसका विश्लेषण कर सकते हैं ।
- काल्पनिक विचारधाराओं के धरातल से ऊपर उठकर आनुभविक सिद्धान्तों (Empirical theories) और नियमों (Laws) की दशा में आगे बढ़ पायेंगे ।

4.01 प्रस्तावना: सिद्धान्त निर्माण

प्रत्येक विज्ञान अपनी विषय -वस्तु के अध्ययन, विवेचन, वर्णन एवं विश्लेषण के लिए वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुशीलन हेतु कतिपय सिद्धान्तों (Theories) की रचना करता है । ये सिद्धान्त सम्बन्धित विषय की विकास -यात्रा के उल्लेखनीय सीमा चिन्ह बन जाते हैं । इनकी सहायता से एक अध्ययनकर्ता विभिन्न समस्याओं को उनके समग्र परिप्रेक्ष्य में समझ पाता है । सिद्धान्त प्रत्येक शास्त्र के केन्द्रीय आधार स्तम्म है । नींव के पत्थर रूपी ये सिद्धान्त जितने अधिक विश्वसनीय, सुदृढ़ एवं प्रामाणिक होगे उतनी अधिक उस शास्त्र की प्रतिष्ठा होगी । प्राकृतिक विज्ञान इसके श्रेष्ठतम उदाहरण कहे जा सकते हैं । समाजशास्त्रीय सिद्धान्त यद्यपि

प्राकृतिक विज्ञानो की प्रतिष्ठा तक न पहुंच पाए हैं किन्तु फिर भी सामाजिक विज्ञान -वेत्ता इस दिशा में आज भी निरन्तर प्रयत्नशील है ।

सिद्धान्त -निर्माण की प्रक्रिया भूतकाल से ही चली आ रही है । इतना अवश्य है कि सिद्धान्त -निर्माण के आधार समय -समय पर बदलते रहे हैं । प्रथम अवस्था में सिद्धान्त -निर्माण का आधार धार्मिक (Theological) था, द्वितीय अवस्था में यह आधार तात्विक (Metaphysical) था तथा वर्तमान में इसका आधार वैज्ञानिक (Scientific) है । सिद्धान्त -निर्माण का मुख्य लक्ष्य घटना -क्रम के स्वरूप को समझना, विश्लेषण करना, व्याख्या: करना, इनके माध्यम से प्रघटनाओं पर नियन्त्रण करना एवं भविष्यवाणी करना रहा है । समाज विज्ञान की प्रगति के लिये औपचारिक सिद्धान्त निर्माण आवश्यक है । समाजशास्त्र के सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया का इतिहास कोई बहुत पुराना नहीं है । जब प्राकृतिक विज्ञानों में वस्तुनिष्ठवाद (Positivism) आया, तब वैज्ञानिकों का लक्ष्य था कि प्रकृति के सुचाय रूप से चलने मे जो नियमितता पाई जाती है वैसी ही नियमितता (Order lines) सामाजिक सम्बन्धों में भी देखी जा सकती है ।

सामाजिक विज्ञानों में सिद्धान्त निर्माण के प्रकार को वस्तुनिष्ठवादी कहा जा सकता है क्योंकि इसमे वस्तुनिष्ठवाद की विभिन्न अवधारणाएँ मौजूद है । इस वजह से इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है संक्षेप में:

(i) सिद्धांतों औपचारिक ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिए (Theories should be stated formally);

(ii) सिद्धान्तों को परीक्षण -योग्य होना चाहिए (Theories should be testeable);

(iii) सिद्धान्तों का मूल्यांकन करने की प्राथमिक कसौटी उनकी भविष्यवाणी करने की क्षमता होनी चाहिए (Prediction Power should be the primary criterion for assessing theories)

अत: सामाजशास्त्र में और मोटे रूप मे सामाजिक विज्ञानों में वस्तु निष्ठावाद का जो स्वरूप पाया जाता है उसके अनुसार यह प्रयास होने लगा कि समाज की नियमित खोज की जाए । किन्हीं कारणों से वस्तुनिष्ठावाद अधिक नहीं चल पाया । इसका विरोध स्वरूपवाद (Formalism) ने किया । स्वरूपवादी सिद्धान्तवेता अंतरवस्तु (Content) को कोई महत्व नहीं देते थे । सामाजिक सिद्धान्त निर्माण में स्वरूपवादी भी असफल हो गए । वे स्वरूप (Form) और अंतरवस्तु (Content) को पृथक करने में उलझ गए । पूर्व सिद्धान्तों की आलोचनाओं के रूप में सामाजिक व्यवहारवाद की विचारधारा का जन्म हुआ जिसने स्वरूपवाद का विरोध किया।

पिछले एक दशक से समाजशास्त्र में सिद्धान्त निर्माण पर कुछ गम्भीरता से काम हो रहा है । इसी के परिणामस्वरूप समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिक जगत में कुछ नवीन विधाओं का सूत्रपात हुआ है

4.02 सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य भाषा मे सिद्धान्त (Theory) शब्द का प्रयोग एक ऐसे नियम के रूप में किया जाता है, जिसमें वैज्ञानिक सत्यता व सर्वव्यापकता रहती है । सिद्धान्त सामाजिक यथार्थ को समझने में अत्यधिक सहायक होते हैं । सिद्धान्त का आधार तथ्य (Fact) होता है । सिद्धान्त की सबसे छोटी इकाई तथ्य (Fact) है । एक जैसे तथ्यों से मिल कर अवधारणा (Concept) बनती है । तार्किकता की दृष्टि से सिद्धान्त वह है कि जिसमें अन्तर्सम्बन्धित अवधारणा हो । यहां सिद्धान्तों में प्रयुक्त कुछ अवधारणाओं का उल्लेख किया जा रहा है

वर्णन (Description) : वर्णन का अर्थ उस विवेचन से है जिसमें कि एक घटना के अस्तित्व अथवा परिवर्तन की व्याख्या किये बिना ही उस घटना विशेष की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है ।

प्रारूप (वर्गीकरण) (Typology) : यह एक विशिष्ट घटना से संबंधित विशिष्टताओं के एक समूह का प्रतिनिधित्व करता है ।

मॉडल (प्रतिरूप) (Model) : मॉडल को कभी -कभी प्रारूप भी समझ लिया जाता है । मॉडल्स कम मात्रा में आनुभविक अवलोकन पर आधारित होते हैं ओर साथ ही ये विशिष्टताओं के बीच में अन्तर्सम्बन्धों को परिभाषित भी करते हैं । इनमें भी व्याख्यात्मक शक्ति का अभाव होता है।

भविष्यवाणी (Prediction) : इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता मौजूद होती है । एक व्यक्ति की चर के संबंध में क्या स्थिति होगी इस संबंध में भविष्यवाणी उस व्यक्ति की 'X' चर के संबधी में स्थिति के ज्ञान के आधार पर की जा सकती है । इस भविष्यवाणी का आधार पहले के आनुभविक सह -संबंध होते हैं जिनको कि इन दो चरों के बीच अवलोकित किया गया है ।

अवधारणात्मक ढांचा (Conceptual Framework) : अवधारणात्मक ढांचों को अक्सर सिद्धान्तों के रूप मे समझा जाता है, परन्तु अवधारणात्मक ढांचा एक विशिष्ट दृष्टिकोण के सन्दर्भ में जो कि मुख्य प्रासांगिक चरों को विशेष रूप से व्यक्त करता है, घटनाओं की अवधारणात्मक रूप प्रदान करने के तरीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं । ऐसा ढांचा फिर भी, इसके चरों के आन्तरिक सम्बन्धों की व्याख्या करने की उपेक्षा करता है ।

सामान्य शब्दों में सिद्धान्त एक ऐसा नियम होता है जिसमें वैज्ञानिकता, सत्यता और सर्वव्यापकता होती है । ये सिद्धान्त तथ्यों एवं प्रघटनाओं को समझाने में बहुत अधिक सहायता करते हैं । अनेक लेखकों ने जिन्होंने कि सिद्धान्त की परिभाषाओं को विकसित करने की दिशा में प्रयत्न किया है, औपचारिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की निम्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की है । इन परिभाषाओं को देते समय ये विद्वान औपचारिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की अनौपचारिक, वैचारिक तथा अपरीक्षणीय प्रकार की परिभाषाओं के साथ तुलना करने में निरन्तर जागरूक रहे है । जहोडा ने लिखा है, 'सिद्धान्त शब्द' का आधुनिक विज्ञान के अन्तर्गत जो स्वरूप है, उसे इस शब्द के अन्य प्रचलित स्वरूपों अर्थात् अर्थों से पृथक किया जाना अत्यन्त आवश्यक है । बोलचाल की भाषा में प्राय: सिद्धान्त का अर्थ अनुमान से लगाया जाकर यह धारणा बनाई जाती

है कि जो कुछ सैद्धान्तिक है, वह सब अवास्तविक एवं स्वप्नमयी है । सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने लिखा है -

'सामाजिक घटना के बारे में एक ऐसा सामान्यीकरण जो पर्याप्त रूप में वैज्ञानिकतापूर्वक स्थापित हो चुका हैं, तथा समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए विश्वसनीय आधार बन सकता है । "

फेयरचाइल्ड की इस परिभाषा से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि ' 'किसी एक सामाजिक घटना को व्यवस्थित अध्ययन कर एक ऐसा वैज्ञानिक सामान्यीकरण प्राप्त किया जाता है जो भविष्य में उसी तरह की सामाजिक घटना को समझने के लिए एक विश्वसनीय आधार बन सके । "

रार्बट के मर्टन का मत है कि व्यवस्थित सिद्धान्त प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विभिन्न भागों का संग्रह हैं, जो आनुभविक शोधकार्य द्वारा जांच के बाद भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है । मर्टन ने सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए लिखा है कि -

'समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तर्क पर आधारित अवधारणाएँ है, जो क्षेत्र की दृष्टि से सीमित व आडम्बरहीन है, न विशाल एवं समग्र को शामिल करने वाली । "

फेरसिस एवं रिचन ने बताया है 'सिद्धान्त तर्कवाक्यों (Preposition) की ऐसी योजना है जो अन्त: संबंधित है । " तर्कवाक्यो से यहां तात्पर्य चरों (variables) मे अन्तर्निहित सम्बन्ध को प्रकट करने वाले एक सत्यापित कथन -(verified statement) से है । लेखकों ने आगे बताया है कि ये सत्यापित तर्कवाक्य इस तरह क्रमबद्ध किये जाते है कि उच्चस्तरीय तर्कवाक्यों के आधार पर निम्नस्तरीय कथनों को प्राप्त अथवा निर्गमित किया जा सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त में काम में लिये गये विभिन्नस्तरीय तर्कवाक्यों में सत्यापन की मात्रा संबधी अन्तर होता है और यही कारण है कि उच्चस्तरीय निम्नस्तरीय तर्कवाक्यों की व्याख्या में मददगार होता हैं ।

पी.एस.कोहन ने वैज्ञानिक सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए बताया है, ' 'आदेश रूप में एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सार्वभौमिक, आनुभविक कथन है जो दो या दो से अधिक प्रघटनाओं के बीच कार्य -कारण के संबंधों को प्रकट करता है ।" स्पष्ट है कि सिद्धान्त ऐसे कथन है जो दो घटनाओं के बीच कार्य व प्रभाव के सम्बन्धों को बताते हैं ।

विद्वानों द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त की परिभाषाओं में कुछ सामान्य विशेषता पायी जाती है, जैसे, अमूर्तता (abstractness), तर्क (logic), प्रस्थापनाएं या तर्कवाक्य (proposition), व्याखाएँ (explanation), संबंध (Relationship), तथा वैज्ञानिक समुदाय द्वारा स्वीकृत (acceptance by the scientific community) । विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान मे रखते हुए ही काइनलोच ने अपनी पुस्तक 'sociological theory" में सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक सिद्धान्त अर्मूत एंव तर्कसंगत तर्कवाक्यों (proposition) का एक समूह हैं जो प्रघटनाओ के मध्य संबंधों की व्याख्या करने

का प्रयत्न करता है ।" (A theory is a set of abstract and logical proposition which attempts to explain relationship between phenomena.)

4.03 सिद्धांन्तों की विशेषताएँ

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो की विशेषताओं को अनेक विद्वानों जैसे एस.कोहेन, टालकॉट पारसन्स, राबर्ट के.मर्टन एवं अत्र ने अपने मतानुसार प्रस्तुत किया है । लेकिन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की कुछ विशेषताएँ हैं जिन्हें लगभग समस्त समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं ।

1. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों के समान नहीं होते अर्थात ये विशुद्ध वैज्ञानिक नहीं होते ।
2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में कुछ सिद्धान्त विश्लेषणात्मक होते हैं एवं कुछ सामान्य ।
3. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभविकता (Empirical) एवं कार्य -कारण (causal) से सम्बन्धित होने चाहिए । अर्थात ये सिद्धान्त ऐसे हों जिनकी आनुभविक जांच की जा सके।
4. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का सम्बन्ध सामाजिक यर्थाथ (Social Relaity) से होना चाहिए ।
5. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का आधार तथ्य (Fact) होना चाहिए ।

समाजशास्त्र पिछले कुछ वर्षो से संकट के युग से गुजर रहा है । उन देशो में जहां कि समाजशास्त्र ने विकास का इतिहास बनाया है, पूर्व स्थापित समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आज चुनौतियों के बीच खड़े हैं । इसके कारण है । पहला कारण तो यह कि वे सिद्धान्त जो बहुत पहले निर्मित हुए थे आज उनमें वैज्ञानिकता का अभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है । आवश्यकता इस बात की है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो की वैज्ञानिक विधियों के अनुरूप सत्य सिद्ध बनाया जाए एवं साथ ही साथ वर्तमान मध्यवर्गीय संस्कृति की वास्तविकता, औद्योगिक समाज का तनावपूर्ण जीवन, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कारण आदि सबको समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्माण में स्थान दिया जाना चाहिए ।

4.04 सिद्धान्त निर्माण के तत्व

सिद्धान्त निर्माण एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो प्राचीनकाल से ही चल रही है । इसके माध्यम से वैज्ञानिक यह स्पष्ट करने की स्थिति में पहुंच जाते हैं कि प्रघटनाएं क्यों घटित होती है, उनके पीछे क्या कारण है । सिद्धान्त तर्क -वाक्यों' प्रस्थापनाओं या सैद्धान्तिक कथनों का एक समूह होता है । इस प्रकार सिद्धान्त विचारों के विकास की प्रक्रिया है । सिद्धान्त निर्माण के लिए कुछ तत्वो की आवश्यकता होती है, यही वे रचना खंड (Building Block) हैं, जिनसे सिद्धान्त की रचना या उसका निर्माण किया जाता है । प्रमुख रूप से इन तत्वों को निम्न श्रेणियों में रखा जा सकता है -

1. अवधारणाएँ या इकाई (Concept of units)
2. चर (variable)
3. निशिछियात्मक कथन (Assertions or Statement)
4. परिभाषाएं एवं कड़ियां (Definitios & Linkages)
5. आकार (Formats)

यहां इन पांचो तत्वों की विस्तृत विवेचना करेंगे ।

1. अवधारणाएँ या इकाई (concepts or units)

सिद्धान्त रचना एक प्रक्रिया है इसके विभिन्न चरण (steps) है । प्रत्येक चरण में सिद्धान्त निर्माण में विशेष तत्वों द्वारा योगदान दिया जाता है । अवधारणाएँ या इकाई सिद्धान्त निर्माण का सबसे प्रमुख तत्व है । अवधारणाएं घटनाओं को प्रदर्शित करती है । अवधारणा वह प्रतीक या शब्द (या शब्द समूह) है जिसके द्वारा किसी यथार्थ का बोध होता है । जैसे समूह (group) की अवधारणा से दो या दो से अधिक व्यक्तियों का बोध होता हैं । इसी प्रकार नेतृत्व (Leadership), शक्ति (power) आदि अवधारणाएँ समाजशास्त्र में पाई जाती है । समाजीकरण (socialization) की अवधारणा से हम समझते हैं कि व्यक्ति भूमिका कैसे प्राप्त करता है । अपराध (crime) की अवधारणा से हम यह समझते हैं कि व्यक्ति के व्यवहार से कैसे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं कानूनी हानि पहुंचती है । सामाजिक भूमिका (social role) से हम समझते हैं कि व्यक्ति क्या करता है? यथार्थ को सीमित करके प्रतीक या शब्दों से यथार्थ को समझना अवधारणा का उद्देश्य है ।

सिद्धान्त निर्माण में अवधारणा का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता हे जैसे किसी भवन निर्माण में ईंटों (Brick) को प्रयोग किया जाता हैं । अवधारणाओं से यथार्थ परिभाषित ओर वर्गीकृत होता है ।

सामान्यत: अवधारणाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

(अ) वास्तविक अवधारणाएँ (Referent concepts)

(ब) अवास्तविक अवधारणाएँ (Non -Referent concepts)

वास्तविक अवधारणों से ठोस, वास्तविक एवं तथ्यगत घटनाओं का बोध होता है, जैसे -अपराध, संघर्ष विघटन आदि

अवास्तविक अवधारणाओं से ऐसे गुण या वस्तु का बोध होता है जो वास्तविक जगत में दिखाई नहीं पड़ती, परन्तु सिद्धान्त निर्माण या यथार्थ की व्याख्या करने मे उनका प्रयोग किया जाता है, जैसे ईश्वर, स्वर्ग -नरक आदि । इनका ठोस अस्तित्व तो नहीं होता किन्तु इनसे सामाजिक घटनाओं की समझ अवश्य होती है ।

अवधारणाओं की अमूर्त प्रकृति के कारण सामाजिक अनुसंधान में एक समस्या खड़ी हो जाती है । हर क्षण बदलने वाले जगत के विषय में अवधारणाएँ किस प्रकार आवश्यक ज्ञान प्रदान कर सकती है, इस कठिनाई को दूर करने के लिए कार्यकारी परिभाषा (Operation definition) या अवधारणाओं का निर्माण किया जाता है । अपनी आवश्यकतानुसार वैज्ञानिक घटनाओं की कार्यकारी परिभाषा बना लेता है । उसके अध्ययन में किसी अवधारणा से केवल वही ओर उतना ही समझा जायेगा जितना कि कार्यकारी परिभाषा में वह रखना चाहता है । जैसे किसी अध्ययन में 'अपराधी' (criminal) की कार्यकारी है ।" मरीज वह है जो किसी अस्पताल में रोगी की हैसियत से पंजीकृत किया गया है ।" 'ग्रामीण नेता वह है जो निर्वाचन द्वारा किसी स्थानीय निकाय का पदाधिकारी चुना गया है ।" इस प्रकार अवधारणाएँ एवं उनकी कार्यकारी परिभाषाएँ सिद्धान्त निर्माण का प्रथम महत्वपूर्ण तत्व मानी जाती है ।

2. चर (variable)

सिद्धान्त निर्माण का दूसरा प्रमुख तत्व 'चर' (variable) है । चर भी एक प्रकार की अवधारणा ही है । अवधारणाएँ दो तथ्य प्रकट करती हैं । प्रथम, यह घटनाओं का केवल नामकरण करती है । द्वितीय, घटनाओं में अंशों का अंतर प्रकट करती है, जैसे 'अधिक संयुक्तता वाले परिवार', 'कम संयुक्तता वाले परिवार' । इस प्रकार की अवधारणाओं को चर कहा जाता है । दो या दो से अधिक चरों में जब सह -सम्बन्ध पाया जाता हे जो उसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है ।

(अ) सहभागी सम्बन्ध (symmetrical relationship) जिस प्रकार अ का सम्बन्ध -'ब' से है, उसी प्रकार 'ब' का सम्बन्ध अ से है । जैसे समूह के सदस्यों में समानता बढ़ेगी तो उनमे एकता भी बढ़ेगी अथवा समूह मे एकता अधिक होगी तो सदस्यों मे समानता भी अधिक होगी ।

(ब) असमभागी सम्बन्ध (Non - symmetrical relationship): अ का जिस प्रकार का सम्बन्ध 'ब' से है, 'ब' का उसी प्रकार का सम्बन्ध 'अ' से नहीं है । जैसे कीटाणु से ज्वर उत्पन्न होता है, लेकिन ज्वर से कीटाणु उत्पन्न नहीं होते ।

3. निश्चयात्मक कथन (Assertion or statements)

सिद्धान्त का उद्देश्य घटनाओं का वर्णन ही नहीं बल्कि उनकी व्याख्या व विश्लेषण करना होता है । सैद्धान्तिक कथनो के विकास का अर्थ है कि हम वर्णन से विश्लेषण की ओर आ गये है । ज्यों ही दो चरों के मध्य (या दो अवधारणाओं के मध्य) सह -सम्बन्ध दिखाया जाता है, त्यों ही हम कुछ भविष्यवाणियां या स्पष्टीकरण प्रारम्भ कर सकते हैं ।

समाज विज्ञानों के सन्दर्भ में हम कुछ उदाहरणों से स्पष्ट कर सकते हैं । सामाजिक संघर्ष (social conflict) एक चर है । सामाजिक संगठन' (social organization) एक अन्य (दूसरा) चर है । तथ्यों के आधार पर हम यह पाते है कि सामाजिक संघर्ष एवं सामाजिक संगठन एक दूसरे से सम्बन्धित है, अत: निश्चयात्मक कथन निम्न प्रकार के हो सकते हैं

(क) दूसरे समूहों से संघर्ष जितना बढ़ता जाएगा, अपने समूह में एकता उतनी ही बढ़ती जाएगी।

(ख) शहरी या नगरीय केन्द्रों से सम्बन्ध जितने निकट होते जाऐगें अपराध की मात्रा उतनी ही बढती जाएगी ।

(ग) व्यक्ति सामूहिक दबाव से जितना मुक्त होता जाएगा, उसका जीवन उतना ही अधिक विचलनशील होता जाएगा ।

ये समस्त उदाहरण निश्चयात्मक कथन के हैं । इसी प्रकार के कथनी के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है । इन्हें सैद्धान्तिक कथन भी कहा जाता है ।

4. परिभाषाएँ एवं कडियाँ (definition of linkages)

सिद्धान्त -निर्माण का चौथा तत्व परिभाषाएँ एवं कड़ियाँ है । परिभाषाओ द्वारा सामाजिक आभास को अर्थ एवं माप देकर हमारे वर्णन व विश्लेषण में सहायता पहुंचाई जाती है। अवधारणा के नाम पर एक परिभाषा अस्पष्ट हो सकती हैं, किन्तु इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए किया गया अतिरिक्त कार्य सम्भवत: परम वांछनीय है । यह इस बात का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि कुछ नवीन बातें जोड़ी गई है । जब हम अपनी अवधारणाओं को व्यस्थित कर

लेते हैं तो हमें दूसरा लक्ष्य प्राप्त हो जाता है कि हम पुनरुक्ति से बच जाते हैं (Elimination of Tautology)। परिभाषाएँ सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की हो सकती है ।

कड़ियों (Linkages) द्वारा सामाजिक आभास के हमारे विश्लेषण मे विस्तार एवं जांच योग्यता प्रस्तुत करके 'सहायता दी जाती है । यह कार्य सरल नहीं है, किन्तु इतना उपयोगी एवं लाभप्रद है कि इसके लिए किया गया प्रयास बेकार नहीं जाता । अन्त मे कथनों एव कड़ियों को भूमिकाओं या समीकरणों में व्यवस्थित करने से हमे यह जानने में सहायता मिलती है कि क्या हम अपने चिन्तन में असंगत रहे थे ।

5. आकार (Formats)

सिद्धान्त निर्माण का अन्तिम तत्व उसे व्यवस्थित रूप से संगठित कर एक आकार (formats) देना होता है । तथ्यों पर आधारित सामान्य निष्कषों को तार्किक ढंग से क्रम देते हैं । यह कार्य अत्यन्त कठिन होता है । सामाजिक विज्ञानों में दो प्रकार के सिद्धान्तिक आकार दिये जा सकते हैं -

(अ) सुक्तिमय आकार (Axiomatic form)

सुक्तिमय आकार अत्यन्त सूक्ष्म एवं अवधारणाओं पर आधारित होता है । अवधारणाओं की एक शृंखला बनाई जाती है । अत्यन्त व्यापक अवधारणाएँ ऊपर रखी जाती है और उनके आधार पर दूसरे कथन प्रमाणित किये जाते हैं । प्रत्येक तर्क -वाक्य एक विधि के समान होता है । जैसे समाज एक व्यवस्था है । व्यवस्था होने के कारण , इसके सभी अंग अन्तर्सम्बन्धित होते है । व्यवस्था का प्रत्येक अंग किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है जब समस्त अंग आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे तभी समाज संगठित एवं व्यवस्थित होगा ।

इस प्रकार सुक्तिमय आकार एक तार्किक - 'व्यवस्था होती है । अधिक सामान्य निष्कर्षों से कम सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते है और उन सभी निष्कर्षों को तर्क -संगत विधि से सूत्रबद्ध किया जाता है ।

(ब) कारणता का आकार (causal form)

सामाजिक विज्ञानों मे कारणता या कार्य -कारण पर सिद्धान्त बनाना बहुत कठिन होता है । इसमें एक चर का सिद्धान्त दूसरे चर से दिखते हुए को कारण एवं दूसरे का कार्य बताया जाता है । कारण -कार्य पर आधारित सिद्धान्त इसलिए कठिन होता है कि सामाजिक घटनाओं के विषय में कारण -कार्य बहुत स्पष्ट नहीं होते हैं, लेकिन समाज वैज्ञानिक अपनी आवश्यकता के अनुसार कारण -कार्य को परिभाषित कर लेता है ।

किसी दिए हुए सन्दर्भ में वह यह स्थापित कर सकता है कि अमुक घटना कारण और अमुक घटना उसका परिणाम है । जैसे बेरोजगारी कारण है और उसका परिणाम है नगरीयकरण। इस प्रकार हम देखते है कि इन तत्वों के आधार पर एक सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है।

आर.के.मर्टन ने सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया के संबंध मे बताया है कि "केवल उसी अवस्था में जबकि अवधारणाएँ एक योजना के रूप में अन्त: सम्बन्धित हो जाती है, तभी से

सिद्धान्त का निर्माण प्रारम्म हो जाता है ।" मर्दन के इस कथन से स्पष्ट है कि सिद्धान्त निर्माण के दो प्रमुख चरण है :

1. आनुभविक सामान्यीकरणों को अवधारणों के रूप में संजोना ।
2. तार्किक रूप से अन्त: सम्बन्धित तर्कवाक्यों का सूत्रीकरण ।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि जब आनुभविक रूप से अवलोकित प्रघटनाओं को अमूर्त अवधारणों तथा चरों के द्वारा निर्मित तर्कवाक्यों के माध्यम से अमूर्तता के उच्च स्तर पर रखा जाता है, तब सिद्धान्त का निर्माण होता है । इसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं ।

अवधारणा → चर → कथन → परिभाषाएँ → कड़ियाँ → आकार → सिद्धान्त निर्माण

4.05 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया

समाजशास्त्र की आधुनिक मान्यता यह है कि सिद्धान्त की अनुभावत्मक (empirical) अनुसंधान से घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए । बेकर ने भी इस कथन पर जोर दिया है कि विशुद्ध समाजशास्त्रीय निरूपण हेतु समाजशास्त्री को अनुभवात्मक रूप से गुण -सम्पन्न होना आवश्यक है। सिद्धान्त -निर्माण (Theory Building) की प्रक्रिया में अनुसंधान सम्मिलित होते है । अनुसंधान का गठन हम लेजार्सफील्ड (Lazarsfield) के अनुसार निम्न बिन्दुओं में उद्धृत करते हैं -

1. समस्या का निरूपण (Location of problem)
2. अर्थ एवं अवधारणाओं का वर्गीकरण (classification of meaning & concepts)
3. तर्क संरचना (structure of Arguments)
4. प्रमाणों की प्रकृति (Natural of Evidences)

इसी प्रकार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेख रॉबर्ट मर्दन ने किया है । रॉबर्ट मर्टन ने समाजशास्त्र के सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया के छ: चरणों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है

1. पद्वतिशास्त्र (Methodology)

पद्वतिशास्त्र में तथ्य संग्रह की विधियों पर विचार किया जाता है । अनुसन्धान के लिए तथ्य संकलन की ऐसी विधियों का चयन किया जाता है जो अनुसन्धान की विषय -वस्तु के अनुरूप हों ।

2. सामान्य समाजशास्त्रीय अभिमुखन (General sociological orientation):

इस चरण में खोज की सामान्य स्वयंसिद्धियों का उपयोग किया जाता है । जैसे दुर्खीम के उपकल्पना की एक स्वयंसिद्ध यह मानी जाती है कि वर्तमान सामाजिक घटना का कारण पूर्वघटित घटना में होता है, या समाज का संश्लिष्ट व्यवस्था है । सोरोकिन ने भौतिकवादों ओर आदर्शवादी संस्कृतियों का स्वयंसिद्ध के समान ही प्रयोग किया है इस तरह स्वयंसिद्धियों से सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण और उपकल्पना -निर्माण में सहायता मिलती है इस तरह की

महत्वपूर्ण स्वयंसिद्धियों की ओर अभिमुखित होने से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निर्माण में सहायता मिलती है ।

3. अवधारणन्नों का विश्लेषण (Analysis of concepts)

किसी भी अध्ययन के पूर्व कतिपय नई एवं पुरानी सामाजिक अवधारणाओं का विश्लेषण कर लेना आवश्यक होता है, जिससे आगे चलकर किसी प्रकार का भ्रम न उत्पन्न हो सके । समस्त अवधारणाओं के स्पष्टीकरण की तालिका बना लेना उपयोगी होता है । अवधारणाएँ शब्दों से बनती हे और इनका विशिष्ट अर्थ -बोध होता है । अन्वेषण की विषय - वस्तु के अनुसार अवधारणाओं का चयन किया जाता है । कुछ प्रचलित समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ हैं, भूमिका, जेमिनशैपट, जैसलिशैपट, सामाजिक अन्त: क्रिया आदि । कुछ सिद्धान्तवेत्ता केवल अवधारणाओं के स्पष्टीकरण को सिद्धान्त मान लेते है । मर्टन ने इसे अस्वीकार किया है । अवधाराणात्मक भाषा उन विचारों ओर व्यवहारों तथा प्रत्यक्षीकरण को निश्चित करती है जिनका प्रयोग गवेषक अपनी गवेषण में करता है ।

4. **आंकड़ो का निर्वचन (Interpretation of data)**. अनुसन्धान द्वारा अनुसन्धानकर्ताओं जिन आकड़ों को संग्रहीत करता हैं, उन सारे तथ्यगत आंकड़ो की व्याख्या एवं निर्वचन अनिवार्य होता है । इसी निर्वचन के आधार पर सामान्यीकरण किया जाता है ।

5. **सामान्यीकरण (Generalization).** स्वीकृत तथ्यों के आधार पर सामान्य नियमो का निरूपण किया जाता है । इसे सामान्यीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है । प्राय: सामान्यीकरण आर्वलौकिक या अतिसीमित हो सकते है ।

6. **सिद्धान्त निर्माण (Theorization)**. जब कोई सामान्यीकरण सवंदेशिक हो जाता है, तो वही सिद्धान्त - बन जाता है, जब अवधारणाओं को योजनाबद्ध रूप से अन्तर्सम्बन्धित कर दिया जाता है, तो सिद्धान्त बनत है। इनका आधार तार्किकता होती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त चरणों से समाजशास्त्र में सिद्धान्त निर्माण किया जाता है । आज समाजशास्त्र में अनेक सिद्धान्त प्रचलित है ।

4.06 सिद्धान्त निर्माण की समस्याएँ:

सामाजिक समस्यध्रों के काफी जटिल होने की वजह से सिद्धान्त निर्माण में कई बाधाएँ, आती है । सिद्धान्त निर्माण में प्रमुख बाधाएँ निम्नलिखित हैं

1. **सिद्धान्त निर्माण में प्रमुख बाधा अवधारणाओं की अस्पष्टता है ।** अवधारणाएँ सिद्धान्त. निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है अत: अवधारणाओं का अर्थ बहुत ही स्पष्ट होना चाहिए साथ ही अवधारणाएँ निश्चित (Parecise) होनी चाहिए अर्थात् उनके द्वारा एक ही अर्थ का संचार किया जाना चाहिए । ये सब बातें अवधारणात्मक परिपक्वता को व्यक्त करती हैं । अभी तक सामाजिक विज्ञानों में सामान्यत: इस प्रकार की परिपक्वता का अभाव पाया जाता है । परिणामस्वरूप सिद्धान्त निर्माण में बाधा आती है ।

2. **सामाजिक घटनाओं की जटिल प्रकृति (complex Nature)** : सिद्धान्त निर्माण में बाधा उत्पन्न करती है । यहां जटिल प्रकृति का अर्थ सामाजिक संदर्भ में लिया गया है । इसका तात्पर्य

यह है कि सामाजिक व्यवस्था में अनेक तत्व अन्तर्निहित होते है तथा उनमें कार्य कारण के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कर पाना एक कठिन कार्य है ।

3. **सामाजिक तथ्यों की गुणात्मक प्रकृति** सिद्धान्त निर्माण में बाधक है सिद्धान्त निर्माण हेतु अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है और अवधारणाएँ तथ्यों पर आधारित होती है ये तथ्य सामाजिक वास्तविकता (social reality) से संबंधित होने के कारण प्रमुखत: गुणात्मक होते है । इन तथ्यों को संख्या के रूप में परिवर्तित करना बहुत कठिन है, जबकि सिद्धान्त निर्माण की दृष्टि से यह कार्य आवश्यक है ।

4. **सामाजिक व्यवस्थाएं काफी गतिमान एवं परिवर्तनशील होती है**, उनमे सदैव कुछ न कुछ परिवर्तन होते ही रहते हैं । अत: इनके आधार पर निर्मित सिद्धान्त भी एक समय विशेष अर्थात् कुछ समय के लिए ही वैध होंगे, उनकी वैधता सामयिक ही होगी ।

5. **सिद्धान्त निर्माण के लिए कार्य -कारण** सम्बन्धों की स्थापना आवश्यक है और इस कार्य में प्रमुख बाधा सामाजिक घटनाओं का द्विमुख (Bipolar) होना है । इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ यह निश्चित करना कठिन रहता है कि कौन -सा कारण है तथा कौन - सा प्रभाव है । अत: सिद्धान्त -निर्माण में कठिनाई आती है ।

6. **सामाजिक व्यवस्थाएँ व्यक्तिपरक (subjective) नियमों तथा प्रक्रियाओं द्वारा नियन्त्रित होती हैं ।** इनको (सामाजिक व्यवस्थाओं) नियन्त्रित करने में सामाजिक मूल्यों का काफी प्रभाव होता हैं तथा वे वस्तुपरक (objective) नहीं हैं अत: वैज्ञानिक सिद्धान्तों में इन व्यक्तिपरक बातों को सम्मिलित करने में कठिनाई आती है ।

7. **मैकाइवर ने तीन कारणों का उल्लेख किया है** जिनकी वजह से एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं बन सकता । ये कारण निम्नवत है.

(i) **सांस्कृतिक विशिष्टता (cultural uniqueness)** विश्व के प्रत्येक समाज की विशेषता है अर्थात् प्रत्येक समाज की अपनी -अपनी विशिष्ट संस्कृति है, अत: सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण संभव नहीं है ।

(ii) **सार्वभौमिक सामान्यीकरण (universal generalization)** की समस्या सिद्धान्त निमार्ण में एक प्रमुख बाधा है । समाज की परिवर्तनशील प्रकृति के कारण सार्वभोमिक सामान्यीकरण संभव नहीं है जिसके अभाव में सिद्धान्त निर्माण में बाधा उत्पन्न होती है ।

(iii) **एक सामाजिक तथ्य (social fact)** का अनेक तथ्यों के साथ संबधित होना भी सिद्धान्त निमार्ण में बाधक है ।

8. सामाजिक विज्ञानों के पास अपनी स्पष्ट शब्दावली की कमी, प्रयोगशाला का अभाव, अधिकतर सिद्धान्तों की आदर्शात्मक प्रकृति आदि कुछ ऐसी बाधाएँ है जो सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करती हैं।

भारतीय संस्कृति में भी सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव, त्यौहारों अतिथि सत्कार, जन्म, विवाह और मृत्यु आदि अवसर पर अफीम और भांग जैसे कुछ पदार्थो का सेवन परम्परागत रूप से देखा जा सकता है ।

4.07 सारांश

सिद्धान्त विचारो का एक ऐसा प्रकार है जिसके माध्यम से घटनाओं की व्याख्या. की जाती है, क्यों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता हे यह आवश्यक नहीं है कि सिद्धान्त में आदर्श विचार ही मौजूद हो । सिद्धान्त का काल्पनिक होना भी आवश्यक नहीं है । वास्तव में सिद्धान्त का निर्माण स्पष्ट रूप से परिभाषित अवधारणाओं से होता है इन अवधारणाओं को अमूर्तिकरण तथा कार्यकारी परिभाषाओं द्वारा निर्मित किया जाता है ऐसा सिद्धान्त जो कभी भी असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सके, स्वयं ज्ञान के क्षेत्र में बाधा उत्पन्न करता है । ऐसा सिद्धान्त विशेष उपयोग नहीं होता ।

कौन -सा सिद्धान्त अन्य की तुलना में उत्तम है, यह अनुसन्धानकर्त्ता एवं सैद्धान्तिक उद्देश्य पर निर्भर करता है । आधुनिक समय मे कार्यकारण स्वरूप को समाजशास्त्र मे विशेष महत्ता दी जा रही है क्योंकि यह सांख्यिकीय तकनीकी पर आधारित है । ज्यादा विकसित विज्ञानों में स्वयंसिद्ध स्वरूप का प्रभाव विशेषत: देखने को मिलता है कार्यकारण सिद्धान्त की तुलना में स्वयंसिद्ध सिद्धान्त अधिक अर्मूत है । इसी वजह से वह अधिक विस्तृत प्रकार की घटनाओं की व्याख्या करने में समर्थ है । स्वयंसिद्ध सिद्धान्त तार्किक निर्गमन से नयी उपकल्पनाओं (Hypotheses) तथा तर्कवाक्यो (preposition) को जन्म देता है जिनकी साधारणत: हम उपेक्षा कर रहे है । कार्यकारण सिद्धान्त अनुसन्धानकर्ता को कारण एवं प्रभावों को समझने योग्य बनाता है जिसकी स्वयंसिद्ध सिद्धान्त में उपेक्षा कर दी जाती है ।

सामाजिक घटनाओं की जटिलता गुणात्मक प्रकृति, अमूर्तता एवं गतिशीलता कुछ ऐसे कारक हैं जो सिद्धान्त - निर्माण की प्रक्रिया में बाधा पहुँचाते हैं इसके अलावा अवधारणात्मक अस्पष्टता एक ही प्रघटना के लिए एक से अधिक अवधारणाओं का प्रयोग, सामाजिक घटनाओं के लिए एक से अधिक कारकों का उत्तरदायी होना आदि ऐसे तथ्य हे जो सिद्धान्त -निर्माण में कठिनाई पैदा करते है ।

4.08 बोध प्रश्न

1. सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषाओं को समझाइये ।
2. सिद्धान्त की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये ।
3. सिद्धान्त निर्माण प्रक्रिया को विस्तार से समझाइये ।
4. समाजशास्त्र में सिद्धान्त निर्माण में आने वाली कठिनाईयों की विवेचना कीजिए ।

4.09 संदर्भ ग्रन्थ

फेयर चाइल्ड : डिक्शनरी ऑफ सोशिओलोजी

राबर्ट के. मर्टन : सोशल थियोरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर, एमरिड पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1968।

पी.एण्ड.कोहेन : मार्डन सोश्यल थ्योरी, हन्मैन, लन्दन, 1968।

टॉलकोट पारसन्स : ऐसे इन सोशियोलोजिकल थ्योरी, फ्री प्रेस ग्लेनको' इलिनॉइस,

1958।

टॉलकोट पारसन्स : द रोल ऑफ थ्योरी इन सोशल रीसर्च।

लेजरफिल्ड : लेग्वेंज ऑफ सोशल रिसर्च

एस.एल.दोषी : उच्चत्तर समाजशास्त्रीय : सिद्धान्त

एन.के.सिंधी : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : विवेचन एवं व्याख्या रावत प्रकाशन, जयपुर।

अलेकजेंडर:जेफ्रे सी : थ्योरीटिकल लॉजिक इन सोशियोलोजी

हरिकृष्ण रावत : समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धानाकार रावत पब्लिकेशन, जयपुर

जार्ज रिटजर : सोशिओलोजीकल थ्योरी

जॉनाथन टर्नर : द स्ट्रक्चर ऑफ सोशिओलोजीकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर

जेटलीन, इरविंग.एम : रिथिकिंग सोशिलोजी

फ्रासिस अब्राहम : मार्डन सोशिओलोजीकल थ्योरी. एन इंद्रोडव्वान, डेविट मेके कम्पनी, न्यूयार्क, 1977

इकाई - 5

प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.01 प्रस्तावना

5.02 प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य : परिभाषा एवं पृष्ठभूमि

5.03 प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य: विशेषताएँ

5.04 प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य : आलोचना के बिन्दु

5.05 बोध प्रश्न

5.06 संदर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का अर्थ परिभाषा एवं इसकी पृष्ठभूमि समझ सकेंगे ।
- समाजशास्त्र के विभिन्न प्ररिप्रेक्ष्यों में से दो महत्वपूर्ण प्ररिप्रेत्यो की विशेषताओं, महत्व तथा इनकी आलोचनाओं के बिन्दुओं के बारे में विश्लेषणात्मक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के जुड़े हुए प्रमुख विचारकों के दृष्टिकोणों को समझ सकेंगे ।
- समाजशास्त्र एवं सामाजिक विज्ञानों के विकास के सन्दर्भ में प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के सैद्धान्तिक योगदान के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

5.01 प्रस्तावना

सामान्यतया आधुनिक विज्ञान और विज्ञानवाद को तेरहवीं शताब्दी की प्रोटेस्टेण्ट नीतियों तथा उसकी व्यवहारिक उपलब्धियो से जोड़कर देखा जाता है । इन उपलब्धियों के समेकित प्रभाव से एक नए दृष्टिकोण, एक नए परिप्रेक्ष्य का आविर्भाव हुआ जिसे हम विज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के रूप मे जानते और समझते है । प्रोटेस्टैण्ट नैतिकता और नीतियों को एक आधारवाक्य है - ' 'मनुष्य विश्व का स्वामी है और अपने बौद्धिक प्रयासों के द्वारा इसे स्वर्ग जैसा या स्वर्ग से भी बेहतर बना सकता है । " इस आधार वाक्य ने प्रकृति तथा मनुष्य के अन्तर्सबन्धो को समझने के लिए दृष्टिकोण का एक नया स्वरूप विकसित किया जिसने कालान्तर में वैज्ञानिक परिपेक्ष्य तथा इस पर आधारित आधुनिक विज्ञान की आधारशिला रखी । इस आधार पर बहुत से समाज विज्ञानियों की मान्यता रही है कि आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ 1550 ईसवी के आस -पास हुआ ।

सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण (Renaissance) तथा प्रबोधन (Englightement) के दौर में पहली बार वैज्ञानिक दर्शन' और प्रत्यक्षवाद को एक थीसिस के रूप में प्रस्तुत किया गया । बेकन और देकार्त्त वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के पितामाह माने जाते हैं । इन दोनों ने

प्रायोगिक उपागम के सहारे यह स्थापित करने का प्रयास किया कि जिस प्रकार राजनीतिक विचार (Political Ideas) क्रान्तियों के आधार पर जन्मते है उसी प्रकार वैज्ञानिक क्रान्ति के पहिए से नया विज्ञान बाहर निकलता है जो पुरातन विज्ञान से भिन्न, अद्यतन तथा प्रगतीशील होता है । बेकन एवं देकार्त्त ने वैइग़निक दर्शन की पद्धति और प्रायोगिक उपागम का सहारा लेकर समय एवं विकास की कई कल्पनाओं में उपस्थित अंतरालो को समझने तथा उन्हें विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रयास किए ।

देकार्त्त की इस प्रस्तुति को सैद्धान्ति रूप से 'तार्किकता या तर्कवाद की संज्ञा दी जाती है । इसकी मान्यता है कि ज्ञान' अन्तर्भूत होता है और इस ज्ञान' के प्रकाट्य एवं प्रस्तुति में तार्क्किता एक. महत्व एव उपयोगी उपकरण है ।

चार्ल्स डार्विन के उद्विकास के सिद्धान्त को मान्यता मिलने के बाद बौद्धिक जगत में यह स्वीकार किया जाने लगा कि सृष्टि ईश्वर द्वारा निर्मित संरचना नहीं है अपितु यह सतत रूप से' चलते रहने वाले उद्विकास का परिणाम है । डार्विन की इस मान्यता की वैश्विक स्वीकारोक्ति ने न सिर्फ वैज्ञानिक क्रान्ति की नींव रखी, वरन् समाज -विज्ञान में भी चिन्तन की एक नयी प्रक्रिया को जन्म दे दिया । इस नवीन प्रक्रिया ने अनुभाववाद बनाम तर्कवाद के विवाद को भी जन्म दिया जिसने अन्ततः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देकार्त के तर्कवाद के निर्माण की पृष्ठभूमि निर्मित की । देकार्त, जिनके ऊपर वैज्ञानिक की प्रत्यक्ष छाप है को आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है।

5.02 वैज्ञानिक एवं प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:

सोलहवीं -सत्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण से उद्भूत ज्ञान के प्रमाण से सम्पन्न हुई वैज्ञानिक क्रांति के प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक परिणामों में एक प्रमुख परिणाम यूरोप में दो नवीन दर्शनों के अभ्युदय के रूप में सामने आया । इनमें से एक दर्शन तर्कवाद तथा बुद्धिवाद पर आधारित था जबकि दूसरे का गहन संबध अनुभववाद से था ।

वैज्ञानिक क्रांति के प्रमाणों में विचारकों, विश्लेषकों तथा चिंतकों के मध्य वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को अत्यन्त ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया ।प्रायः अधिकांश तत्कालीन चिंतक, विचारक एवं विश्लेषक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से उद्भूत ज्ञान की प्रत्यक्षता उपयोगिता एंव सटीकता के प्रति आकर्षित हुए तथा उन्होंने पूर्व की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा उनसे संबंधित ज्ञान के संदर्भ में इसे व्यापक अर्थों में आधुनिक, प्रासंगिक तथा प्रगतिशील पाया। वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का एक बार चिंतन के जगत् में समावेश हो जाने पर कुछ चिंतकों ने समाज एवं मानवता के हित में इसे और भी उपयोगी तथा समृद्ध बनाने हेतु शास्त्रीय रूप प्रदान करने का प्रयास किया । अगस्त कॉम्ट इसमें अग्रणी थे जिन्होंने वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य एवं वैज्ञानिकता के तत्वो की आधारशिला पर प्रत्यक्षवाद की विशाल ईमारत निर्मित करने की पहल की । हालांकि आगे चलकर समाज -विज्ञान, दर्शन एवं चिंतन के क्षेत्र में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य एवं प्रत्यक्षवाद को विवादों एवं आलोचनाओं का लक्ष्य भी बनाना पड़ा तथा इनके नए एवं वैकल्पिक प्रारूप भी प्रस्तुत किए गए । परन्तु निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि इन. दोनों के संयुक्त प्रभाव में सामाजिक विज्ञानों को जो वैचारिक एवं सैद्धान्तिक गतिशीलता तथा दृष्टि

प्राप्त हुई उसने इनके दर्शन, उपयोगिता एवं प्रगतिशीलता को निरन्तर परिमार्जित एवं समृद्ध किया है । इनके प्रभाव में वैचारिक एवं उपागमात्मक विकास की ऐसी शास्त्रीय प्रक्रियाएँ विकसित हुई जिन्होंने तर्क, विज्ञान, धर्म, तात्विकता दर्शन आदि के बेहतरीन प्रासंगिक एवं भविष्योनामुख तत्वों की पहचान तथा उनके उपयोग के द्वारा सामाजिक विज्ञान को मानव, विज्ञान एवं कल्याण केन्द्रित बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई । अधोलिखित बिन्दुओं के माध्यम से वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तथा प्रत्यक्षवाद के क्रमश: विवेचित करने का प्रयास किया गया है ।

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य

वैज्ञानिक आधारों पर वैज्ञानिक विधियों यथा तथ्यों में व्यवस्थित अवलोकन, प्रस्तुतिकरण, मान्यीकरण तथा सत्यापन आदि के द्वारा ज्ञान -प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य कहा जाता है । यह तत्वों घटनाओं प्रक्रियाओं तथा परिणामों को उनके मूल स्वरूप से निरपेक्ष दृष्टि से देखने, समझने एवं मानने पर बल देता है और उनके प्रति किसी भी प्रकार के सापेक्ष एवं संवेगात्मक दृष्टिकोण को नकारता है । वस्तुत: वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य ने अपने संरचनात्मक एवं गुणात्मक रूपों में पुनर्जागरण काल में प्रत्यक्षवाद' के लिए एक मजबूत वैचारिक आधार निर्मित किया था । इसके परिणाम स्वरूप कालांतर में 'प्रत्यक्षवाद' ने ज्ञान - प्राप्ति' के एक नए परिप्रेक्ष्य से सुसज्जित दर्शन एवं सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में एक सैद्धान्तिक आंदालेन को जन्म दिया जिसने अपनी सीमाओं के बावजूद ज्ञान के परिप्रेक्ष्य' एवं उपागम के संदर्भ में अत्यंत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

अवधारणा :

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य निश्चित स्वरूप वाली विधियों। प्रविधियों एवं तकनीकों का एक पुँज है जो वैज्ञानिक विधि एवं वैज्ञानिक उपागम का निर्माण करती हैं । वैज्ञानिक विधि एवं वैज्ञानिक उपागम के सहारे घटनाओं के वस्तुनिष्ठ अध्ययन, नवीन शान की प्राप्ति, पूर्ववर्ती शान के परिमार्जन तथा संवर्धन एवं प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण तथा निष्कर्षीकरण के प्रयास किए जाते हैं । वस्तुत: सम्पूर्ण वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य अवलोकन तथा परीक्षण -पुर्नपरीक्षण किए जा सकने योग्य तथ्यों एवं साक्ष्यों के संकलन तथा उनके उपयोग पर आधारित होता है तथा इसका तार्किकता के विशिष्ट सिद्धान्तों से घनिष्ठ संबंध होता है ।

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक विधि या उपागम का एक दार्शनिक स्वरूप है जो वैज्ञानिक विधि तथा उपगम को संरचनात्मक, स्वरूपात्मक प्रक्रियात्मक तथा प्राविधिक सुनिश्चितता प्रदान करता है । इसके आधार पर निर्मित वैज्ञानिक विधि कुछ निश्चित चरणों का एक निश्चित क्रम में पालन करती है । इन चरणों में अवलोकन के माध्यम से तथ्यों एवं आँकडों का संकलन, आँकडों एवं तथ्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण, प्रायोगिकता उपकल्पनाओं का निर्माण तथा परीक्षण एवं निष्कर्षीकरण इत्यादि प्रमुखता से सम्मिलित होते हैं । हालाँकि अध्ययन -विशेष एवं उद्देश्यों की भिन्नता आदि के प्ररिप्रेक्ष्य में इन चरणों के मध्य विभिन्न उप -चरण भी सम्मिलित किए जा सकते हैं परन्तु सूत्रात्मक रूप से इनका एक निश्चित क्रम होता है और अध्ययन की वैज्ञानिकता के लिए यह आवश्यक है कि उनका क्रमिक अनुपालन किया जाए ।

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित वैशानिक विधि के प्रमुख तत्व :

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित वैज्ञानिक विधि कुछ तत्वों पर आधारित होती है जिनके सहयोग से क्रमवार एवं चरणबद्ध तरीके से किसी सामाजिक घटना, परिघटना या प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है । इनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है :

(अ) शोध समस्या या अध्ययन के विषय का चयन : ज्ञान प्राप्त, ज्ञान के सत्यापन या सवर्धीकरण के संदर्भ में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग के प्रथम चरण के रूप में शोध -समस्या या अध्ययन के विषय का चयन किया जाता है । इसमें अवलोकन, परिभाषीकरण तथा अध्ययन के विषय के मूल्यांकन इत्यादि से सम्बद्ध प्रक्रियाएँ सम्पन्न की जाती है ।

(ब) उपकल्पना का निर्माण वैज्ञानिक पद्धति के द्वितीय चरण में अध्ययन के विषय का निर्धारण कर लिए जाने के पश्चात उससे सम्बन्धित उपकल्पना का निर्माण किया जाता है । इस हेतु अवलोकन, समस्या की विवेचना तथा सैद्धान्तिक संदर्भो की सहायता से उपकल्पना के निर्माण का आधार निर्मित किया जाता है । तत्पश्चात व्यापक विमर्श के बाद उपकल्पना का निर्माण किया जाता है जो वस्तुत: अध्ययन का केन्द्रीय भाग होती है ।

(स) निष्कर्षीकरण: उपकल्पना के निर्माण के पश्चात वैज्ञानिक विधि से अध्ययन को सम्पन्न कर उपकल्पना के संदर्भ में एक या एकाधिक निष्कर्ष निकाले जाते है । निष्कर्षीकरण के चरण में उपकल्पना के संदर्भ में प्राप्त निष्कर्ष सकारात्मक ही हों या उसका समर्थन ही करते हो यह सदैव आवश्यक नही है । इसके विपरित, निष्कर्ष नकारात्मक या उपकल्पना के विरूद्ध भी हो सकते है अथवा विशिष्ट मामलों में उसके प्रति उदासीन या असंदर्भित भी रह सकते है ।

(द) परीक्षण: वैज्ञानिक पद्धति के अन्तिम चरण के रूप में निष्कर्षीकरण के पश्चात् परीक्षण आता हे । प्राप्त निष्कर्ष / निष्कर्षो का एक बार पुन: 'समान' परिस्थितियों में परीक्षण कर अध्ययन के वैज्ञानिक स्वरूप के वैधता की जाँच की जाती है । यदि समान परिस्थितियों में परीक्षण के पश्चात प्राप्त निष्कर्ष पूर्व के निष्कर्ष से मेल खाते है तो अध्ययन वैज्ञानिक एवं सटीक माना जाता है ।

एक बार वैज्ञानिक विधि से अध्ययन की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाने पर प्राप्त निष्कर्ष / निष्कर्षों के सहारे अथवा उनके आधार पर आगामी प्रक्रिया के रूप में समाज या संदर्भित समूह /समुदाय के व्यापक हित में उसके सार्थक उपयोग की योजना निर्मित की जाती है ।

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना

हालाँकि अध्ययन एवं शान प्राप्ति के एक सक्षम उपागम के रूप में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आधुनिकता एवं उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाए जा सकते क्योंकि यह निरन्तर विकसित 'होते विज्ञान एवं वैज्ञानिक तकनीकी एवं प्रविधियों के साथ स्वयं को अद्यतन बनाने मे सक्षम है । परन्तु सामाजिक विज्ञानों के साथ इसके सम्बन्धों का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञानों के सदृश्य नहीं हो सकता और न ही यह व्यवहारिक एवं तर्कसंगत ही प्रतीत होता है ।

हलांकि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अधिकांश तत्व प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र एवं समाज के संदर्भ में समान रूप से प्रभावशाली एवं उपयोगी हो सकते हैं तथापित यह ध्यान में रखना होगा कि मनुष्य, उसका समाज, सामाजिक घटनाएँ एवं प्रक्रियाएँ भौतिक एवं यांत्रिक

प्रकृति की न होकर संवेगों संवेदनाओं भावनाओं एवं संस्कृति के स्तर पर प्राकृतिक विज्ञानों से विशिष्ट रूप से पृथक स्वरूप एवं चरित्र वाली होती है । उनमें प्राकृतिक घटनाओं की भांति कार्य -कारण सम्बन्धों की एकरूपता एव सादृश्यता का प्राय: अभाव' होता है क्योंकि इनके संदर्भ देश -काल परिस्थिति के आलोक में परिवर्तित होते रहते हैं, हो जाते है अथवा हो सकते हैं ।

उदाहरण के तौर पर परिस्थिति में 'आत्महत्या जैसी घटना को प्राकृतिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य में 'आत्मघात या जन्म मृत्यु' के सिवाय किसी दूसरे रूप में नहीं चिन्हित किया जाएगा । परन्तु समाजशास्त्र में एक विशिष्ट घटना या प्रक्रिया के रूप में इसे कई रूपों संदर्भो तथा अर्थों में देखा एवं विश्लेषित किया जाता है क्योंकि प्रत्येक 'आत्महत्या एक घटना या कृत्य के रूप में कई पृथक प्रक्रियाओं तथा तथ्यों का परिस्थितिजन्य परिणाम होती है एवं उसके अनुवर्ती परिणाम भी उन्हीं प्रक्रियाओं तथा तथ्यों के अनुसार पारस्परिक रूप से भिन्न होते हैं अथवा भिन्न प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं ।

इस प्रकार सामाजिक विज्ञानों, विशेषकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की उपादेयता एवं प्रासंगिकता के लिए यह आवश्यक है कि मानव स्वभाव के व्यावहारिक एवं सामाजिक अन्तर्क्रिया के विविध स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक विधि का प्रयोग संतुलित नमनीयता एवं वैज्ञानिकता के साथ किया जाए ताकि निष्कर्ष तथा अर्जित ज्ञान शुल्क, पक्षपात रहित एवं मात्र रिकार्डपरक न होकर ज्ञान की आवश्यकता तथा उपादेयता को भी सिद्ध करे ।

प्रत्यक्षवाद एंव प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य

प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित ज्ञान प्राप्ति का एक विशिष्ट उपागम है जो इस मान्यता को बल प्रदान करता है कि मात्र वैज्ञानिक ज्ञान ही विश्वसनीय एवं मौलिक ज्ञान है जिसको अनुशासित तरीके से वैज्ञानिक विधि के विभिन्न चरणों के क्रमिक एवं व्यवस्थित अनुपालन के द्वारा प्राप्त किया जाता है । इसके मूल्य स्वरूप में इसे अगस्त कॉम्ट द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रतिपादित किया गया था तथा इसके समर्थकों एवं अनुपालको द्वारा बीसवीं शताब्दी में और भी विकसित कर और भी वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के प्रयास किये गए । वियना से प्रारम्भ हुए ये प्रयास आगे चलकर अमेरिकी तथा ब्रिटिश दर्शनों में कई महत्वपूर्ण आन्दोलनों के आधार बने ।

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक आधारो पर ज्ञान प्राप्त करने की एक पद्धति, एक उपागम है जो सामाजिक प्रक्रियाओं तथा घटनाओं के कार्य - कारण संबंध पर आधारित ऐसे नियमों को जानने का प्रयास करता है जिन्हें देखना, जाँचना तथा परखना संभव हो, जो सत्यापन, योग्य हों तथा अन्तिम रूप से उपयोगी हों । तत्वशास्त्र एवं धर्मशास्त्र की पद्धतियों से परे प्रत्यक्षवाद परम ज्ञान या परम सत्य की खोज या प्राप्ति पर ध्यान न देकर तथ्यों के मध्य विद्यमान सह -संबंधों की जानकारी प्राप्त कर इनको निर्देशित तथा नियंत्रित करने वाले नियमों की खोज पर केन्द्रित होता है ताकि ज्ञान का सार्थक रूप से व्यवहारिक उपयोग किया जा सके और इसके सहारे मनुष्यता तथा मानव -समाज को क्रमश: बेहतरी की ओर ले जाया जा सके । इसे स्पष्ट करते हुए अगस्त कॉम्ट कहते है 'यदि भविष्य

में मानव -ज्ञान का विस्तार करना है तो इसे अवलोकन, परीक्षण तथा तुलना की वैज्ञानिक विधियों को अपनाकर ही पूरा किया जा सकता है ।'

अवधारणा:

हालाँकि परिभाषात्मक दृष्टिकोण से विभिन्न समाज विज्ञानियों ने प्रत्यक्षवाद को अपने -अपने ढ़ग से स्पष्ट करने के प्रयास किए हैं तथापि प्रत्यक्षवाद की सभी परिभाषाओं के मूल रूप में प्राय: वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य एवं पद्धति के सन्दर्भ ही दिखते हैं । रेमण्ड एरों इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध घटनाओं के निरीक्षण उनके विश्लेषण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले नियमों की खोज करने की विधि से है । "

अगस्त कॉम्ट की मान्यता है कि प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य के प्रयोग अर्थात् घटनाओं के अनुभव, निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण तथा प्रयोग आदि के द्वारा न सिर्फ प्राकृतिक घटनाओं अपितु सामाजिक घटनाओं का भी भली भाँति अध्ययन किया जा सकता है क्योंकि प्राकृतिक घटनाओं की तरह सामाजिक घटनाएँ भी कार्य -कारण सम्बन्धों पर आधारित कुछ निश्चित नियमों के अनुसार निर्धारित, निर्देशित एवं संचालित होतीं हैं ।

5.03 प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ :

अगस्त कॉम्ट ने प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान के सहारे समाज को रूपान्तरित किये जा सकने की सम्भावनाओं के आलोक में यह मान्यता स्थापित करने का प्रयास किया है कि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक आधार पर निर्मित ज्ञान एवं समाज न सिर्फ वांछित प्रगति की राह में मानवतावादी उद्देश्यों के साथ अग्रसर होंगे अपितु देश -काल -परिस्थिति की सीमाओं से परे सम्पूर्ण परिवर्तन को भी संभव बनाएंगे । उपागम, मग्रन्यता तथा उद्देश्य इत्यादि के सन्दर्भ में प्रत्यक्षवाद की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है

1. प्रत्यक्षवाद का आधार वैज्ञानिक है जो इस मान्यता के साथ आगे बढ़ता है कि सृष्टि अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्देशित एवं संचालित होती है और इन नियमों को तथ्याधारित निरीक्षण, परीक्षण वर्गीकरण तथा प्रयोग इत्यादि विधियों के माध्यम से ही समझा जा सकता है कल्पना एवं व्यक्तिगत अनुभवों के धार्मिक, वास्तविक एवं मनौवैज्ञानिक आधारों से नहीं ।
2. प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य तात्विकता एवं धार्मिकता के तत्वों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि इनकी प्रणाली वैज्ञानिक प्रणाली से सर्वथा भिन्न एवं एक सीमा तक अनिश्चित स्वरूप वाली होती है जो एक ही घटना या प्रक्रिया को देश -काल -परिस्थिति के अनुसार पृथक -पृथक् ढंग से विवेचन करती है । वैज्ञानिक एंव प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य इनके विपरित सत्यापन एवं पुनर्सत्यापन किए जा सकने वाले तथ्यों एव नियमों पर आधारित होती है तथा घटनाओं एवं प्रक्रियाओं की विवेचना भी इन्हीं के अनुसार करती है ।
3. प्रत्यक्षवाद तथ्यों, घटनाओं एवं प्रक्रियाओं की प्रत्यक्षता पर आधारित होता है तात्पर्य यह कि जिन तथ्यों घटनाओं एवं प्रक्रियाओं की प्रत्यक्षानुभूति हमें नहीं हो सकती, जो हमारे

समक्ष प्रत्यक्ष रूप से, भौतिक रूप से विद्यमान न हों, वो प्रत्यक्षवाद के दायरे में नहीं आते और न ही वे प्रत्यक्षवाद की विषयवस्तु बन पाते हैं । संक्षेप में कहा जाए तो प्रत्यक्षवाद उनका संज्ञान नहीं लेता जो अज्ञात, अभौतिक या काल्पनिक है ।

4. प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य वास्तविकता पर आधारित उपयोगी शान तथा उन निश्चित प्रकृति के तथ्यों से सम्बन्धित है जिनका पूर्व -ज्ञान सम्भव है । ज्ञानमयी काव्य एवं सापेक्षता से प्रत्यक्षवाद का गहरा सम्बन्ध है ।

प्रत्यक्षवाद: चिन्तन के त्रि -स्तरीय नियम का अंतिम स्तर

अगस्त कॉम्ट ने मानव चिंतन की धारा ऐतिहासिकता के अवलोकन के द्वारा चिंतन के त्रि -स्तरीय नियम का उल्लेख किया जिसके अन्तर्गत उन्होंने वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तथा प्रत्यक्षवाद को तीसरा सर्वाधिक, महत्वपूर्ण एवं उपयोगी तथा अन्तिम स्तर बताया है । चिंतन के ये तीन स्तर क्रमश: धार्मिक स्तर, तात्विक स्तर तथा वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवाद के स्तर है । इस नियम के उपयोग सामाजिक विकास का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है क्योंकि अब तक की प्रमुख विचारधाराएँ, ज्ञान की प्रत्येक शाखा एक के बाद एक ज्ञान तीन रूपों में क्रमश: गुजरती पाई गई हें । इनका संक्षिप्त वर्णन अधोलिखित बिन्दुओं के रूप में किया गया है :

(अ) धार्मिक अवस्था:

अधिकतर कल्पना पर आधारित एवं केन्द्रित होने के कारण इसे चिन्तन की काल्पनिक अवस्था भी कहा जाता है । यह वह अवस्था होती है जिसमें प्रकृति तथा समाज में घटने वाली प्रत्येक परिघटना को धार्मिक दृष्टिकोण से देखा -समझा जाता है तथा उसकी व्याख्या भी धार्मिक तत्वों एव, ज्ञान के आधार पर ही की जाती है । इसमें यह माना जाता है कि संचालन ईश्वर कर रहा है तथा प्रत्येक घटना -परिघटना के पीछे किसी अदृश्य एंव अलौकिक शक्ति की भूमिका होती है । बरसात, आँधी, तूफान, अनिष्टकारी प्राकृतिक घटनायें, जन्म, बीमारी, मृत्यु चमत्कार, अनहोनी, अच्छी फसल, महामारी, बाढ, सकारात्मक चमत्कार इत्यादि सबके पीछे अलौकिक शक्तियों का हाथ मानकर उनके अनुसार व्यक्ति एवं समाज को व्यवहार करने की सीख दी जाती रही है । यहाँ तक कि स्वण जैसी मनोवैज्ञानिक घटनाओं के केन्द्र में भी धार्मिकता एवं अलौकिकता के तत्व माने जाते हैं तथा इन्हीं को प्रथम तथा अन्तिम कारण मानकर जीवन को एक विशिष्ट संदर्भित स्वरूप देने का प्रयास किया जाता है । ज्ञान की इस अवस्था में घटनाओं -परिघटनाओं के संदर्भ में किसी कार्य -कारण सम्बन्ध या तर्क इत्यादि का कोई स्थान नहीं होता।

(ब) तात्विक अवस्था:

ज्ञान की धार्मिक अथवा काल्पनिक अवस्था के पश्चात् की अवस्था तात्विक अवस्था होती है । इसे शान की अमूर्त अवस्था की संज्ञा भी दी जा सकती है । यह वह अवस्था होती है जिसमें प्राकृतिक या सामाजिक घटनाओं -परिघटनाओं को तर्क के आधार पर जानने -समझने के प्रयास किये जाने लगते हैं । इसमें धर्म तथा अलौकिक शक्तियों के स्थान पर अवैयक्तिक शक्तियों तथा अमूर्त प्राकृतिक नियमों को महत्ता दी जाती है यह ज्ञान का दार्शनिक आधार

लिये होती है जिसमें ईश्वर के अमूर्त अस्तित्व को सर्वव्यापी मानकर उसके माध्यम से तथा उसके निर्देशानुरूप जो कुछ भी हो रहा है उसे शाश्वत एवं संपूर्ण मान लिया जाता है । वस्तुत: यह एक संक्रमणकाल की अवस्था होती है जिसमें ज्ञान अपनी जड़ें धार्मिकता से अलग तो कर चुका होता है पर जिसकी लतायें, पत्ते इत्यादि प्रत्यक्षता या वैज्ञानिकता के आकाश में फैलने को अभी प्रयासरत हुई ही होती हैं । वस्तुत: यह वह अवस्था होती है जिसमें घटनाओं परिघटनाओं एवं प्रक्रियाओं के कारणों के तात्विकता तथा तत्व -मीमांसा के द्वारा समझने के प्रयास किये जाते हैं । इस आधार पर यह अवस्था ज्ञान के सामान्य स्वरूप से अपेक्षाकृत विशेषीकृत स्वरूप की ओर जाती प्रतीत होती है ।

(स) प्रत्यक्षवादी अवस्था:

विज्ञान, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तथा वैज्ञानिक पद्धति से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होने के कारण इसे ज्ञान की वैज्ञानिक अवस्था भी कहते हैं । इस अवस्था में ज्ञान धार्मिकता एवं तार्किकता परिवर्तनशील, अनिश्चित तथा आधारहीन संदर्भो से परे तार्किकता एवं वैज्ञानिकता पर आधारित होता है । इसमें ज्ञान परीक्षण एवं सत्यापन -पुर्नसत्यापन किये जो सकने वाले तथ्यों, घटनाओं, परिघटनाओं, प्रक्रियाओं के बीच अपरिवर्तनीय कार्य -कारण सम्बन्धों तथा वैज्ञानिक उपागम पर आधारित होता है । वैज्ञानिक उपागम में धार्मिकता तात्विकता एवं कल्पनाशीलता का कोई स्थान नहीं होता तथा यह चीजों, घटनाओं, परिघटनाओं एवं प्रक्रियाओं को उनके वास्तविक रूप में ही देखता -समझता है एवं इसी आलोक में उनका विश्लेषण करता है । इसे स्पष्ट करते हुए अगस्त कॉम्ट कहते है कि ' 'जो वस्तु जिस रूप में है उसे उसी रूप में जानना वैज्ञानिक चिन्तन है । ' वैज्ञानिक चिन्तन ही प्रत्यक्षवाद की नींव तैयार करता है ।

समाजशास्त्र. एक प्रत्यक्षवादी एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित विज्ञान

प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य के आधार पर अगस्त कॉम्ट ने शान के त्रि -स्तरीय स्वरूप की भाँति विज्ञानों के विकास की प्रक्रिया भी एक विश्लेषणात्मक प्रस्तुति दी । इसके द्वारा उन्होंने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में विज्ञानों का एक श्रेणीक्रम पाया जाता है जो 'वृद्धि -क्रम सिद्धान्त' तथा घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुए जटिलता के सिद्धान्त' पर आधारित होता हैं । इसके अनुसार ज्ञान -विज्ञान की प्रत्येक शाखा तथा विषय -अनुशासन अपने पूर्ववर्ती ज्ञान -विज्ञान या विषय -अनुशासन पर आधारित होता है, उसी के सहारे विकसित होता है तथा उससे अपेक्षाकृत जटिल एवं भिन्न होता है । कालान्तर में वह भी किसी नये ज्ञान -विज्ञान या विषय के लिये आधार बन जाता है ताकि उसे आधार पर उसी के सहारे पुन: एक नये ज्ञान -विज्ञान, विषय का विकास प्रारम्भ होता है ।

इन नियमों तथा इनकी विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि विज्ञानों के विकास के पदानुक्रम में पहले सोपान पर सर्वाधिक सरल एवं सामान्य विज्ञान है जो अन्यों पर सबसे कम आधारित तथा आश्रित है इसके विपरीत, विज्ञानों के विकास के पदानुक्रम में अन्तिम सोपान पर अवस्थित विज्ञान अपेक्षाकृत सर्वाधिक जटिल तथा अन्य विज्ञानों पर सर्वाधिक निर्भर होगा एवं उनसे उसके अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध भी अधिक गूढ होंगे । कॉम्ट इसे ओर भी स्पष्ट एवं सत्यापित करते हुए कहते हैं कि ' 'प्रत्येक विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर केवल निर्भर ही

नहीं रहता है बल्कि नए आविष्कारों एवं खोजों को अपनी ओर आकर्षित करता एव स्वयं को समृद्ध भी बनाता रहता है ।' '

उपर्युक्त विज्ञानों एवं नियमों के आधार पर अगस्त कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानों की उत्पत्ति उनकी विषय वस्तु उनके संरचनात्मक स्वरूप तथा अन्य विज्ञानों के साथ अर्न्तसम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में विज्ञानों का एक वर्गीकृत स्वरूप प्रस्तुत किया जिसमें गणितशास्त्र प्रथम एवं समाजशास्त्र अन्तिम सोपान पर है । इन दोनों विज्ञानों के बीच उन्होंने क्रमश: खगोलशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा प्राणीशास्त्र को स्थान दिया है ।

विज्ञानों के वर्गीकरण के सिद्धान्त के अनुसार, जिसका केन्द्रीय संदर्भ प्रत्यक्षवाद है गणितशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन, आधारभूत. एवं सरलतम विज्ञान है । इसे पूर्ण विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है । हालाँकि इसी की नींव पर अन्य विज्ञानों की क्रमिक उत्पति हुई है परन्तु अपने सरलतम स्वरूप के कारण यह अन्य विज्ञानों पर सबसे कम निर्भर भी है । खगोलशास्त्र पूर्णतया गणितशास्त्र पर आधारित विज्ञान है । जिसके नियमों और वैषयिक आवश्यकताओं के आधार पर भौतिकशास्त्र का जन्म हुआ । इसी प्रकार भौतिकशास्त्र में जब भौतिक स्वरूप के साथ -साथ रासायनिक स्वरूपों के अध्ययन की आवश्यकता उत्पन्न हुई तो कालान्तर में क्रमश: एक पृथक विज्ञान के रूप में रसायनशास्त्र का जन्म हुआ जो अपने सरचनात्मक एव गुणातमक विराम के संदर्भ में भौतिकशास्त्र पर तो निर्भर था, उसी से उद्भूत था परन्तु 'वैषयिक विशेषताओं के संदर्भ में अपने पूर्ववर्ती विज्ञान भौतिकशास्त्र से पूर्णतया भिन्न भी था । इसी नियम के अनुसार प्राणीशास्त्र तथा अन्तिम रूप से समाजशास्त्र जैसे विज्ञान का भी जन्म हुआ है ।

समाजशास्त्र : विज्ञानों के वर्गीकरण के सोपान में उच्चतम विज्ञान :

प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य के आलोक में विज्ञानों के वर्गीकरण या संस्तरण की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए अगस्त कॉम्ट ने मनुष्य के सामूहिक जीवन का अध्ययन करने वाले एक शास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत की जो संरचनात्मक एंव विषय -वस्तु के स्तर पर अन्य पूर्ववर्ती विज्ञानों की अपेक्षा सर्वाधिक विशिष्ट एवं जटिल होगा । प्रथमतया उन्होंने इसे सामाजिक भौतिकशास्त्र का नाम दिया परन्तु 1834 ईसवी में इसके संदर्भ विषय -वस्तु उद्देश्य आदि के केन्द्र में समाज की व्यापकता को देखते हुए इसे एक नया नाम 'समाजशास्त्र' दे दिया ।

अगस्त कॉम्ब ने सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति एवं अपेक्षाकृत एक बेहतर एवं प्रगतिशील समाज के निर्माण के लिए प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण वाले एक ऐसे विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया जो समाज के लिए व्यापक अर्थों में उपयोगी हो तथा अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों के गुणों का उपयोग करते हुए उनके साथ समाज के व्यापक हित में पारस्परिक रूप से सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक एवं प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण कर सकने में सक्षम हो तथा भविष्य की नकारात्मक प्रवृतियों एवं घटनाओं को नियंत्रित एवं रूपान्तरित कर सकने वाले उपयोगी निष्कर्ष एवं सलाह प्रस्तुत कर सकने में सक्षम हो । समाजशास्त्र के इन व्यापक उद्देश्यों के आलोक में उन्होंने एक उपयोगी एवं सामाजिक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की विशेषीकृत एवं स्थापित करते हुए कहा कि ' 'समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था एवं प्रगति का विज्ञान है ।"

प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन से संबंधित है जो सामाजिक घटनाओं पर भी विज्ञान के नियमों के समान प्रभाव देखता है और उनके सहारे, उनके अनुसार उनका अध्ययन, विश्लेषण एवं निष्कर्षीकरण करता है । यह ज्ञान की पारम्परिक एवं दर्शनात्मक धाराओं के परे हटकर सामाजिक तथ्यों एवं वैज्ञानिक उपागम के साहारे समाज एवं इसमें अन्तर्निहित प्रक्रियाओं इत्यादि का अध्ययन करता है ।

उपागम एवं विषय -वस्तु के संदर्भ में अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य वाले एक समन्दयात्मक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत एव विकसित करने का प्रयास किया जो सामाजिक घटनाओ -परिघटनाओ का धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक रूप में टुकड़ों में अध्ययन न करके उनका समग्रता में अध्ययन करता है । हालाँकि उनका यह मानना रहा है कि विज्ञान की भाँति समाजशास्त्र निश्चित भविष्यवाणियाँ तो नहीं कर सकता परन्तु उन्होंने इस बात पर अत्यन्त ही बल दिया है कि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य एवं उपागम वाले एक विषय के रूप में समाजशास्त्र वर्तमान के संदर्भ में सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा निश्चित तोर पर भविष्य की ओर संकेत कर सकता है । इसलिए, आगे भी इसकी वैज्ञानिकता एवं भविष्यवाणियों की निश्चितता के विकास के सतत् प्रयास होते रहने चाहिए ताकि यह सम्पूर्ण मानव समाज के लिए और भी उपयोगी बन सके । हालाँकि उन्होंने समाजशास्त्र को प्रत्यक्षवाद एवं प्रत्यक्षवाद को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित माना है तथापि उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र का सामान्य एवं अमूर्त होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है । सामाजिक उपयोगिता समाजशास्त्र का अन्तिम एवं मौलिक उद्देश्य है तथा प्रत्यक्षवाद एवं इसके आधार के रूप में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सर्वाधिक सटीक एवं उपयोगी उपकरण है ।

प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ

अगस्त कॉम्ट सहित प्रत्यक्षवाद के प्राय: सभी प्रमुख विचारक प्रत्यक्षवाद को समाजशास्त्रीय पद्धति तथा सामाजिक विकास का अन्तिम एवं चरम सोपान मानते है । कालान्तर में समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित 'दो महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आन्दोलन क्रमश: प्रकार्यवाद और संघर्षवाद के रूप में उभरे जिन्हें हम वृहद सिद्धान्तों की संज्ञा देते है । प्रत्यक्षवाद की जड़ों से विकसित हुए प्रकार्यवाद पुन: आगे चलकर कई अन्य वृहद तथा लघु सिद्धान्तों की उत्पत्ति का सैद्धान्तिक आधार बना । संक्षेप में प्रत्यक्षवाद की निम्नांकित विशेषताओं को चिन्हित किया जा सकता है ।

(1) प्रत्यक्षवाद की आधारभूत मान्यता है कि वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान ही मौलिक एवं उपयोगी ज्ञान है ।

(2) प्रत्यक्षवाद के अनुसार इतिहास की गति एकरेखीय है । ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं के संदर्भ में प्रत्यक्षवाद इसे विश्लेषण का आधारभूत सूत्र मानता है ।

(3) प्रत्यक्षवाद यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि प्रत्येक नया समाज पूर्ववर्ती समाज से भिन्न होता है और यह भिन्नता सामाजिक परिवर्तन का परिणाम एवं परिचायक दोनों ही होती है।

(4) प्रत्यक्षवाद यह मानता है कि प्रत्येक परिवर्तन स्वयं में पूर्ण होता है और इसी आलोक में परार्वतन की प्रक्रिया एवं समाज का अध्ययन किया जाना चाहिए ।

5.04 प्रत्यक्षवाद की आलोचना:

प्रत्यक्षवाद ब्रह्माण्ड एवं भौतिक जगत की जडें इसी विश्व एवं मानवीय वातावरण में खोजने का हिमायती है । इसलिए यह तथ्य आधारित आनुभाविक ज्ञान की वकालत करता है । इसकी मूलभूत मान्यता रही है कि ज्ञान तथ्यों पर आधारित होता है तथा इसे अनुभवों के रूप में/ द्वारा सुरक्षित रखा जा सकता हैं । यही ज्ञान सामाजिक प्रगति का आधार हो सकता है । इसी प्रत्यक्षवाद को अपना सैद्धान्तिक आधार बनाकर कार्ल मार्क्स ने 'वर्गहीन समाज' तथा इमाईल दुर्खिम ने सामाजिक संतुलन एवं सुदृढ़ता को सामाजिक विकास का अन्तिम महत्वपूर्ण चरण माना है, हालाँकि इनकी गति एवं दिशा पारस्परिक रूप से, सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक आधारों पर भिन्न हो सकती है । परन्तु अपनी तमाम नवीनताओं, उपयोगिताओं तथा सक्षमताओं के बावजूद प्रत्यक्षवाद को भी विविध स्तरों पर कतिपय कमियों का शिकार बताया गया है । इनमें आलोचना के कुछ प्रमुख बिन्दु अधोलिखित है :

1. प्रत्यक्षवाद प्रत्यक्ष अनुभव एवं व्यवहार को चेतना से अधिक महत्व देता है जो ज्ञान के सभी प्रकारों एवं प्रारूपों, विशेष कर दार्शनिक ज्ञान के संदर्भ में उचित नहीं है क्योंकि दर्शन को सभी विषयों की जननी माना जाता है ।
2. प्रत्यक्षवाद के अनुसार इतिहास की गति एकरेखीय है जबकि चक्रीय तथा अन्य सिद्धान्त इतिहास की व्याख्या अलग प्रकार से करते है । ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओँ के विश्लेषण के संदर्भ में इतिहास का मात्र एकरेखीय प्रारूप पर्याप्त नहीं हो सकता है ।
3. प्रत्यक्षवाद यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि प्रत्येक नया समाज पूर्ववर्ती समाज से भिन्न होता है । एक सीमा तक यह उचित भी प्रतीत होता है परन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया तथा परिणामों के स्वरूपगत विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि परिवर्तन की प्रक्रिया एक ही समय में बहुरेखी, बहुस्तरीय तथा कुछ संदर्भो में विपरीत दिशा में संचालित भी हो सकती है ।
4. प्रत्यक्षवाद यह मानता है कि प्रत्येक परिवर्तन स्वंय में पूर्ण होता है और इसी दृष्टि में परिवर्तन की प्रक्रिया एवं समाज का अध्ययन किया जाना चाहिए परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन तथा इसके परिणाम सदैव वांछित, संपूर्ण एवं प्रत्यक्ष ही हों ।

5.05 बोध प्रश्न

1. वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का अर्थ क्या है? उसके विकास की पृष्ठभूमि बताइए ।
2. वैज्ञानिक विधि के प्रमुख तत्व बताइए ।
3. प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के मुख्य तत्व क्या है? इसकी आलोचना किन बिन्दुओं पर की गई । सामाजिक विज्ञानों में इस उपागम की सीमाएँ बताए ।
4. समाजशास्त्र की विज्ञान के रूप में व्याख्या करें ।

5.06 सन्दर्भ ग्रन्थ

बार्न्स, एच.ई,एन. इट्रोडक्शन टु द हिस्टरी ऑफ सोश्योलॉजी शिकागो 1948

कॉम्ट,ए., द पॉजिटिव फिलॉसफी, लन्दन, 1893 ।

डेविस कं., स्टडीज इन डेवलपमेन्ट ऑफ कैपिटलिज्य राउटलेज, लन्दन, 1963 ।

गिडिगंस, एन्थोनी, पाजिटिविज्य एड सोसाइटी, हेनीमेन, 1974 ।

हिल, सी., इनटलेक्बुयल ओरिजन्स ऑफ द इंगलिश रिवोत्थूशन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1965 ।

मर्टन.आर.,सांइटिफिक टेक्नॉलॉजी एण्ड सोसायटी इन सेवन्न्थई सेन्चुयरी इंगलैण्ड, हारपर एंड रो, न्यूयार्क, 1939 ।

मिल, जान स्ट्रअर्ट, अगस्त काम्टे एण्ड पाजीटिविज्य वेब बुक डबल्यू डबल्यु वेब बुक्स डाट काम, स्पेन्सर, एच. द स्टडी ऑफ सोश्योलाजी न्यूयार्क, व 1875 ।

इकाई - 6

मानवतावादी परिप्रेक्ष्य एवं रेडिकल (उग्रवादी) समाजशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.01 प्रस्तावना

6.02 मानवीय परिप्रेक्ष्य

6.03 मानवीय समाजशास्त्र की विशेषताऐं

6.04 मानवीय पद्वति की प्रमुख अध्ययन पद्धतियाँ

6.05 मानवीय पद्वति कें समर्थक समाजशास्त्री

6.06 रेडियल समाजशास्त्र के उद्भव कें कारण

6.07 रेडिकल समाजशास्त्र की मूल विचारधारा एवं दर्शन

6.08 रेडिकल समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

6.09 रेडिकल समाजशास्त्र की विशेषताऐं

6.10 रेडिकल समाजशास्त्र के उद्देश्य

6.11 रेडिकल समाजशास्त्र के प्रकार

6.12 रेडिकल समाजशास्त्र के विकास में वैज्ञानिकों का योगदान

6.13 रेडिकल समाजशास्त्र की आलोचनाऐ

6.14 सारांश

6.15 शब्दावली

6.16 बोध प्रश्न

6.17 संदर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- मानवीय परिप्रेक्ष्य को समझ सकेगें ।
- उन परिस्थितियों व दशाओं को जान सकेगें जिनके कारण रेडिकल समाजशास्त्र अस्तित्व में आया ।
- परम्परागत व रेडिकल समाजशास्त्र में अन्तर कर पायेगें ।
- परम्परागत समाजशास्त्र से भिन्न रेडिकल समाजशास्त्रियों का क्या योगदान रहा समझ सकेगें ।

6.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र विगत दशक में एक नवीन व क्रान्तिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में सफल हुआ । जिसके अन्तर्गत शास्त्रीय व परम्परावादी दृष्टिकोण को चुनौती प्रदान करते हुये

सामाजिक यथार्थ कों समझने के नवीन आयाम प्रस्तुत किये गये । रेडिकल(अतिवादी) समाजशास्त्र कोई सिद्धान्त नही है । यह तो एक ऐसा उग्र आन्दोलन है जो रूढ़िगत समाजशास्त्र का विरोध करता है । रेडिकल समाजशास्त्र में एक बहुत बड़ा आक्रोश है - यह आक्रोश उस समाजशास्त्र के प्रति है जो समाज की समकालीन परिस्थितियों के प्रति कोई विरोध प्रकट नही करता । परम्परागत समाजशास्त्र की मुख्य धारा में ऐसे मुर्धत्य समाजशास्त्री सम्मिलित है, जो समाज की यथास्थिति को बनाये रखने में अपना हित समझते है । रेडिकल समाजशास्त्र के आक्रोश के पारसन्स, डेविड, पीटर ब्लॉ, होमन्स आदि विरूद्ध है । यह समाजशास्त्र संरचनावाद, प्रकार्यवाद प्रतीकात्मक अन्त क्रियावाद तथा विनिमय सिद्धान्त आदि के विरोध में अपना परचम उठाता है इसी कारण समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में इसे कोई सिद्धान्त का दर्जा नहीं दिया गया है, वास्तव में यह तो एक आन्दोलन है, आक्रोश है जो समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का खुलकर विरोध करता है । एक तरह से रेडिकल समाजशास्त्र नई पीढ़ी के युवा समाजशास्त्रियों का एक विरोध प्रदर्शन है ।

6.2 मानवीय परिप्रेक्ष्य

समाजशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप जो कि विगत कई दशकों से समाजशास्त्र के अध्ययन मे हावी रहा था । उसके प्रतिरोध में मानवीय समाजशास्त्र (Humanistic Sociology) का परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया । इस विचारधारा में विज्ञान तथा तकनीकी के प्रभाव से उत्पन्न सामाजिक स्थिति के विरोध में इस बात पर अधिक बल दिया गया कि समाजशास्त्र में शोषित वर्ग, महिलाओं व उपेक्षित वर्ग का अध्ययन किया जाये । अध्ययन द्वारा प्राप्त शान का सही उपयोग हों इस बात पर भी बल दिया गया । रेडिकल समाजशास्त्र के अन्तर्गत परम्परावादी दृष्टिकोणों को चुनौती प्रदान कर सामाजिक यथार्थ को समझने के लिये नवीन आयामों नवीन उपागमों को प्रस्तुत किया गया । समाजशास्त्र का मानविकी प्रारूप वैज्ञानिक उपगम की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उभरकर आया । मानविकी प्रकृति के आधार पर समाजशास्त्र उन वर्गो उन व्यक्तियों और उन समूहों के अध्ययन पर बल देता है । जो अभी तक उपेक्षित रहे है । जिन्हे व्यवस्था का सम्पोषण नही मिल पाया है । किन्तु समाजशास्त्र का ज्ञान उन समूहों वर्गो व व्यक्तियों के अध्ययन के बिना अधूरा है जैसे - हिप्पियों के वर्ग का आदिम जाति, अविकसित जाति, जनजातियों का अध्ययन किसी भी सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिये आवश्यक है । मानविकी प्रकृति के अन्तर्गत समाजशास्त्र में समाज के अधिकांश लोगों को अध्ययन जितना महत्व रखता है उससे कहीं अधिक वैयक्तिक पक्षों का अध्ययन किया जान महत्वपूर्ण है । यह विचार धारा कॉम्ट व दुर्खीम के चिन्तन से भिन्न वैबर के वेर्हस्टिन सिद्धान्त पर आधारित और वैबर के सिद्धान्तों के अधिक निकट पाई गई ।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक व्यक्ति समाजशास्त्र के अध्ययन की विषयवस्तु नहीं थी किन्तु मानविकी परिप्रेक्ष्य नें वस्तुपरक (Object) अध्ययन के स्थान पर विषय परक (subjective) तथा समाज के स्थान पर वैयक्तिक अध्ययन पर बल दिया । क्योंकि समाज के निर्माण में व्यक्ति का भी उतना ही महत्व हे जितना समूह या समाज के अधिकांश लोगों का होता है । यह उपागम विज्ञानवादी पद्वति को, वस्तुपरकता कों, आकड़ों के गणनात्मक पक्ष

तथा सर्वेक्षण विश्लेषण को शंका की दृष्टि से देखती है और इस बात पर अधिक बल देता है कि वस्तुपरक दृष्टिकोण हमें कुछ सीमाओं में बांधकर सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थ को ज्यों का त्यों जानने में बाधा पैदा करता है । अनेक दफा मानव समाज में ऐसा व्यवहार नहीं करता जैसी हम कल्पना या उम्मीद करते है । अनेक दफा सामाजिक यथार्थ द्वारा वास्तविकता को नही समझा जा सकता । उसको केवल मानवीय परिप्रेक्ष्य द्वारा ही समझा जा सकता है । मानव जिस समाज में स्वयं रहता है वह उसी समाज का अध्ययन करता है । अत: संवेदनशील होने के कारण मानव के अध्ययन का दृष्टिकोण प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न होता है क्योंकि ये जिन विषयों का अध्ययन करते है वे अधिकाशत: भौतिक, प्राकृतिक या निर्जीव होते है, जिनके न तो संवेदनशीलता होती है और न ही इनमें सामाजिक दशाओं के परिवर्तन का कोई प्रभाव पड़ता है।

6.3 मानवीय समाजशास्त्र की विशेषताऐं

समाजशास्त्र की मानविकी प्रकृति की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार है -

1. मानविकी प्रकृति विज्ञान के विरोध के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी । अत: विज्ञान व वैज्ञानिक पद्धति की विरोधी है ।
2. यह वस्तु परक के स्थान पर विषयपरक व समाज के स्थान पर वैयक्तिकता के अध्ययन पर बल देती है । जिससे सामाजिक यथार्थ का अर्न्तःनिहित अर्थ समझा जा सके ।
3. यह पद्धति सामाजिक प्रतिमानों को प्रतिमानात्मक सन्दर्भ के स्थान पर अर्थ प्रदानता के आधार पर समझें जानें का बात करते है । जैसे पिता की प्रस्थिति प्राप्त करने वाला व्यक्ति पिता की भूमिका निभाता है । यह प्रतिमानात्मक सन्दर्भ है लेकिन यथार्थ में वह पिता अपनी भूमिका को निर्वहन करनें में स्वयं उस पद हेतु क्या अर्थ प्रदान करता है । उसके स्वयं को विचार धारा को जानना उसकी अर्थ प्रदानता कहलाती है । इस पद्धति में अर्थ प्रदानता ही महत्वपूर्ण है ।
4. यह मानव से सम्बन्धित सभी समस्याओं सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक आदि के प्रति चिन्तित, वचनबद्ध होता है ।
5. यह ज्ञान को केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये अर्जित न करके मानव कल्याण के लिये ज्ञान प्राप्त करना इसका उद्देश्य होता है ।
6. समाज के साथ -साथ व्यक्ति को महत्व देता है क्योंकि व्यक्ति समाज का निर्माता है ।
7. अध्ययन पद्धतियां वास्तविकता के निकट व प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है जैसे - सहभागी अवलोकन, डायरिया पत्र -पत्रिकायें, आत्मकथा, जीवनी, शिलालेख आदि ।
8. यह परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र में शोषित, उपेक्षित तथा महिलाओं के अध्ययन तथा प्राप्त ज्ञान का सही उपयोग किये जाने पर जोर देता है ।
9. मानवीय परिप्रेक्ष्य के पक्षधरों की मान्यता है कि सामाजिक यथार्थ स्थिर नहीं है अपितु उसे निर्मित एवं पुर्न:, निर्मित किया जा सकता है और यह कार्य मानविकी प्रकृति द्वारा ही सम्भव है ।

6.04 मानवीय पद्वति की प्रमुख अध्ययन पद्धतियां

1. एथनोमैथोडोलॉजी (Ethnoethology)
2. फिनोमिनोलॉजी (प्रघटनाशास्त्र) (Phenomenology)
3. रेडिकल उपागम (Radical Sociologic)
4. प्रतीकात्मक अन्त:किया (Symnolic interaction)

6.05 मानवीय पद्वति के समर्थक समाजशास्त्री

समाजशास्त्रीय मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के समर्थक -

अस्कैड लूट्ज हेराल्ड गार्फिन्क्रेल, एल्विन गाउल्डनर, सी.राईट.मिल्स, टर्नर, सिसोरल पीटर बखर

1. **अल्फ्रेडशूट्ज -** शूट्ज ने घटनाकियावादी(Phenomenology) उपागम को मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के द्वारा लागू किया । इन्होंने अनेक केसों का अध्ययन किया तथा उसमें यह ज्ञात करनें का प्रयास किया कि विशिष्ट सामाजिक स्थितियों का सहभागियों के लिये का अर्थ होता है। आपने इस बात पर भी बल दिया कि समाजशास्त्री को प्रतिदिन के जीवन को संभव बनाने वाले नियमों और मान्यताओं का अध्ययन करना चाहिये । इनकी विचारधारा का प्रभाव अमेरिका के समाजशास्त्र पर पड़ा । पीटर बर्जर इनसे विशेष प्रभावित हुये और मानवतावादी उपागम की रूपरेखा प्रस्तुत की ।

2. **हेराल्ड गार्फिन्क्रेल -** इन्होंने नृजाति पद्धति को विकसित करके अमेरिका व यूरोप के अन्य भागों में फैलाया । इन्होंने अनुसंधान की गुणात्मक प्रणाली पर जोर दिया है तथा गणनात्मक प्रणाली का विरोध किया है । गॉरफिन्क्रेल सहभागी अवलोकन पद्धति को अधिक उपयुक्त मानते है।

3. **एलविन गाउल्डनर -** आपने वैशानिक परिप्रेक्ष्य संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की अलोचना की और मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजशास्त्र को राजनैतिक प्रतिबद्धता से मुक्त एक विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया । आपने प्रतिवर्तात्मक समाजशास्त्र की स्थापना की जों मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का ही एक प्रकार है ।

4. **सी.राईट.मिल्म -** मिल्स ने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया और बहुजन समाज का विचार सामाजिक मनोविज्ञान की मान्यताओं पर आधारित है । मिल्स अन्धाधुन्ध आनुभविक तथ्यों के संकलन और अनुसंधान के तथा वृहत्त सिद्धान्त के विरोधी है, और पद्वतिशास्त्रीय आडम्बरों की खिलाफत की है, साथ ही बुद्धिजीवियों के उत्तरदायित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है । आपका सुझाव था कि बुद्धिजीवियों को सत्य का वर्णन इस आशा से करना चाहिए कि कैसे भी, कोई न कोई, कभी न कभी तो सत्य की ओर ध्यान देगा ।

अत: कहा जा सकता है कि सामाजिक विज्ञानों में तो अधिकतर अध्ययन सामग्री मूल्य प्रधान होती है, वही मूल्यों का होना अवश्यम्भावी है । वैज्ञानिक जब भी किसी विषय का अध्ययन करता है तो उसके सम्मुख प्रश्न आता है कि इस अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है? जिसका जवाब मानवतावादी परिप्रेक्ष्य ही दे सकता सकता है

6.06 रेडिकल समाजशास्त्र के उद्भव के कारण

विगत चार दशकों में जिस समाजशास्त्र का विकास हुआ उसे कई नामों से पुकारा जानें लगा यथा उग्रवादी समाजशास्त्र, अतिवादी समाजशास्त्र, आमूल चूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र अथवा रेडिकल समाजशास्त्र । ये सभी नाम एक आन्दोलन का नाम है तथा एक दूसरे के पर्याय है । प्रस्तुत इकाई में रेडिकल समाजशास्त्र का उल्लेख किया जा रहा है । रेडिकल समाजशास्त्र के उद्भव के प्रमुख कारण इस प्रकार है - अमेरिकावासियों द्वारा अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश का वियतनाम जैसे छोटे देश पर अपनी सैन्य शक्ति द्वारा हमला करके वियतनाम को तबाह करना लेकिन वियतनाम बराबर अमेरिका की महान शक्ति का मुकाबला करता रहा । जिसका अमेरिका की वियतनाम नीति का समाजशास्त्रियों और वहां की जनता ने विरोध किया । परम्परागत समाजशास्त्री इस घटना को मूकदृष्टा बने देखते रहें जबकि रेडिकल्स की मान्यता थी कि इन परम्परागत समाजशास्त्रियों का कर्त्तव्य था कि वो अमेरिका की आम जनता को संगठित करते और युद्ध विराम के लिये अमेरिका सरकार को बाध्य करते तथा मानव तबाही को रोकने का प्रयास करते लेकिन इन परम्परागत समाजशास्त्रियों ने न तो अपने लेख क्रियाकलापो विचारों और पुस्तकों में अमेरिका की युद्धनीति का विरोध किया और न ही इसकी आलोचना की। इस मुख्य धारा के विद्वानों का मौन रहना रेडिकल समाजशास्त्रियों को स्वीकार नही था । 1967 में अमेरिका के सेन्ट फ्रांसिस्को में अमेरिका की समाजशास्त्रीय समीति का वार्षिक सम्मेलन में रेडिकल समाजशास्त्रियों ने वियतनाम में बमबारी का विरोध करते हुये इसे तुरन्त रोकने के लिये आवाज उठाई । सम्मेलन में तीन -चौथाई सदस्यों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया ।

रेडिकल समाजशास्त्रियों की ओर से मार्टिन निकोलस ने यह टिप्पणी की कि क्या समाजशास्त्र मूल्य रहित हो रहा है? समाजशास्त्री परिषद की सभा में इन्होंने यह प्रश्न उठाया, कि 'ज्ञान किसके लिये? ' निकोलस ने बताया कि समाजशास्त्र न तो वस्तुपरक रहा है और न ही है । 19 वीं शताब्दी में यूरोप में जिस समाजशास्त्र का विकास हुआ है, वह परम्परात्मक संकीर्णता की देन रहा है और 20वी शताब्दी में जिस समाजशास्त्र का विकास हो रहा है, उसका मूल प्रेरण स्रोत अमेरिकन कॉरपोरेट पूंजीवाद है । निकोलस ने कहा ' यह कह सकते है, कि कुछ समाजशास्त्रियों को छोडकर शेष की आँखे नीचे की ओर रही है तथा हाथ ऊपर की ओर । आँखे नीचे की ओर निम्न वर्गो की गतिविधियों के अध्ययन की ओर अर्थात ऐसी गतिविधियाँ जो सरकार को सूचारू रूप से चलाने में बाधा पैदा कर सकती है । इन्होंने समाजशास्त्रियों को द्विप्रस्थिति वाला कहा है, जिसकी कथनी तथा करनी में अन्तर है । वास्तव में समाजशास्त्रीय ज्ञान व विशेषशों को यथास्थिति बनाये रखने के कवच के रूप में इस्तेमाल किये जाने के कारण इन्हें कार्पोरेट संस्थान का एक घरेलू नौकर मात्र बताया ' । रेडिकल समाजशास्त्र के प्रार्दुभाव का गोल्डनर के अनुसार एक अन्य कारण परम्परागत समाजशास्त्र में विद्यमान विसंगतियाँ है । जहाँ परम्परागत समाजशास्त्र कहता है कि समाजशास्त्र विज्ञान है और इसमें प्राकृतिक विज्ञान की तरह वस्तुपरकता है । वहीं यह समाजशास्त्र चाहता है कि समाज की अवस्थ बराबर खराब बनी रहे जिससे समाजशास्त्री बराबर अनुसंधान के लिये सरकार से फण्ड प्राप्त करता रहे ।

अमेरिका में चुनाव सर्वेक्षण व विभिन्न बाजार पर वह अनुसंधान करता है और बदले में मोटी रकम प्राप्त करता हे । बुद्धिजीवियों द्वारा सरकार की अनुचित तरफदारी, ज्ञान द्वारा व्यवस्था को सुरक्षित बनाये रखने की विचारधारा के विरूद्ध होने वाले इन प्रयासों ने समाजशास्त्र में एक नई विचार धारा को जन्म दिया जिसे रेडॉक्स समाजशास्त्र कहा ।

गोल्डनर की अगली सोच है कि समाज विज्ञान अपने उपागम में उभयगामी है । एक स्थान पर वह मुक्तिदायक हे तो दूसरे स्थान पर दमनकारी है ।

6.07 रेडीकल समाजशास्त्र की मूल विचार धारा एवं दर्शन

बोस्टन में समाजशास्त्रिओ के सम्मेलन में स्नातक स्तर के विद्यार्थियों नें जिन्हें अध्यापकों का समर्थन प्राप्त था समाजशास्त्र मुक्ति आन्दोलन को संगठित किया । इस संगठन ने आवाज उठाई कि रूढ़िगत समाज की बहकावट को समाप्त कर देना चाहिये उसे कूड़ेदान में डाल देना चाहिये । ऐसा समाजशास्त्र किस काम का जो पद दलित लोगों के जीवन को सुखमय बनाने में सहायक न हो सकें । रेडिकल समाजशास्त्रियों ने सोचना प्रारम्भ किया कि इस नयी विद्या का एजेण्डा क्या होगा? और सभी ने एकमत होकर तय किया कि परम्परागत रूढ़िगत समाजशास्त्र की मुख्य धारा में कही न कही कुछ खामी अवश्य है यदि खामी न होती तो अमेरिका के समाज की यह वीभत्स दशा नहीं होती इसलिये अमेरिका के समाज का पुननिर्माण होना चाहिए । दूसरी ओर स्वयं समाजशास्त्र कों नये सिद्धान्तो उपागमों का निर्माण करना चाहिये जिनके आधार पर भविष्य के समाज को बनाया जा सके ।

रेडिकल समाजशास्त्री राजनीति और मॉर्क्सवाद से बहुत कुछ उधार लेता है इन विचारकों की मान्यता है कि किसी भी समाजशास्त्री के लिये राजनीति दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है क्या समाजशास्त्री, समाजशास्त्री रहते हुये राजनीतिक आन्दोलनकारी हो सकता है? दूसरे शब्दों में एक ओर तो रेडिकल समाजशास्त्री का कार्य सामाजिक नव निर्माण के लिये नये सिद्धान्त और विधियों का बनाना है दूसरी ओर समाज की छोटी मोटी लड़ाइयों में एक आन्दोलनकारी की तरह भागीदारी करना है । इस मुद्दे पर रेडिकल समाजशास्त्रियों का आग्रह है कि रेडिकल समाजशास्त्र की सार्थकता इसी में है कि वह समाजशास्त्र के पेशे में विश्वविद्यालयों में और इसी तरह सम्पूर्ण समाज में आमूल परिवर्तन लाने के लिये नेतृत्व प्रदान करें ।

आगस्ट कॉम्टे से लेकर पारसन्स व मर्टन तक इससे भी और आगे ढेरों समृद्ध स्रोत है। परम्परागत समाजशास्त्रियों के पास ज्ञान का असीम भण्डार है । रेडिकल समाजशास्त्रियों के बौद्धिक स्रोत के बारे में गोल्डनर ने 1970 में प्रकाशित अपनी कृति कमिंग क्राइसिस इन वेस्टर्न सोशियोलॉजी में बताया कि सोरोकिन मेनहीम सीराइटमिल्स मार्टिन निकोल्स होराविटज डेविडरिजमैन डी. कॉलफैक्स एवं अलबर्ट जेनेस्की आदि विचार धारा के प्रेरणा स्तम्भ है । गोल्डनर का कहना है कि रेडिकल समाजशास्त्र को निरन्तर मार्क्सवाद के विभिन्न प्रकारों के साथ संवाद जारी रखना चाहिये । परम्परागत समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का प्रभाव अधिक है यह माना जाता है कि प्रकार्यवादी सिद्धान्त एक शास्त्रीय सिद्धान्त है और इससे अब किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है जबकि रेडिकल समाजशास्त्री विशेष रूप से गोल्डनर के विचार में प्रकार्यवादी सिद्धान्त वस्तुत: परम्परागत रूढ़िगत सिद्धान्त है, जिसमें परिवर्तन न होने के कारण विस्तार की दृष्टि से अत्यधिक सीमित है । इस सिद्धान्त में किसी प्रकार के परिवर्तन की

सम्भावना नही होने के कारण समाज की स्थिति यथावत बनी रहेगी और पददलितों की स्थिति में भी कोई अन्तर नही आयेगा । अत: गोल्डनर का तर्क है कि परम्परागत समाजशास्त्र से आशा नहीं की जा सकती । वह अपनी परम्परागत लीक से हटकर किसी नये रास्ते को अपनाये । आज आवश्यकता यह है कि स्वयं समाजशास्त्र का ही परिवर्तन किया जाये । जिस प्रकार मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को जो कि सिर के बल पर खड़ा था, पैर के बल खड़ा किया । उसी प्रकार रेडिकल समाजशास्त्र को मुख्यधारा समाजशास्त्र अपने पांवों पर खड़ा करना है ।

6.08 रेडिकल समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

रेडिकल समाजशास्त्रियों ने रूढ़िगत समाजशास्त्र की आलोचना तो बड़े कटु शब्दों में की है लेकिन उन्होनें अपनी इस नयी विद्या को किसी वैज्ञानिक पदावली में परिभाषित नहीं किया जो कुछ इन्होंने व्यक्त किया उसके अनुसार रेडिकल समाजशास्त्र मार्क्सवाद और राजनीति के ' साथ एक संवाद मात्र है । यह वह विद्या या आन्दोलन है जो यथास्थिति के विरोध में है इसका क्रियान्वयन द्वारा वर्तमान समान का पुननिर्माण करना है । दूसरे शब्दों में उग्रवादी समाजशास्त्र व्यवस्था का विरोधी है एवं व्यवस्था में अनेक वर्गो के निहित स्वार्थों का विश्लेषण करते हुये वैकल्पिक संरचना के निर्माण में अभिरूचि रखता है ।

कॉलफैक्स एवं रोश के अनुसार कुछ समाजशास्त्रियों के लिये उग्रवादी समाजशास्त्र का अर्थ विषय पर आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य के माध्यम से निगरानी रखना है । उनके अनुसार तत्कालीन समाजशास्त्र शीत युद्ध से कटिबद्ध उदारवादी लोगों का सृजन है जो कि विशिष्ट प्रस्थिति के आधार पर अमेरिका की भव्यता को तर्क संगत विज्ञान के नाम पर करार देते है । उग्रवादी समाजशास्त्र इस स्थिति की भर्त्सना करता है और ऐसे तत्वों के विरोध को अपनी जिम्मेदारी मानता है ।

रेडिकल उग्रवादी इसलिये है क्योंकि समाजशास्त्र की जड़े समाजशास्त्री को एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रभावित करती है और प्रश्न केवल यह ही नही हे कि कार्य कैसे किया जाये बल्कि यह भी कि जीवन कैसे यापन किया जाये ।

थियोडोरसन एवं थियोडॉरसन ने रेडिकलिज्म की व्याख्या करते हुये बताया कि रेडिकलिज्म सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के प्रति परम्परा विरोधी उपागम है जो यथा पूर्व स्थिति के प्रति प्रभावशाली असन्तोष को चित्रित करता है और समाज को जितनी जल्दी सम्भव हो सके उतनी जल्दी शक्तिशाली तरीकों से परिवर्तित करने की मांग करता है ।

रार्बट लिण्ड की मान्यता है कि ज्ञान का उपयोग होना चाहिये आज विज्ञान की राय है कि ' ज्ञान, ज्ञान के लिये है ', को स्वीकार नही करते है । इनका प्रश्न है कि ज्ञान किसलिये? जिसको आगे चलकर रेडिकल समाजशास्त्रियों ने ' ज्ञान किसके लिये? 'में परिवर्तित कर दिया और समाजशास्त्र के ज्ञान को उद्देश्य एवं विकास से सम्बन्धित करने पर जोर दिया ।

6.09 रेडीकल समाजशास्त्र की विशेषताऐं

रेडिकल समाजशास्त्र को उसकी महत्वपूर्ण विशेषताओं के द्वारा अन्य उपागमों से पृथक पहचाना जा सकता है । इसकी प्रमुख विशेषताएँ मिल्स, गोल्डनकर, हरकाविटज कॉलफैक्स रोश और जेनेस्क के अनार पर इस प्रकार है ।

1. रेडिकल समाजशास्त्र की अध्ययन सामग्री मुख्यत: शोषित एवं दलित वर्ग है तथा मानव की सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान का सुझाव देने के लिये वे सभी प्रकार के मानवों एवं वर्गो का भी अध्ययन करते है ।
2. रेडिकल विचारक संघर्ष के माध्यम से समाजशास्त्र का अध्ययन करना चाहते थे । अत: क्रान्तिकारी दृष्टिकोण वादी रहे है।
3. रेडिकल समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि हमको अपने विचारों विधियों तरीकों व दृष्टिकोणों में अपनी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन करते रहना चाहिये ।
4. रेडिकल समाजशास्त्र व्यक्तिगत या सीमित हितों को न चाहकर सामाजिक विकास द्वारा सम्पूर्ण समाज व देश की समस्याओं का समाधान व हित चाहते है ।
5. रेडिकल समाजशास्त्र परम्परागत या रूढ़िवादी समाजशास्त्र के अध्ययन पद्धतियों व अध्ययन बिन्दुओं से हटकर नवीन सामाजिक आयामों की ओर जन साधारण का ध्यान आकर्षित करता है ।
6. सामाजिक व्यवस्था का विरोधी होने के कारण रेडिकल समाजशास्त्र विज्ञान और वस्तुपरक अध्ययन का आलोचक और मानवीय दृष्टिकोण का पोषक है ।
7. रेडिकल समाजशास्त्र का कार्य केवल आलोचना करके अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित करना ही नहीं है अपितु उनका काम स्वीकारोक्ति से समाज का यथार्थता को प्रस्तुत करना है ।
8. रेडिकल समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में पूर्वाग्रहों या मूल्य पारित द्वारा प्रभावित होकर निष्कर्ष निरूपण की बात करते है क्योंकि समाजशास्त्र में व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का अध्ययन किया जाता है ।

6.10 रेडीकल समाजशास्त्र के उद्देश्य

रेडिकल समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य स्थापित समाजशास्त्रियों के विरोधाभासों को स्पष्ट कर रेडिकल एवं मानवतावादी विकल्प प्रस्तुत करना है? रेडिकलवादियो के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है -

1. समाज के गतिशील एवं संगठनात्मक पहलूओं के अध्ययन का विकास करना ।
2. वर्तमान को किस प्रकार परिवर्तित कर एक साथ सामाजिक संगठन स्थापित किया जा सकता है तथा वर्तमान समाज को कैसे परिवर्तित किया जा सकता है, के अध्ययन पर बल देता है ।
3. समाज के पिछड़े दलित अशिक्षित और शोषित वर्गो का अध्ययन कर उन्हें जन सामान्य तक पहुँचाना ।
4. वर्तमान में समाजशास्त्र में प्रचलित सिद्धान्तो एवं अध्ययन पद्धतियों को परिवर्तित कर नये सिद्धान्त व अवधारणा प्रस्तुत करना
5. मानव की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति के लिये कार्य करना ।
6. मानव की कार्य क्षमताओं का पूर्ण रूप से विकास करके उन्हें उनकी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करना ।
7. सामाजिक यथार्थ को रेडिकल समाजशास्त्र के उद्देश्य के सन्दर्भ में परिभाषित करना ।

6.11 रेडीकल समाजशास्त्र के प्रकार

डेविड कॉलफैक्स ने रेडिकल समाजशास्त्र के चार प्रकार का उल्लेख किया है -

1. **सहभागी रेडिकलवाद** - इसमें वे लोग आते है, जो वामपंथी विचारधारा के समर्थक हे जिनकी मान्यता है कि समाज में परिवर्तन क्रान्ति के द्वारा ही लायी जा सकती है । ये कहते है कि अभी तक के हुये बौद्धिक व समाजशास्त्रीय अनुसंधान उपयोगी नहीं है, और न ही उनका आज के सन्दर्भ में कोई महत्व ही है । इनका झुकाव राजनैतिक व व्यावहारिक पक्ष की ओर है।

2. **सांस्कृतिक रेडिकलवाद** - इसमें वे लोग आते हे जो स्वयं को निम्न व शोषित वर्ग के साथ जोड़ते है उनकी समस्याओं का उसी रूप में अध्ययन करतें प्रमुख विचारक बेकर, गॉफमेन तथा सिंगर है जो मानते है कि वर्तमान व्यवस्था के शिकार लोगों का अध्ययन किया जावें ।

3. **वैषयिक रेडिकलवाद** - इस वर्ग के लोगों के अध्ययन के विषय क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रजातिवादी, समाजवाद, वर्ग चेतना, वर्ग संघर्ष एवं छात्र असन्तोष आदि । इनकी मान्यता है ये समस्यायें वर्तमान समाज एवं शासन व्यवस्था की विरोधी है और समाज की सत्यता को उजागर करती है अत: इनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है ।

4. **दार्शनिक रेडिकलवाद** - इस वर्ग के समाजशास्त्री अपने विचारों की उत्पत्ति का स्रोत काल मॉर्क्स को मानते है और मानवतावादी सिद्धान्त में आस्था रखते है. जैसे लिण्ड लेकिन अमेरिकन समाजशास्त्री इस विचारधारा को स्वीकार नही करते ।

6.12 प्रमुख रेडीकल समाजशास्त्र के विकास में वैज्ञानिकों का योगदान

रेडिकल समाजशास्त्र के विकास में सी.राइट.मिल्स, गोल्डनर जेनेस्की तथा होरोविज आदि का योगदान इस प्रकार है ।

सी राईट मिल्स का योगदान - सी. राईट मिल्स ने समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में अहम भूमिका निवर्हन की है । इन्होंने स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र अपनी तरह का एक वैज्ञानिक उपकरण है और होना भी चाहिए । इन्होंने बताया कि परम्परागत समाजशास्त्री सुधार की प्रवृति से दूर हटते चले गये है समाजशास्त्र में संवेदनशीलता समाप्त हो गई है और लोग समाज तथा व्यक्ति की समस्याओं के प्रति उदासीन हो गये है । इन्होंने बताया कि समाजशास्त्रियों का सम्मान वृहद सिद्धान्त निर्माण में रही जबकि उन्हें मानवीय समस्याओं के प्रति अधिक संवेदाशील अधिक होना चाहिये । मिल्स ने आनुभाविक अभूर्त्तता का भी आलोचना की है । मिल्स के अनुसार परम्परागत समाजशास्त्री विषयपरक समस्याओं का अध्ययन नही करते है ।

सी.राईट.मिल्स नें अपने 'रेडिकल विचार' अपनी पुस्तक ' पॉवर इलीट ' में व्यक्त करते हुये बताया कि अमेरिकी समाज में प्रजातन्त्र नाम मात्र का है तथा सत्ता ' शक्ति अभिजन ' में निहित है । अमेरिका में तीन प्रकार की संस्थाओं का उल्लेख किया प्रथम वृहद आर्थिक संगठन दूसरा सैन्य संगठन और तीसरा संघीय सरकार । अमेरिका में राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण निर्णय इन्हीं अभिजनों के द्वारा लिये जाते है । जैसे हिरोशिमा नागासाकी में परमाणु बम गिराना, द्वितीय विश्वयुद्ध आदि । अमेरिका में डेमोकेटिक एवं रिपब्लिक पार्टीयों में कोई अन्तर नहीं है । अमेरिका मे मध्यम वर्ग का अध्ययन भी रेडिकल दृष्टिकोण से किया गया है । दैनिक मजदूर को अमेरिका में एक वस्तु माना है जो बुद्धि कला

एवं ज्ञान को खुले बाजार में बेचता है । प्रबन्धक प्रशासक आदि को नौकरी इस आधार पर दी जाती है कि वे दूसरे व्यक्तियों को कितना प्रभावित और नियन्त्रित कर सकते है ।

सी.राइट मिल्स ने समाजशास्त्र से सम्बन्धित अपने विचार अपनी दूसरी प्रसिद्ध कृति सोशियोंजिकल इम्रेजीनेशन में व्यक्त करते हुये समाजशास्त्र को एक शिल्प कहा है और इस बात पर चिन्ता व्यक्त की है कि समाजशास्त्री सुधार की प्रवृत्ति से परे हटते चले गये । इन्होंने समाजशास्त्रीय परिकल्पनाओं को एक आवश्यक आधार माना है, जिसके माध्यम से सामाजिक घटनाओं का भी विरोध किया । सी. राईट मिल्स कहते है कि आनुभाविक अमूर्तता का सम्बन्ध स्वयं के अध्ययन से कम है और विज्ञान के दर्शन से अधिक सम्बन्धित रहा है जिसके कारण अध्ययन अत्यन्त सीमित हो जाते है । मिल्स ने समाजशास्त्रीय परिकल्पना को एक आवश्यक तत्व मानते हुए बताया कि समाजशास्त्रीय परिकल्पना इनके धारक को इस योग्य बनाते है, वह अर्नादृष्टि प्रदान करती है । जिससे वह विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के आन्तरिक व बाह्य जीवन व दिनचर्या की एक वृहता ऐतिहासिक घटना क्रम में अर्थपूर्ण ढंग से समझ सकें । जिसके दो फायदे है प्रथम एक आदमी अपने अनुभवों को तभी समझ सकते है जब वह अपने आपको अपने काल में देखें अर्थात वह अपने स्वयं के जीवन अवसरों के बारे में तभी जान सकता है जबकि वह अपने चारों ओर रह रहें व्यक्तियोग के बारे में तथा परिस्थितियों के बारे में जागरूक है । दूसरा हालाँकि व्यक्ति का निर्माण समाज तथा इतिहास के प्रयासों से हुआ है पर उसका जीवन समाज के स्वरूप व इसके इतिहास में कुछ योगदान अवश्य देता है ।

5. **गोल्डनर का योगदान** - इन्होनें अपनी कृति कमिंग क्राइसेस ऑफ वेस्टर्न साशियोलॉजी में प्रस्तुत करते हुये प्रतिर्व्यात्मक समाजशास्त्र और इतिहास रूपेण संवेदनशील समाजशास्त्र शीर्षक के माध्यम से अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते है ।

1. प्रतिवर्त्यात्मक समाजशास्त्र इस तथ्य को मानकर चलता हे कि विश्व के सम्बन्ध मे ज्ञान का विकास तभी सम्मद है, जब समाजशास्त्री स्वयं के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखता हो।
2. यह समाजशास्त्र इसलिए रेडिकल समाजशास्त्र है क्योंकि समाजशास्त्र के आधार पर समाजशास्त्रियों को एक पूर्ण व्यक्तित्व मानकर उन्हें प्रभावित करते है और यह सिखाते है कि जीवन किस प्रकार से व्यतीत किया जाए ।
3. प्रतिवर्त्यात्मक समाजशास्त्र रेडिकल समाजशास्त्र की भाँति वर्तमान समाज का आमूल -चूल परिवर्तन करने का ऐतिहासिक अभियान लेकर चलता है ।
4. रेडिकल समाजशास्त्र की तरह से यह समाजशास्त्र भी व्यक्ति की भूमिका और भूमिका र्निवाह के मध्य पृथकता को नहीं मानता है ।
5. यह समाजशास्त्र परम्परागत समाजशास्त्र की उन्हीं आधारों पर आलोचना करता है जिन आधारों पर रेडिकल समाजशास्त्र करता है ।
6. गोल्डनर ने भी रेडिकल समाजशास्त्रियों की भाँति स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र इस तथ्य के प्रति जागरूक है कि जो लोग समाजशास्त्र के विकास के लिए अनुदान देते है, वे ही अनुदाता ज्ञान की जिज्ञासा को नष्ट भी करते है ।

7. रेडिकल समाजशास्त्र की भाँति प्रतिवर्त्यात्मक समाजशास्त्र की भी यही मान्यता है कि किसी भी प्रकार के समाजशास्त्र का विकास किन्ही विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम होता है ।
8. गोल्डनर ने कहा है कि समाजशास्त्र मात्र अलोचनाऐ ही नही करता है बल्कि रेडिकल समाजशास्त्र की भाँति शोषण रहित नवीन समाज के निर्माण के लिए तत्पर भी है, जिसमें व्यक्ति का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो सके ।
9. इनके अनुसार यह समाजशास्त्र व्यक्ति की दैनिक घटनाओं से उसी प्रकार से सम्बन्धित है जिस प्रकार से यह समाज की वृहद् समस्याओं से सम्बन्धित है ।

जेनेस्की का योगदान - जेनेस्की ने कॉलफैक्स की पुस्तक रेडिकल समाजशास्त्र में लिखे अपने लेख टुअर्डस ए रेडिकल सोशियोलॉजी में अपने विचार बताये कि अमेरिकन समाज को हम संयुक्त पूँजीवाद की श्रेणी में रख सकते है जहाँ निजी उपक्रम प्रभावशाली है । समाजशास्त्र इन प्रभावी संस्थाओं की संरचना वैधानिकता प्रदान करने के साथ -साथ इनके अस्तित्व के औचित्य की बात भी करते है । जेनेस्की की मान्यता है कि समाजशास्त्र के सिद्धान्त और अनुसंधान की भूमिका मानव की छिपी हुई शक्तियों को समझने की ओर मोड़ी जानी चाहिये । रेडिकल समाजशास्त्र की तीन परिधियाँ महत्वपूर्ण मानी गयी है ।

1. मनुष्य और समाज को ठीक प्रकार से समझना ।
2. व्यवस्थावादी विचारों के प्रति सन्देह की भावना रखना ।
3. जन समुदाय के प्रति दया रखना तथा प्रभावित लोगों के साथ स्वयं को जोड़ना ।

इस दृष्टि से जेनेनेस्की के विचार से रेडिकल समाजशास्त इन तीन बातों की वकालत करता है -

1. **समझ** - रेडिकल्स का कार्य मानव तथा मानव समाज को समझना तथा सामाजिक संरचना में शोषित वर्ग के लिये कौन से तत्व जिम्मेदार है? का पता लगाना ।

2. **शंका की प्रवृति** - अन्धविश्वासों के स्थान पर रेडिकल्स शंका की प्रवृति के विकास किये जाने पर बल देते है । प्रश्न करने की प्रवृति विद्यार्थियों में होनी चाहिये ।

3. **मानवता के प्रति प्रतिबद्धता** - रेडिकल्स का विचार है कि मानव सम्बन्धों में समाजशास्त्र और सामाजिक मूल्यांकन एक दूसरे से पृथक नही किये जा सकते और आज तक का समाजशास्त्र भी मूल्यों से स्वतन्त्र नही रहा । सामाजिक ज्ञान का रेडिकल समाजशास्त्री शोषित पर उपयोग की बात करते है न कि पूंजीवाद के पोषण हेतु । व्यवस्था का रचनात्मक विरोध करें तथा लगातार अलोचना करते रहें ।

होरोविट्ज का योगदान - होरोविट्ज का मानना है कि शास्त्रीय अमेरिकन उदारवाद का नये रेडिकल्स ने प्रतिस्थापित कर दिया है, जो अपने आपको भविष्य से जोड़ते है, न कि वर्तमान यू.के. से । ये कमजोर की ताकतवार से शोषक की शोषित की प्रति वर्गो के दावों के विरूद्ध जन सामान्य के अधिकारों का समर्थन करता है । इन्होंने स्वयं के हितों के नियमों को नकारने की बात की है । एक श्वेत कालो के लिये लड़ाई करता हो एक अरबी यहुदी का पक्ष लेता है, एक भूमिपति भूमि सुधार की वकालत करता है । ये रेडिकल व्यवहारवाद के उदाहरण है । इस प्रकार शोषित का शोषक के विरूद्ध संघर्ष करना स्वभाविक परिवर्तनवाद प्राथमिक रूप से एक व्यक्तिगत लक्षण है ।

समान्यत: रेडिकल समाजशास्त्र समाज में विद्यमान नकारात्मक पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करता है जैसे - गरीबी, प्रजातिवाद शोषण, शक्तिहीनता तथा सैनिक -औधोगिक प्रतिष्ठान । रेडिकल समाजशास्त्र इनको व्यवस्था का विकान मानता है । रेडिकल समाजशास्त्र प्रश्न करता है कि सामाजिक संरचना के द्वारा उत्पन्न समस्यायें उसी में अन्तर्निहित होती है या ' ये मात्र त्रुटि है या अनचाहे परिणाम ' रेडिकल समाजशास्त्र वचन बद्धता का समाजशास्त्र है।

6.13 रेडीकल समाजशास्त्र की आलोचनाऐं

रेडिकल समाजशास्त्र युवा समाजशास्त्रियों का बौद्धिक चिंतन था । अत: इसमें अनेक कर्मियों का होना स्वभाविक है । प्रमुख कमियाँ जैसे - इसके उद्भव और विकास का इतिहास, अवधारणा सम्बन्धी कमियाँ, वैज्ञानिक अध्ययन विधि का आभाव सिद्धान्त निर्माण की कमी, निरर्थक लक्ष्य, अव्यवहारिक उद्देश्य परम्परागत समाजशास्त्र की अलाचना और नगण्य उपलब्धियों। प्रमुख सीमायें इस प्रकार है -

1. रेडिकल समाजशास्त्र की यह कहकर आलोचना की जाती है कि इसके दावे सिमट कर प्रोटेस्ट से अधिक और कुछ नहीं होते इसमें सम्प्रत्यात्मक एवं सैद्धान्तिक जीवन प्रतीत नही होता।
2. जहाँ तक सामाजिक वैज्ञानिकों की भूमिका समाज शास्त्र को राजनैतिक व नैतिक समस्याओं को जोड़ने का सवाल है, हमें देखना होगा कि रेडिकल चिन्तक कहा तक रेडिकल है? गर्मजोशी असर पैदा करती है, किन्तु यदि उसमें जीवन का अभाव हो तो वह बचकाना तोड -फोड़ ठण्डी हो जाती है । वर्तमान में अधिकतर युवा आकोश बेजान हो चुका है ।
3. रेडिकल समाजशास्त्रियों ने परम्परागत समाज के प्रति असन्तोष प्रकट किया है और स्वीकार किया है कि वर्तमान समाज की व्याख्या और समस्याओं का हल निकालने में रेडीकल समाजशास्त्री भी असमर्थ रहे है ।
4. रेडिकल समाजशास्त्र का इतिहास अत्यन्ताल्प है । हम बहुत कुछ अपेक्षा रेडिकल समाजशास्त्र से करें यह सही नही है इतना अवश्य है कि रेडिकल समाजशास्त्र एक रखवाली का काम अवश्य कर रही है । जिससे कि परम्परागत समाजशास्त्री आत्मसन्तोष के धरातल पर नही रह सकें । रेडिकल समाजशास्त्र ने उनको जागरूक बना दिया है और यह ज्ञात हो गया कि लेखनियों का विरोध व विश्लेषण हो रहा है ।
5. रेडिकल समाजशास्त्र वैसे तो बहुत बड़ा क्रान्तिकारी सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह कुछ भी नही है । रूसी सिद्धांकारी इसे 'अधपके बुद्धिजीवियों का भटकाव बताते है और अधम बुर्जुवा क्रान्ति' की संज्ञा देते है ।
6. गंभीर मार्क्सवादी गुट वैज्ञानिक दृष्टि प्रारूप रखता है, किन्तु खींचतान करने वाले रेडिकल समाजशास्त्रियों से मार्क्सवाद को हमेशा खतरा है ।
7. बौद्धिक स्तर पर परिपक्व रूप से ज्ञान का निर्माण करने की क्षमता रेडिकल समाजशास्त्र में नही है । इसलिये कहा जा सकता है कि बौद्धिक स्तर पर रेडिकल समाजशास्त्र अत्यन्त ही कमजोर व अविकसित है ।

8. रेडिकल समाजशास्त्र सिद्धान्त निर्माण के पक्षधर न होने के कारण समाज शास्त्र की एक शाखा ' ज्ञान, ज्ञान के लिये' का आस्तित्व ही नही रहेगा ।
9. रेडिकल समाजशास्त्र द्वारा समाज में परिवर्तन मात्र किया के आधार पर नही हो सकता । व्यापक परिवर्तन करने के लिये हमारे पास प्रभावशाली सिद्धान्तों का होना आवश्यक है । सिद्धान्त के अभाव में परिवर्तन की सम्भावना असंभव है ।

6.14 सारांश.

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपने यह जाना कि समाजशास्त्र में दो विरोधी विचारधारायें दुष्टव्य हो रही है । परम्परागत समाजशास्त्र जो वस्तुपरक व विज्ञानवादिता से प्रभावित था के स्थान पर मानवतावादी रेडिकल समाजशास्त्र जो विषयपरक व व्यक्तिवादिता पर आधारित है उभरकर आई जिससे न केवल उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जिनसे ये आस्तित्व में आई अपितु रेडिकल समाजशास्त्र के उद्देश्य, अध्ययन पद्वतियॉ एवं विशेषताऐं को बताने के साथ उन रेडिकल्स की विचारधारा से भी अवगत कराया जिसने मॉर्क्स के उपागम को और अधिक उग्र और क्रान्तिकारी बनाया ।

6.15 मुख्य शब्दावली

परम्परागत समाजशास्त्र	–	वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर समझने की परम्परा ।
मानवीय समाजशास्त्र	–	व्यक्ति विषयपरक दृष्टिकोण से व्याख्या
रेडिकल समाजशास्त्र	–	उग्रवादी समाजशास्त्र
शक्ति अभिजन	–	समान स्वार्थ, रूचियों, तथा उद्देश्य रखने वाले तथा सत्ता और निर्णय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लोग ।
ज्ञान -ज्ञान के लिये	–	ज्ञान की व्याख्या सिद्धान्त निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा ।
शिल्पकार	–	समाजशास्त्रीय परिकल्पना शक्ति का विकास कर अर्न्तदृष्टि व समझ प्राप्त करें ।

6.16 बोध प्रश्न

1. मानवीय परिप्रेक्ष्य से आप क्या समझते है? वैज्ञानिक परिकेपक्षीय से यह किस प्रकार भिन्न है?
2. उन दशाओं और परिस्थितियों का वर्णन करिये जिसमें रेडिकल समाजशास्त्र अस्तित्व में आया?
3. रेडिकल समाजशास्त्र के उद्देश्य व अध्ययन की विधियां बताइये?
4. प्रमुख रेडिकल्स का योगदान बताइये?

6.17 संदर्भ ग्रन्थ

1. सी. डब्ल्यू मिल्स : 'सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन ' -आक्सफोर्ड यूर्नि. प्रेस, 1967)
2. होराविज इन्वेंग लुविस : रेडिकल सौशियोलॉजी 1976

3. कॉलफैक्स रेडिकल सोशियोलॉजी 1971
4. गोल्डनर कमिंग क्राइसेज ऑफ वेस्टर्न सोशियोलॉजी 1971
5. सी. डब्ल्यू मिल्स : दी पावर इलीट

इकाई - 7

ऐतिहासिक उपागम

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.01 प्रस्तावना

7.02 ऐतिहासिक पद्धति : अर्थ एवं परिभाषा

7.03 ऐतिहासिक विधि की अनिवार्य आवश्यकताएँ (मान्यताएँ)

7.04 ऐतिहासिक पद्धति के स्त्रोत

7.05 ऐतिहासिक पद्धति के चरण

7.06 ऐतिहासिक विधि का स्वरूप

7.07 ऐतिहासिक विधि का महत्व

7.06 ऐतिहासिक विधि की सीमाएँ

7.09 ऐतिहासिक पद्धति का समाजशास्त्र में प्रयोग

7.10 ऐतिहासिक पद्धति के सिद्धान्त

7.10.1 स्पेंगलर एवं चक्रिय परिवर्तन का सिद्धान्त

7.10.2 टॉयनबी का सिद्धान्त

7.10.3 सोरोकीन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त

7.10.4 कार्ल मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त

7.11 सारांश

7.12 बोध प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- प्रमुख समाजशास्त्रीय उपागमों को जानेंगे ।
- ऐतिहासिक अध्ययन के उपागम का अर्थ, परिभाषा, मान्यताएँ, स्त्रोत आदि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- ऐतिहासिक पद्धति के विभिन्न चरण, स्वरूप, महत्व तथा सीमाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- ऐतिहासिक पद्धति का समाजशास्त्र में प्रयोग तथा प्रमुख समाजशास्त्रियों जैसे - स्पेगलर, टॉयनबी, सोरोकीन एवं मार्क्स के ऐतिहासिक विधि के सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययनों की रूपरेखा समझ सकेंगे ।

7.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में सामाजिक प्रघटनाओ के अध्ययन के लिए अनेक उपागमों का सहारा लिया जाता है जिनमें से ऐतिहासिक उपागम भी एक है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण इतिहासकार अध्ययन की पद्धति को अपनाकर सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है । इतिहासकार समाज की भूतकालीन प्रघटनाओं का वर्णनात्मक वृत प्रस्तुत करता है । ऐतिहासिक पद्धति इन भूतकालीन प्रघटनाओं को समय के सन्दर्भ में अर्थ प्रदान करते हुए उनमें अन्तर्निहित सामाजिक शक्तियों की व्याख्या करती है आर उसके आधार पर वर्तमान सामाजिक प्रगटाओ से सम्बन्धित नियमों की स्थापना की जाती है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण ऐतिहासिक पद्धति के द्वारॉ सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन करने पर बल देता है ।

समाजशास्त्र -को आधुनिक इतिहास तथा इतिहास को प्राचीन समाजशास्त्र कहा जाता है । प्रत्येक सामाजिक प्रघटना अपनी पृष्ठभूमि में ही समझी जा सकती है । समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉस्ट ने समाजशास्त्रीय अध्ययन में इतिहास के महत्व को स्वीकार करते हुए मत व्यक्त किया कि समाजशास्त्र पर्याप्त मात्रा मे ऐतिहासिक तथ्यों पर निर्भर रहेगा । आज की घटना के अंकुर बीते हुए कल में विद्यमान होते हैं और कल जो घटना होगी उसका बीजारोपन आज हो रहा है या हो चुका है । इस प्रकार सामाजिक जीवन को भिन्न -भिन्न युगों की परस्पर सम्बन्ध श्रृंखला के रूप में समझा जा सकता है । इतिहास अतीत की सामाजिक प्रघटनाओं का काल क्रम के अनुसार अध्ययन करता है । अत: इतिहास समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है ।

7.02 ऐतिहासिक पद्धति: अर्थ एवं परिभाषा.

इतिहास में केवल 'क्या था ' का ही अध्ययन नहीं किया जाता वरन यह भी ज्ञात किया जाता है कि ' 'क्यो और कैसे घटित हुआ । ' इतिहास के द्वारा समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक घटनाओं का क्रमिक एवं व्यवस्थित अध्ययन करके हम सामाजिक जीवन की निरन्तरता और सामान्य धारा को समझ सकते है । आज यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि कोई भी घटना अचानक घटित नहीं होती वरन् इसका एक अतीत होता है, एक इतिहास होता है, जिसे समझे बिना उस घटना की पूर्ण स्पष्ट व्याख्या एवं विश्लेषण संभव नहीं है । यही कारण कि समाजशास्त्र विधि का प्रयोग बढ़ा है और अनेक समाजशास्त्रियों ने समाज, सामाजिक समूहों एवं संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया है समाज की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिए ऐतिहासिक पद्धति ही एकमात्र विधि है । ऐतिहासिक विधि का प्रयोग 19वीं सदी से ही होने लगा । सन् 1859 में डार्विन की पुस्तक "Origin of the Species" के प्रकाशन के बाद से तो समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र मे ऐतिहासिक विधि लगभग छा सी गयी और परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं के अध्ययन हेतु इस विधि का प्रयोग किया जाने लगा । समाजशास्त्र में ऐतिहासिक विधि का प्रयोग करने वाले विद्वानों में कॉम्ट, स्पेन्सर, समनर, दुर्खीम, वेबर,

सोरोकिन ऑगबर्न, मिल्स, रेमण्ड एरन्, नारमन बिरबाय, टॉयनबी, थॉमस एवं नैनिकी वेस्टरमार्क, राधाकमल मुकर्जी, धुरिए, ए.आर देसाई, कपाड़िया कर्वे, दुबे आदि प्रमुख है ।

अंग्रेजी का "History" शब्द का प्रयोग "Historia" से बना है जिसका अर्थ है सीखकर या खोजकर ज्ञान प्रदान करना । सामान्यत: ऐतिहासिक विधि का अर्थ है किसी घटना या समस्या के कारकों को उनके अतीत में खोजना । ऐतिहासिक विधि का उद्देश्य उन विशिष्ट दशाओं या कारकों का विवरण प्रस्तुत करना है जिनका किसी घटना के उद्गम कारकों को विवरण प्रस्तुत करना है । जिनका किसी घटना के उद्गम विकास या परिवर्तन से कोई सम्बन्ध रहा है । दूसरे शब्दों में अतीत की सहायता से वर्तमान को समझना ऐतिहासिक विधि का मूल मन्त्र है । विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है ।

पी.वी.यंग के अनुसार 'ऐतिहासिक पद्धति आगमन के सिद्धान्तों के आधार पर अतीत की उन सामाजिक शक्तियों की खोज है जिन्होंने कि वर्तमान को ढाला है । " इस कथन से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक विधि में भूतकाल की घटनाओं की खोज आगमन विधि द्वारा करके सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है अर्थात किसी विशिष्टता के आधार पर व्यापक निष्कर्ष निकाले जाते है ।

रैडक्लिफ ब्राउन - के अनुसार "ऐतिहासिक पद्धति वह विधि है जिसमे वर्तमान काल में घटित होने वाली घटनाओ को अतीत में घटित घटनाओं के धारा प्रवाह व क्रमिक विकास की एक कड़ी के रूप में मानकर अध्ययन किया जाता है । "इस प्रकार किसी घटना की उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या करने के लिए उसके भूतकाल का, उसके ऐतिहासिक वृत का चित्रण किया जाना ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण कहलाता है ।

टी.बी.बॉटोमोर के अनुसार यह ऐतिहासिक विधि सामाजिक संस्थाओं समाजों और सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और रूपान्तरण की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करती है । यह मानव इतिहास के सम्पूर्ण विस्तार और समाज की समस्त प्रधान संस्थाओं से सम्बद्ध है अथवा एक विशेष सामाजिक संस्था के सम्पूर्ण विकास से सम्बन्धित है । "

बॉटोमोर की परिभाषा से ऐतिहासिक पद्धति के बारे में चार बातें स्पष्ट होती है ।

1. इसमे सामाजिक संस्थाओं समाजों और सभ्यताओं की उत्पत्ति विकास एवं रूपान्तरण का अध्ययन किया जाता है ।
2. यह मानव इतिहास के सम्पूर्ण विकास का अध्ययन करता है ।
3. इसमें समाज की सभी प्रमुख संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है ।
4. इसमें किसी एक विशेष सामाजिक संस्था के विकास का अध्ययन भी किया जाता है ।

फ्रीमैन का कथन है कि ' 'भूतकाल की राजनीति का नाम ही इतिहास है और वर्तमान इतिहास को ही राजनीतिक कहते है । " समाजशास्त्र पर भी यह कथन लागू होता है । अत: बीते हुए समय की परिस्थितियों, स्थितियों व्यवस्था आदि को हम प्रत्यक्षदर्शी न होने के कारण देख सकने में तो असमर्थ है, किन्तु अगर इतिहास या ऐतिहासिक पद्धति न होती तो उसका ज्ञान या जानकारी भी हमें मिलना असम्भव ही था और इतिहास ने ही जिसे सम्भव बनाया है।

हावर्ड के अनुसार समाजशास्त्र को वर्तमान इतिहास की संज्ञा दी जाती है जिससे सामाजिक संरचना की अभिव्यक्ति होती है महाभारत के अनुसार ' 'इतिहास एक ऐसे दीपक के समान है, जो सब विषयों को यथावत प्रकाशित करके उनके यथार्थ स्वरूप को हमारे सम्मुख रख देता है । जिस प्रकाश के कारण काली वस्तु हमें काली दिखाई देती है और श्वेत या चमकीली श्वेत और चमकीली ।" अत: मानव समाज के समस्त पहलुओं और अंगो को यथार्थ रूप में इतिहास हमारे सम्मुख प्रस्तुत करके एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है । जिससे हमें सामाजिक विकास की विभिन्न चरणों में उनकी विभिन्न संस्थाओं व स्वरूपों का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पद्धति घटनाओं का वर्णन और विवरण देने वाली पद्धति मात्र नहीं है वरन् यह घटनाओं की ऐतिहासिक सन्दर्भ में वैज्ञानिक व्याख्या करती है । इस विधि में भूतकालीन घटनाओं एवं तथ्यों के क्रमिक विकास, नियमितताओ एवं सामाजिक प्रभावों के आधार पर वर्तमान में घटित होने वाली सामाजिक सांस्कृतिक घटनाओं की व्याख्या एवं विश्लेषण किया जाता है । संक्षेप में यह अतीत की सहायता से वर्तमान को समझने की विधि है ।

7.03 ऐतिहासिक विधि की अनिवार्य आवश्यकताएँ (मान्यताएँ)

'ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग उतना सरल नहीं है जितना समझा जाता है अतीत से सम्बन्धित तथ्यों के संकलन में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, तथा उनकी सच्चाई को जानने क लिए पर्याप्त सावधानी एवं अनुभव की आवश्यकता होती है । ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते समय अनुसन्धानकर्ता को कुछ सावधानियाँ रखनी चाहिए तथा अनुसंधानकर्ता में कुछ आवश्यक गुण होने चाहिए जो निम्नांकित हैं -

1. सामाजिक अन्तर्दृष्टि :

ऐतिहासिक घटनाओं को समझने के लिए शोधकर्ता में पर्याप्त गहन एवं सामाजिक अर्नदृष्टि होनी चाहिए तभी वह घटनाओं को कार्यकारण के सन्दर्भ में समझ सकेगा । प्रत्येक घटना किसी विशिष्ट पर्यावरण एवं परिस्थिति में घटित होती है । शोधकर्ता में इन विशिष्ट परिस्थितियों एवं पर्यावरण को समझने की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि उन्हें समझे बिना घटनाओं को समझना एवं उनकी व्याख्या करना संभव नहीं है । अत: यह आवश्यक है कि शोधकर्ता में एक गहन सामाजिक अर्नादृष्टि हो जिससे कि वह घटनाओं को सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में समझ सके तथा अपनी कल्पना एवं तर्कशक्ति का उपयोग कर सके ।

2. ऐतिहासिक अनुस्थापन

ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्ययनुकर्ता की रूचि इतिहास एवं अतीत को जानने में हो । वह इस बात में रूचि ले कि कोई घटना 'कब क्यों और कैसे' घटित हुई । दूसरे शब्दों में वह घटनाओं की कार्यकरण के सन्दर्भ में व्याख्या प्रस्तुत करने में समक्ष होना चाहिए । वह वर्तमान को अतीत की घटनाओं से जोड़ने एवं समझने में सक्षम होना चाहिए ।

3. अध्ययन क्षेत्र का ज्ञान

ऐतिहासिक विधि का उपयोग करने वाले के लिए आवश्यक है कि उसे अपने अध्ययन क्षेत्र के बारे में स्पष्ट जानकारी हो । उसे बात का ज्ञान हो कि अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री के स्त्रोत क्या होंगे तथा वे कहीं से जुटाने होंगे । अध्ययन से सम्बन्धित प्राथमिक एवं द्वितीयक स्त्रोत कहीं से उपलब्ध होंगे, इसकी जानकारी भी आवश्यक

4. वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

वैज्ञानिक अध्ययन की एक आवश्यक शर्त वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण है । इसका तात्पर्य है कि हम अतीत की उन सभी घटनाओं का पक्षपात -रहित होकर संकलन करें जो हमारे अध्ययन में सहायक हो। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि शोधकर्ता घटनाओं एवं तथ्यों को उसी रूप में देखे जिस रूप में वे वास्तव में हैं, वह अपने विचारों भावनाओं सिद्धान्तों एवं पक्षपातों को अध्ययन में न आने दे । अत: इस पद्धति के सफल प्रयोग व सही परिणाम हेतु यह आवश्यक हे कि शोधकर्ता अपने दृष्टिकोण पूर्णरूपेण वस्तुपरक बनाये रखे ।

5. विश्वसनीय तथा सम्बद्ध तथ्यों का संकलन

शोधकर्ता को चाहिए कि ऐतिहासिक विधि का प्रयोग करते समय वह केवल उन्हीं - तथ्यों का संकलन करें जो विश्वसनीय एवं विषय से सम्बन्धित हों क्योंकि अध्ययन के दौरान प्राप्त होने वाले सभी तथ्य न तो विषय से सम्बन्धित ही होते है और न प्रमाणिक ही । इतिहास में तो असंख्य और विविध प्रकार के तथ्य भरे पड़े हैं । इन तथ्यों से धैर्य, परिश्रम और सावधानी के साथ विश्वसनीय एवं सम्बन्धित तथ्यों का संकलन की हमें अध्ययन में सफलता प्रदान कर सकेगा । इस संदर्भ में लुईस गोशेक ने उचित ही लिखा है । "ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग के लिए यह जानना अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि क्या किसी प्रलेख का पूर्ण अथवा आशिक रूप विश्वसनीय है तथा किस प्रलेख में कौन से तथ्य किस सीमा तक सत्यता के निकट है ।

6. समन्वयात्मक दृष्टिकोण

ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने वाले शोधकर्ता को चाहिए कि वह विश्लेषणात्मक एवं समन्यवादी दृष्टिकोण को अपनाए । इतिहास केवल भूतकाल में घटी घटनाओं का बिखरा हुआ एवं असम्बद्ध दस्तावेज नहीं है वरन् विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक जीवन का विवरण भी । अध्ययनकर्ता के पास समय और साधन सीमित होते है अत: आवश्यक है कि अध्ययन विषय से सम्बन्धित सभी तथ्यों का विश्लेषण करें तथा अतीत की घटनाओं को समन्वय वर्तमान से स्थापित करें तथा वर्तमान में समझने का प्रयास करें ।

7. व्यक्तिगत सीमाओं तथा विरोधाभासों के प्रति जागरूकता

शोधकर्ता को इस बारे में जागरूक होना चाहिए कि ऐतिहासिक स्त्रोतों तक पहुँचने में उसकी कुछ सीमाएं है । संपूर्ण इतिहास को जानना किसी के लिए संभव नहीं होता है, फिर भी उसे अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । कई बार एक ही घटना के बारे में अलग -अलग विरोधी व्याखाएँ देखने को मिलती हैं, ऐसी स्थिति में शोधकर्ता को तर्क के आधार पर उनकी क्रमिक एवं कार्य कारण के आधार पर व्याख्या करने के बाद ही वास्तविक तथ्यों को स्वीकार करना चाहिए ।

7.04 ऐतिहासिक पद्धति के स्रोत

ऐतिहासिक पद्धति का मुख्य आधार ऐतिहासिक तथ्य ही हैं जिनका संकलन विभिन्न स्त्रोतों द्वारा किया जाता है । ये स्त्रोत कौन -कौन से हो सकते हैं, इस बारे में विद्वानों ने अपने -अपने मत व्यक्त किये है ।

लुण्डबर्ग (Lundbarg) ने ऐतिहासिक तथ्यों के दो स्त्रोतों का उल्लेख किया है ।

1. लिखित सामग्री - जो प्रलेखों, प्राचीन ग्रंथों शिलालेखों प्राचीन सिक्कों एवं इमारतों पर दिए गए विवरण के रूप में उपलब्ध होते हैं ।
2. भू -वैज्ञानिक के द्वारा खुदाई से प्राप्त वस्तुएँ जैसे मूर्तियाँ बर्तन एवं अन्य अवशेष आदि ।

विसेन्ट (Vincent) ने ऐतिहासिक सामग्री के तीन स्त्रोतों का उल्लेख किया है -

अ. लिखित सामाग्री, जैसे -कथाएं, वृतान्त, डायरियाँ, वंशावलियाँ, चित्र, सिक्के कलात्मक वस्तुएँ आदि ।

ब. स्मारक चिन्ह जैसे - मानव के अस्थि -पंजर, उपकरण व्यापारिक अभिलेख संस्थात्मक स्वरूप तथा हस्तशिल्प की वस्तुएं आदि ।

स. विभिन्न शिलालेख जिनका सम्बन्ध प्राचीन दर्शन, घटनाओं एवं लोक साहित्य से होता है ।

पी.वी.यंग (P.V.Young) ने तीन प्रकार के ऐतिहासिक स्त्रोतों का उल्लेख किया है -

1. वे प्रलेख (Documents) तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री जिन तक इतिहासकार की स्वयं की पहुँच हो ।
2. सांस्कृतिक इतिहास तथा विश्लेषणात्मक इतिहास (Analytical History) इसके अन्तर्गत डायरियाँ प्राचीन धार्मिक ग्रंथ आत्मकथाएँ, गुप्त प्रलेख व्यापारिक समझौते तथा परम्पराएँ आदि आते हैं जिनका अध्ययन करना हावर्ड बेकर (Haward Becker) ऐतिहासिक पद्धति के लिए आवश्यक मानते है ।
3. विश्वसनीय निरक्षको तथा गवाहों की व्यक्तिगत सूचनाएँ -उपर्युक्त सभी स्त्रोतों द्वारा ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त की जा सकती है किन्तु इनमें से किसका कब, क्यों और कितना उपयोग किया जायेगा अनुसन्धानकर्ताओं के निर्णय, अध्ययन की समस्या प्रकृति एवं क्षेत्र पर निर्भर करता है।

अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने ऐतिहासिक तथ्यों की प्राप्ति के लिए निम्नांकित स्त्रोतों की चर्चा की है ।

1. **व्यवस्थित इतिहास (Systematic History) -** किसी समाज का व्यवस्थित इतिहास भूतकालीन घटनाओं का कालक्रम के अनुसार वर्णन करता है । इतिहास के द्वारा जहाँ एक और मुख्य सामाजिक घटनाओं का क्रमबद्धीकरण होता हैं, वही दूसरी और विशिष्टकाल से सम्बन्धित सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक जीवन की जानकारी भी प्राप्त होती है । इतिहास द्वारा अनेक सामाजिक तथ्यों के संकलन में सहायता मिलती है ।

2. **मौखिक ज्ञान या स्मृति (Verbal Knowledge or Memory)** कुछ तथ्य ऐसे होते है जिनको ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में लेखबद्ध किया जाना संभव नहीं हैं । ऐसी अनेक घटनाएँ एवं विवरण है जिनकी जानकारी के लिए उन लोगों के मौखिक ज्ञान और स्मृति का सहारा लेना

पड़ता है, जिन्होंने अपने जीवन काल में उन घटनाओं का प्रत्यक्षत: अवलोकन किया है । स्वयं अध्ययन या अनुसंधानकर्ता की स्मृति और जानकारी भी पिछली घटनाओं से सम्बन्धित हर पक्ष को तथा अतीत की प्रत्येक घटना को उल्लेखित करने मे समर्थ नहीं रहती । क्योंकि अध्ययनकर्ता अपने ज्ञान व परीक्षण के आधार पर जिन्हें आवश्यक समझता है उन्हीं को महत्व प्रदान करते हुए लेख बद्ध करता है । अत: मौखिक ज्ञान व स्मृतियाँ विगत की जानकारी देने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं।

7.05 ऐतिहासिक पद्धति के चरण

ऐतिहासिक अध्ययन वस्तुपरक तथ्यों पर आधारित है । जिनका प्रमाणीकरण संभव है। अत: इसे वैज्ञानिक प्रक्रिया माना जाता है । यह प्रक्रिया समाजशास्त्री विधियों की भाँति अनेक चरणों में पूरी होती है जो निम्नवत है।

1. समस्या का चुनाव (Selection of Problem)

इस विधि द्वारा अध्ययन करते समय सर्वप्रथम समस्या का चुनाव किया जाता है जिसका ऐतिहासिक विधि द्वारा अध्ययन सम्भव हो । अध्ययन विषय ऐसा हो शोधकर्ता अध्ययन करना चाहता है । समस्या ऐसी होनी चाहिए जिसका

1. जिसमें अध्ययनकर्ता की रूचि हो
2. जिसके बारे में हमे थोड़ा बहुत पूर्व ज्ञान हो
3. अध्ययन -विषय हमारे साधनों की सीमा के अनुरूप हो अर्थात हमारे पास उपलब्ध धन, श्रम, एवं समय के अनुरूप हो तथा
4. अध्ययन विषय उपयोगी भी होना चाहिए ।

2. सूचना स्त्रोतों का निर्धारण (Determination of Source of Information)

समस्या के चुनाव के बाद समस्या से सम्बन्धित तथ्यों के स्त्रोतों को ज्ञान किया जाता है । अर्थात यह देखा गया है कि ऐतिहासिक तथ्य किन ग्रन्थों पुस्तकालयों संग्रहालयों एवं अन्य स्थानों से प्राप्त हो सकते हैं । इन सब की जानकारी अध्ययन से पूर्व ही कर ली जानी चाहिए।

3. तथ्यों का संकलन (Collection of Data)

जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया के विभिन्न चरणों मे तथ्यों का संकलन प्रथम चरण माना जाता है ठीक उसी प्रकार ऐतिहासिक पद्धति में भी इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन के लिए समस्त उपलब्ध व लिखित -अलिखित तथ्यों (आलेख, प्रलेख, मौखिक जीवन वृत) का संग्रह करता है । इसके लिए उसे प्राथमिक एवं द्वितीयक, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष स्त्रोतों का सहारा लेना पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्य हजारों लाखों छपे हुए ग्रंथों दस्तावेजों शिलालेखों एवं वंशावलियों आदि में बिखरे पड़े होते हैं, इनमें से विश्वसनीय एवं प्रमाणिक स्त्रोतों एव तथ्यों का संकलन शोधकर्ता की योग्यता अनुभव, दूरदर्शिता एवं प्रशिक्षण पर निर्भर करता है । सरकारी प्रलेख गैर सरकारी प्रलेखों की तुलना में अधिक विश्वसनीय होते हैं इस कार्य में वह वर्तमान घटना को प्रकाशित करने वाली या उसके विकास में योगदान करने वाली समस्त आवश्यक सामग्री को संकलित करने का प्रयास करता है ।

4. ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism)

तथ्यों का संकलना कर लेने के बाद उसकी ऐतिहासिक आलोचना की जाती है । अर्थात् यह देखा जाता है जिन स्त्रोतों से तथ्य संकलित किये गये हैं, वे प्रमाणित एवं विश्वसनीय हैं या नहीं, कहीं वो जाती तो नहीं है, साथ ही यह भी देखा जाता है कि उन स्त्रोतों के लेख किसी पक्षपात से ग्रसित तो नहीं है । इस प्रकार संकलित की गयी सामग्री एवं उसके स्त्रोतों की वैधता एवं विश्वसनीयता की परख करना ही ऐतिहासिक आलोचना कहलाती है ।

5. तथ्यों का वर्गीकरण व संगठन (Clarification and organization of Data)

ऐतिहासिक पद्धति द्वारा अध्ययन का अगला चरण है संकलित तथ्यों को अलग -अलग भागों में बांटना जिससे की उनकी परस्पर तुलना की जा सके । गुणात्मक एवं संख्यात्मक तथ्यों को पृथक एवं उन्हें व्यवस्थित किया जाता है ।

6. व्याख्या और विश्लेषण (Interpretation and Analysis)

संकलित ऐतिहासिक सामग्री की व्याख्या कर उससे सम्बन्धित सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं की स्थापना की जाती है । वस्तुएँ या प्रलेख समय और उससे सम्बन्धित समाज को ही स्पष्ट नहीं करते, तर्क तथा वस्तुगत विशिष्टताओं के आधार पर उस समय की सामाजिक -व्यवस्था कला और सांस्कृतिक अभिरूचियों का बोध भी इस सामग्री के द्वारा हो जाता है । किसी राजा या बादशाह के शासन काल में की गयी चढ़ाइयों प्राप्त की गयी विजयों, राजा और प्रजा के लिए किये गए महत्वपूर्ण तथा अमहत्वपूर्ण कार्यो की जानकारी प्राप्त करके, उस राजा या बादशाह की प्रकृति, आदतों अच्छाइयों या बुराइयों का पता लगाकर शासन के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है । जैसे सम्राट अशोक द्वारा बनाये गए मन्दिर, जलाशय, धर्मशाला भवन लगवाएँ गए वृक्ष, बाग तथा चलाई गयी मुद्रा या सिक्के और लिखवाये गए शिलालेख शासक के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त सामग्री है । जो उस समय की सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं को समझने में सहायक होती ही है, विभिन्न प्रकार के आर्थिक सम्बन्धों द्वारा समाज की अर्थव्यवस्था की जानकारी भी देती है । अत: किसी समय विशेष की विशेषताओं की जानकारी उसके समय विशेष में प्रचलित साहित्य, आकड़े, विषय सामग्री आदि द्वारा ही विदित हो सकती है ।

पुनर्रचना (Reconstrution)

ऐतिहासिक सामग्री का संकलन और निर्वचन, किसी समय की प्रघटनाओ को तत्कालीन समाज सामाजिक जीवन के साथ सम्बद्ध करता है । इसके द्वारा तत्कालीन रचना तथा समाज व्यवस्था का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नहीं होता । अत: संकलित अव्यवस्थित बिखरी हुई सामग्री (सामाजिक तथ्यों) को परस्पर क्रमबद्ध, व्यवस्थित व समायोजित करके तत्कालीन समाज के सभी पक्षों के सम्मिलित स्वरूप को चित्रित किया जाना ही पुनर्रचना कहलाती है । इसे ही वास्तव में इतिहास के नाम से पुकारा जाता है ।

एफ.जे.राइट (F.J.Right) ने अपनी (Elements of Sociology) कृति में कहा है कि "इतिहास उस ढंग की पुनर्रचना से सम्बन्धित हैं, जिसके अनुसार घटनाएँ वास्तव में घटित हुई है और मानव जाति की कहानी में इन घटनाओं के महत्व का अनुमान लगाता है ।"अत: उपलब्ध तथ्य सामग्री को संकलित व व्यवस्थित करके सामग्री के आधार पर समाज की अन्य

घटनाओं में तर्क संगतता स्थापित करके इतिहासकार उस समय के समाज की समग्रता का विवरण प्रस्तुत करता है । जिसे इतिहासकार का निष्कर्ष कहा जाता है । विशिष्ट घटनाओं के आधार पर इतिहास कार सम्पूर्ण समाज को चित्रित करके तर्क संगतता को भी परिलक्षित करता है ।

8. प्रतिवेदन का निमार्ण (Report Preparation)

ऐतिहासिक पद्धति द्वारा अध्ययन का अन्तिम चरण प्रतिवेदन लेखन है । प्रतिवेदन लिखते समय सरल स्पष्ट, बोधगम्य, वस्तुनिष्ठ एवं रोचक भाषा -शैली का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

7.06 ऐतिहासिक विधि के स्वरूप

ऐतिहासिक पद्धति के मुख्यत: दो स्वरूपों की समाजशास्त्रियों ने चर्चा की है जो निम्न लिखित हैं।

1. विवरणात्मक ऐतिहासिक विधि

विवरणात्मक ऐतिहासिक विधि का सम्बन्ध किसी प्रकार के निष्कर्ष निरूपित करने से नहीं है । इसका मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक विषय वस्तु को या सामाजिक तथ्यों को संकलित करके विकास का क्रमिक वृत तैयार करना है इस प्रकार विवरणात्मक ऐतिहासिक पद्धति विज्ञान की भाँति सामान्यीकरण करने में असमर्थ होती है । ऐतिहासिक विधि के इस स्वरूप द्वारा केवल तथ्यों का वर्णन ही सम्भव है । अत: ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से यह विधि महत्वपूर्ण है, किन्तु इस सामग्री को कोई प्रत्यक्ष निष्कर्ष निरूपण नहीं किया जा सकता । इस दृष्टि से ऐतिहासिक विधि वैज्ञानिक विधि नहीं कही जा सकती । क्योंकि वैज्ञानिक विधि तथ्यों को संकलित और वर्गीकृत करके विश्लेषण के आधार पर सामन्यीकरण करती है । अत: यह पद्धति विवरणात्मक स्वरूप संकलित करने की दृष्टि से ही उपयोगी है ।

2. सामान्यीकरण की ऐतिहासिक विधि (Historical Method of Generalization)

सामान्यीकरण की ऐतिहासिक विधि के इस स्वरूप में अध्ययनकर्ता केवल तथ्यों का वर्णन मात्र नहीं करता, अपितु वह उनके आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षो का प्रतिपादन भी करता है । वास्तव में समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामान्यीकरण की ऐतिहासिक विधि का ही प्रयोग किया जाता है । जिसमें न केवल समाजशास्त्र अपितु यह स्वरूप भी वैज्ञानिक पद्धति की विशेषता का धारक कहलाता है । कार्यकारण के आधार पर सामाजिक तथ्यों का संकलन करने के बाद विश्लेषण करके सामाजिक जीवन में अर्न्तनिहित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में इस स्वरूप का विशेष महत्व है ।

7.07 ऐतिहासिक पद्धति का महत्व

ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति न केवल भूत या अतीत का परिचय देती है अपितु वर्तमान से उस ज्ञान की प्रासंगिकता जानकारी भी प्रदान करती है, क्योंकि वर्तमान में हम मौजूद हैं, अत: आज की जानकारी तो हमको प्रत्यक्षत: मिल जाती है । किन्तु गुजरे हुए काल का ज्ञान केवल ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही सम्भव है, ऐतिहासिक विधि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित व्यवस्थाओं और कार्य -प्रणालियों की व्याख्या कालक्रम के अनुसार करती है।

एम.एच.गोपाल ने लिखा है, "अगर कोई भी सामाजिक अनुसन्धानकर्ता जो वर्तमान का विश्लेषण करते समय अतीत की उपेक्षा करता है, बहुत बड़ी जोखिम उठाता है ।" इतिहास हमें अतीत के समाज का ज्ञान कराता है । जिसकी कोई भी -समाज वैज्ञानिक अवहेलना नहीं कर सकता । अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति का उपयोग किया । दोनों विज्ञानों की घनिष्टत्ता के कारण ही समाजशास्त्र में एक नई शाखा ऐतिहासिक समाजशास्त्र का उदय हुआ है। हावर्ड भी इतिहास को अतीत का समाजशास्त्र ओर समाजशास्त्र को वर्तमान का इतिहास कहते है। जॉन मेज ने भी लिखी है "इतिहासवेत्ता को समाजशास्त्रियों की श्रेणी से बाहर कर देना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है तथा केवल मूर्ख समाजशास्त्री ही प्रलेखों को उपयोग नहीं करते हैं ।" ऐतिहासिक पद्धति की उपयोगिता एवं महत्व निम्नलिखित है : -

1. विकासशील घटनाओं का अध्ययन

ऐतिहासिक पद्धति विभिन्न समाजों में विभिन्न समय तथा एक ही समाज के विभिन्न कालों में किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था देखने को मिलती है, कि क्रमबद्ध जानकारी प्रदान करती है । इस पद्धति के द्वारा हम किसी विशेष घटना या संस्था के घटने या उदय होने, उनकी उत्पत्ति और विकास को तथा उन्हें जन्म देने वाली परिस्थितियों को ज्ञात कर सकते है। अतीत के माध्यम से ही हम वर्तमान को अच्छी तरह समझ सकते हैं । वाईटहेड (Whitehead) ने लिखा है, "वर्तमान में उभरती हुई प्रत्येक विशेषता में उसका संपूर्ण अतीत होता है और साथ ही उसके भविष्य का बीज भी छिपा रहता है । "अतीत अनुभवों का भंडार होता है जिसके माध्यम से हम वर्तमान को भली -भांती समझ सकते है । विकासशील घटनाओं के विकासक्रम में आने वाले परिवर्तनों के अध्ययन के लिए यही विधि सर्वश्रेष्ठ है । समाजों, सभ्यताओं एवं संस्थाओं की उत्पत्ति, परिवर्तन एवं विकास को समझने में यह विधि अत्यन्त उपयोगी है ।

2. सामाजिक - सांस्कृतिक परिवर्तनों का अध्ययन

ऐतिहासिक विधि के द्वारा हम सामाजिक -सांस्कृतिक परिर्वतनों की प्रक्रिया को सरलता से समझ सकते है । सामाजिक वैज्ञानिकों की विशेष रूचि परिवर्तन को ज्ञात करने में होती है । जब सामाजिक संस्थाओं एवं परिस्थितियों में परिवर्तन आता है तो उनके प्रभाव के कारण सामाजिक संगठन एवं संरचना भी परिवर्तित होती है ।परिवर्तन की इस प्रक्रिया का अध्ययन ऐतिहासिक विधि द्वारा ही सम्भव है ।

3. अतीत के प्रभाव का मूल्यांकन

ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा हम किसी भी समाज पर भूतकालीन प्रभाव के महत्व का मूल्यांकन कर सकते है । अतीत के प्रभाव से कोई भी समाज मुक्ता नही होता लेकिन परम्परागत समाजों एवं प्राचीन संस्कृति वाले समाजों का अध्ययन उस समय तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक उन पर पड़ने वाले अतीत के प्रभाव का मूल्यांकन नहीं कर लिया जाता है । जिस समाज का इतिहास जितना लम्बा होता है उस पर अतीत का प्रभाव भी उतना ही गहन होता है जिसका अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से सम्भव है ।

4. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की व्यापकता

समाजशास्त्र की अन्य पद्धतियों सामाजिक घटनाओं को विभिन्न छोटी -छोटी इकाईयों में बांटकर उनका सूक्ष्मता में अध्ययन करती है । जबकि ऐतिहासिक पद्धति सामाजिक घटनाओं को उनकी समग्रता एवं सम्पूर्णता में देखती है । इस प्रकार यह विधि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान करती है । इसके द्वारा समग्रवादी अध्ययन किये जा सकते है ।

5. सामाजिक शक्तियों का अध्ययन

ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा हम उन सामाजिक शक्तियों का अध्ययन कर सकते है जिन्होंने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के निमार्ण में योग दिया है अतीत के अध्ययन से ही हम वर्तमान के रहस्यों को जान सकते है । अंग्रेज दार्शनिक बनार्ड शॉ (Bernard Shaw) ने लिखा है, "अतीत समूह के पीछे नहीं होता वरन् समूह मैं विद्यमान होता है । आज बीते हुए कल से भिन्न अवश्य ही है परन्तु यह कल ही जिसने कि आज को ढाला है और यही बीता हुआ कल व आज आने वाले कल को अवश्य ही प्रभावित करेगा । इस प्रकार वर्तमान व्यवस्था का निमार्ण करने वाले सामाजिक शक्तियों के प्रभाव एवं विकासक्रम का अध्ययन ऐतिहासिक विधि द्वारा सफलता से किया जा सकता है ।

6. सिद्धान्त निर्माण

प्रत्येक वैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य सिद्धान्त निर्माण करना या शान का सामन्यीकरण करना होता है इसी प्रकार समाजशास्त्र भी अपने अनुसंधान या ज्ञान का सामन्यीकरण करने को अपना अन्तिम लक्ष्य समझता है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण केवल वर्णात्मक अध्ययन से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु यह अन्वेषणात्मक अध्ययन में भी सहायक है । विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या और तुलना करके इस विधि द्वारा सामाजिक नियमों का निर्माण किया जा सकता है ।

7. सैद्धान्तिक मूल्यांकन

विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक सिद्धान्तों की जांच ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर की जा सकती है । औद्योगीकरण अथवा नगरीकरण के सामाजिक सांस्कृतिक प्रभावों के सम्बन्ध में किसी समाजशास्त्रीय निष्कर्ष की वैधता और विश्वसनीयता की परीक्षा इन प्रक्रियाओं के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करके ही की जा सकती है । अत: सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का सत्यापन अथवा परीक्षण करने की दृष्टि से ऐतिहासिक विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

ऐतिहासिक पद्धति के उपयोग को प्रकाशित करते हुए श्लेजेन्जर (Arthas Schlesinger) ने कहा कि, "कोई भी व्यक्ति अथवा कोई भी सामाजिक वैज्ञानिक अतीत या इतिहास के लम्बे हाँथों की बुद्धिमतापूर्वक अवहेलना नहीं कर सकता ।" अत: सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन और अनुसंधान में इतिहास का योगदान अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

7.08 ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सीमाएँ

ऐतिहासिक पद्धति एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अध्ययन विधि है, किन्तु इसकी भी कुछ सीमाऐं है जो निम्नांकित है -

1. विश्वसनीयता का अभाव

ऐतिहासिक पद्धति उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री पर ही निर्भर करती है, जिसका पुर्नपरीक्षण असम्भव ही कहा जा सकता है । यह आवश्यक भी नहीं है कि इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धित वास्तविकता को प्रकट करते हो अथवा तथ्य विशुद्ध ओर यर्थात हो क्योंकि प्रत्येक युग का साहित्यकार इतिहासकार अथवा कलाकार अपने युग के सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है । वह प्राय: सत्ता समर्थित समूह के विचारों और मान्यताओं को ही चित्रित करता है । अत: यथार्थ और वास्तविक ज्ञान का परिचय यथावत संकलित किया जाना असंभव है।

2. तथ्य संकलन में कठिनाई

इतिहास से सम्बन्धित समस्त ऐतिहासिक सामग्री सरकारी और गेर -सरकारी रिकार्ड, अन्य लिखित तथा उपलब्ध वस्तुओं की उचित देखभाल व रखरखाव न हो पाने के कारण ये सामग्री ज्यादा समय तक संग्रहित रहें, सम्भव व आवश्यक नहीं है । इतिहासकार व ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करके अनुसंधान करने वाले अनुसंधानकर्ता को इन सामग्रियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है । फिर यह भी आवश्यक नहीं की एक समय सन्दर्भ की सभी सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो जिसके संकलन हेतु विभिन्न स्थानों व संस्थाओं के अनेक बार चक्कर लगाने पडते है, और उसके बाद भी सहायक सामग्री या आवश्यक सामग्री नहीं मिलने पर अनुसंधानकर्ता मायूस हो जाता है । इसका उत्साह समाप्त प्राय: हो जाता है । अत: उसके अध्ययन के परिणाम रोचक हो यह भी जरूरी नहीं है ।

3. अधिक परिश्रम

इस पद्धति के द्वारा तथ्यों का संकलन करने के बारे में इतिहासविदों की धारणा है कि अधिक परिश्रम के बाद बहुत कम या कभी -कभी भी कुछ हासिल नहीं होता । अनेक बार असफल होने से व्यक्ति का उत्साह बना नहीं रहता । इसलिए यह पद्धति जरूरत से ज्यादा परिश्रम की मांग करने वाली होने के कारण अधिकतर अध्ययनकर्ता इस पद्धति का प्रयोग नहीं करते ।

4. समय व धन का अपव्यय

विभिन्न समय से सम्बन्धित विषय -वस्तु या एक ही काल की सामग्री भी एक ही जगह उपलब्ध न होने के कारण अनेक दफा व अनेकों स्थानों पर जाना पड़ता है । अनेक बार कार्यालयों के चक्कर काटने के बावजूद भी कभी सम्बन्धित कर्मचारी नहीं मिलता । कभी चाबी उपलब्ध नहीं होती तथा जब दोनों उपलब्ध होते हे तो उस कार्यालय में आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं होती जिसके लिये कई चक्कर लगाये जाते हैं । अत: समय व धन का अपव्यय होता है ।

5. गुणात्मक विधि

ऐतिहासिक पद्धति पूर्व संचित तथ्यों व सामग्री को मान्यता प्रदान करती है । अत: उन तथ्यों के प्रत्यक्ष अवलोकन को या गणना को अध्ययन में स्थान नहीं दिये जाने के कारण तथ्यों का मात्र वर्णन ही सम्मव है ।

6. प्रत्यक्ष अवलोकन का अभाव

इस पद्धति में अतीत से सम्बन्धित जानकारी केवल रिकार्ड के माध्यम से या प्रत्यक्षदर्शियों से प्राप्त की जाती है । अत: उन घटनाओं का उन तथ्यों का प्रत्यक्षवलोकन सम्भव नहीं है ।

7. पक्षपातपूर्ण

यह पद्धति पूर्व संकलित सामग्री का विश्लेषण करती है । अत: इसमें तत्कालीन विद्वानों घटना के प्रत्यक्षदर्शियों और समकालीन विचारकों के पक्षपात का समावेशन अवश्य होता जाता है । ये प्राय: सत्ता सम्पन्न समूह के विचारों और मान्यताओं को ही चित्रित करते है । अत: वास्तविक ज्ञान अध्ययन से वंचित रह जाता है ।

8. परीक्षण व सत्यापन की कठिनाई

ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध बीती हुई बातों से है । इतिहास बीती हुई घटनाओं का वर्णन है, जो पुन: दोहराई नहीं जा सकती है क्योंकि बीता हुआ कल वापस नहीं आता । अत: कोई समाजशास्त्री या अनुसंधानकर्ता ऐतिहासिक विधि के आधार पर जो कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत करना है, तो उसकी सत्यता या प्रमाणिकता का परीक्षण संभव नहीं होता । इसलिए तथ्यों के सामान्यीकरण द्वारा निर्मित सिद्धान्तों का वैज्ञानिक परीक्षण करना कठिन होता है ।

9. पूर्वानुमान व भविष्यवाणी असम्भव

ऐतिहासिक पद्धति केवल वर्णनात्मक विधि है । इसके द्वारा सामाजिक जीवन के विकास की व्याख्या की जा सकती है । अतीत की घटनाओं का वर्णन करने या अतीत के आधार पर वर्तमान का अर्थ स्पष्ट करने तक ही ऐतिहासिक विधि का उपयोग किया जा सकता है । परन्तु वर्तमान के सन्दर्भ में भविष्य का अनुमान नहीं किया जा सकता । विज्ञान की पद्धति द्वारा कार्य कारण सम्बन्धों की खोज करके भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता है, ऐतिहासिक विधि कार्यकारण सम्बन्धी व्याख्या तो कर सकती है, किन्तु भविष्य की ओर संकेत करने में असमर्थ है ।

उपरोक्त कमियों के बावजूद भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का महत्व कम नहीं होता । यही एक मात्र उपागम है, जो भविष्य वर्तमान की व्याख्या अतीत के कारणों के द्वारा करती है । और निर्धारण हेतु वर्तमान को कारण मानती है । अत: इस उपागम की व्याख्या अर्थहीन नहीं कही जा सकती । सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन हेतु तथा मनुष्यों के अतीत के सामाजिक जीवन का क्रमबद्ध विवरण ऐतिहासिक पद्धति ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है । प्रारम्भ मे मानव समाज का स्वरूप कैसा था? परिवर्तन का स्वरूप क्या है? तथा वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने के लिए समाज को किन परिस्थितियों तथा अवस्थाओं से गुजरना पड़ा, इन सबकी जानकारी हमें इतिहास के द्वारा ही मिलती है । पूर्व प्रचलित परम्पराएँ क्या -क्या थीं और आज वे अपना अस्तित्व क्यों खो चुकी हैं यह अन्य उपागमों के लिये अनुंतरित प्रश्न है । जिसका उत्तर केवल ऐतिहासिक उपागम द्वारा प्राप्त हो सकता है ।

7.09 ऐतिहासिक पद्धति का समाजशास्त्र में प्रयोग

समाजशास्त्र में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने वाले विद्वानों की एक लम्बी सूची है। उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार है अगस्त कॉम्ट ने समाज के विकास की व्याख्या इसी पद्धति के आधार पर करते हुए समाज के विकास को मानव के बौद्धिक विकास से जोड़ा और कहा कि प्रत्येक समाज विकास के तीन स्तरों से गुजरता है -धार्मिक अवस्था, तात्विक अवस्था एवं वैज्ञानिक अवस्था ।

हरबर्ट स्पेंसर ने भी समाज के विकास, उसमें आने वाली कठिनाइयों, विकास के चरणों एवं प्रकार्यो की व्याख्या ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर की है ।

वेस्टमार्क ने अपनी पुस्तक "Historty of Human Marriage" में मानव विवाह के इतिहास को प्रकट किया है ।

ओपनहीम ने अपनी कृति "The State"' में सी राइट मिल्स ने अमेरिका के सफ़ेदपोश अपराधियों का तथा रेमण्ड एरन ने संघर्ष एवं युद्ध का ऐतिहासिक विवेचन किया है । कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास की भौतिक व्याख्या प्रस्तुत की । उनका द्वन्दात्मक भौतिकवाद भी इसी विधि पर आधारित है ।

7.10 ऐतिहासिक पद्धति के सिद्धान्त (Principles of Historical Method)

7.10.1 स्पेंग्लर एवं चक्रीय परिवर्तन का सिद्धान्त (Spengler and the History cyclical change)

जर्मन विद्वान ओस्वालड स्पेंगकर ने 1918 में अपनी पुस्तक "The Dvdine of the west" में ऐतिहासिक विकास के प्रतिमान का उल्लेख किया । इस पुस्तक में उन्होनें सामाजिक परिवर्तन के उदविकाक्षीय सिद्धान्तों की आलोचना की और कहा कि परिवर्तन कभी भी सीधी रेखा में नहीं होता। अपनी इस कृति में उन्होनें समाजशास्त्र की एक प्रमुख समस्या "विभिन्न संस्कृतियों एवं सभ्यताओं में समानता क्यों पायी जाती है" का विवेचन किया । उन्होंने कहा सम्पूर्ण मानवता का एक इतिहास खोजना अर्थपूर्ण बात नहीं है, तथा सम्पूर्ण इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक इन तीनों भागों में बांटना भ्रामक एवं व्यर्थ है । वरन् उनकी सार्थकता इस बात में है कि पृथक -पृथक संस्कृतियों का अपना -अपना जीवन इतिहास है, उनका अपना जीवन दर्शन है ।

स्पेंगलर ने इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक संस्कृति की अपनी निजि शैली एंव मूल्य होते हैं, जो दूसरी संस्कृति से भिन्न होते हैं । स्पेंगलर संस्कृति की तुलना एक सावयव व शरीर से करते है । उनके अनुसार जैसे व्यक्ति जन्म लेता है, शिशु अवस्था, युवा अवस्था प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था से गुजरकर अन्ततः मृत्यु को प्राप्त होता है । वैसे ही संस्कृति और समाज भी इन स्तरों से गुजरते है । इन चारों अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए स्पेंगलर ने चार ऋतुओं का उल्लेख किया है, बसन्त, गर्मी, पतझड़ एवं सर्दी । प्रत्येक संस्कृति अपने

जीवन काल में इन चारों ऋतुओं से गुजरती है । संस्कृति के बसन्त स्तर के प्रारंभ से पूर्व लोग संस्कृति पूर्व स्तर (Precultural Stage में रहते हैं । कई समाज तो इस स्थिति से ऊँचे ही नहीं उठ पाते किन्तु जब एक बार संस्कृति के उठने का चक्र प्रारंभ हो जाता है, तो वह स्वत: ही विभिन्न क्रमों से गुजरती है । संस्कृति का अन्तिम चरण शरद ऋतु का है । जो कि सभ्यता का विनाश या मृत्यु का स्तर है । इस प्रकार से सभ्यता का स्तर संस्कृति के नाटक का उपसंहार का स्तर है । इसके बाद वह मर जाती है । मरने के बाद जीव की भांती ही संस्कृति पुन: जन्म लेती है । और कठोरता का स्थान बौद्धिक रचनात्मकता ले लेती है ।

7.10.2 टॉयनबी का सिद्धान्त

अर्नाल्ड जे. टॉयनबी ने. विश्व की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया उनके अध्ययन की इकाई सभ्यता है, जिसे वह ऐतिहासिक अध्ययन का एक बोधगम्य एवं आवश्यक क्षेत्र मानते है । स्पेंगलर की संस्कृति के स्थान पर टॉयनबी सभ्यता की अवधारणा का प्रयोग करते हैं । उनके अनुसार सभ्यता का तात्पर्य है, कुछ निश्चित लोगों द्वारा कई समान लक्षणों को धारण करना । सभ्यता मौलिक भी हो सकती है, जो कि सभ्यता पूर्व (Precivilization) से स्वत: ही पैदा हुई हो अथवा यह पहले से मौजूद संस्कृति की प्रेरणा से जुड़ी हुई भी हो सकती है । टॉयनबी कहते हैं कि चार -पाँच सभ्यताएँ, मौलिक रूप से जन्मी एवं फली -फूली, वे हैं मिश्र, सुमेरिया, चाईना माया एवं सम्भवत: इण्डिका तथा शेष अन्य प्रारम्भिक सभ्यताओं से जुड़ी हुई थी । टॉयनबी कहते हैं कि कुछ सभ्यताओं की पहचान उनकी अपनी एक शैली के आधार पर की जा सकती है । उदाहरणार्थ हेलेनिक सभ्यता की पहचान उसका सौन्दर्य बौधा (Aesthetic) है, तो पश्चिमी संस्कृति की पहचान उसकी यान्त्रिक जबकि रूस की संस्कृति की पहचान उसका धर्म है ।

टायेनबी के अनुसार सभ्यता को जन्म लेने के लिए कुछ निश्चित परिस्थितियाँ उत्तरदायी है, उनके मौजूद रहने पर ही सभ्यता जन्म ले सकती हैं, अन्यथा नहीं । उनके अनुसार सभ्यता की वृद्धि की भी एक सीमा होती हैं, वृद्धि के दौरान उसकी नब्ज टूट जाती है (Baeal down) और उसका पतन होने लगता है । वे मानते है कि विकास के दौरान सभी सभ्यताएँ समान स्तरों से गुजरती हैं जो पूर्व निश्चित है और उनके बाद वे समाप्त हो जाती है, किन्तु स्पेंगलर की भांति टॉयनबी सभ्यता के विकास के जीवन का काल तय नहीं करते हैं ।

टॉयनबी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य उनका चुनौती एवं प्रत्युतर का सिद्धान्त (Challenge and Respo Ase Theory) है । वे कहते है कि प्रत्येक सभ्यता को पहले कुछ चुनौतियों का सामना करना पड़ता है । ये चुनौतियाँ प्रकृति (कठोर जलवायु) व मनुष्य (पडोसी समाजों से युद्ध -) दोनों के द्वारा दी जाती है । किसी भी सभ्यता का विकास एवं उदय तब होता है, जब या तो चुनौती कठोर ना हो या उस समाज में कुद अल्पसंख्यक बुद्धिमान या विशिष्टजन (Cities) ऐसे हों जो उस चुनौति का प्रत्युतर दे सकें ।

टॉयनबी के अनुसार विकसित होती हुई सभ्यताओ की कुछ निश्चित विशेषताएँ होती हैं। जैसे प्रत्येक सभ्यता मे निर्माणकारी अल्पसंख्यक (Creative minority) होती है जिसका

अनुगमन बहु संख्यकों द्वारा किया जाता है । इन अनुगामियों में उसी समाज के आन्तरिक श्रमिक (Internal Pralefarial) एंव बाहय श्रमिक तथा समृद्ध होती हुई सभ्यता से प्रभावित होने वाले पड़ोसी बर्बर (Berbarian neighbours) होते है । जब कोई सभ्यता के बड़े आकार का होना उसके विकास का सूचक नहीं है । जब कोई सभ्यता वृद्धि की प्रक्रिया में होती हे तो उसमें एकीकरण एवं स्व: निर्णय (Integration and self -determination) में वृद्धि हो जाती है तथा यह अन्य सभ्यताओं से भिन्न अपनी एक विशिष्ट शैली का संरचय करती जाती है ।

सभ्यता की वृद्धि नब्ज टूटने के कारण बाधित होती है और ऐसा तब होता है जब बुद्धिजीवी अल्पसंख्यक चुनौतियों का समुचित प्रत्युतर नहीं देता है । इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं हैं जब कि सभ्यता ने अपनी सभी चुनौतियों का समुचित प्रत्युतर दिया हो । इस प्रकार इतिहास का अधिकांश भाग सभ्यताओं के पतन से भरा पड़ा है । टॉयनबी कहते हैं कि नब्ज टूटने के साथ -साथ सभ्यता का एकीकरण समाप्त होने लगती है । उनके अनुसार सत्यता का पतन एवं मृत्यु (Drelive and death) उसकी आन्तरिक आवश्यकता (Internal Accissive) उन्होनें बताया कि सभ्यताओं के परिवर्तन के चक्र में चार प्रकार के व्यक्तियों, का उदय होता है, प्रथम, प्राचीन (Archic) जो कि भूतकाल की ओर ले जाना चाहते है और वर्तमान से मुक्ति चाहते हैं, द्वितीय, भविष्यवादी जो कि तलवार लेकर उसकी रक्षा करना चाहते हैं, तृतीय, उदासीन (Indifferent Stoic) तथा चतुर्थ, धार्मिक रक्षक (Religious Servious) । चतुर्थ चरण में धर्म परिवर्तन कर वे सभ्यता की रक्षा करना चाहते हैं । विशाल पैमाने पर धार्मिक उन्मेश (Orientation) के कारण मरती हुई सभ्यता बचती नहीं है । वरन् इसके सफल जीवन जीने का नवीन मार्ग तय होता है ।

7.10.3 सोरोकीन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त

सोरोकिन ने अपनी पुस्तक Social and Culture Dynamics में सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया । उन्होनें मार्क्स, पैरेटो एवं वेब्लेन के परार्वतन सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना की । उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन उतार -चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डूलम की भांती एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच होता रहता है । उन्होंने प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों -भावनात्मक एवं चेतनात्मक का उल्लेख किया। प्रत्येक समाज संस्कृति की इन दो दूरियों के बीच घूमता हैं, अर्थात चेतनात्मक से भावानात्मक की ओर तथा भावनात्मक से चेतनात्मक की ओर । एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान मध्य में एक स्थित मे जाने के दौरान मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें चेतनात्मक एवं भावानात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है, इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं । विभिन्न संस्कृतियों से गुजरने के दौरान समाज में भी परिवर्तन आता है ।

चेतनात्मक संस्कृति (Sensative Culture) को सोरोकिन ने भौतिक संस्कृति भी कहा। इस संस्कृति का सम्बन्ध मानव चेतना अथवा इन्द्रियों से होता है अर्थात् इसका ज्ञान हम देखकर, सूंघकर एवं छूकर सकते हैं । ऐसी संस्कृति में एन्द्रिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की

पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है । इसमें धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्पराओं एवं ईश्वर आदि को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है । जैसे - पश्चिमी समाज ।

भावात्मक संस्कृति (Ideational Culture) का सम्बन्ध भावना, ईश्वर, धर्म, आत्मा एवं नैतिकता से होता है । ये आध्यात्मवादी संस्कृति कही जाती है । इसमें इन्द्रिय सुख के स्थान पर आध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्व दिया जाता है । इसमें आदर्श धर्म, कानून तथा ईश्वर की प्रमुखता पायी जाती है इस संस्कृति में विज्ञान व प्रौद्योगिकी पिछड़ जाती है ।

सोरोकिन द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक परिवर्तन का क्रम

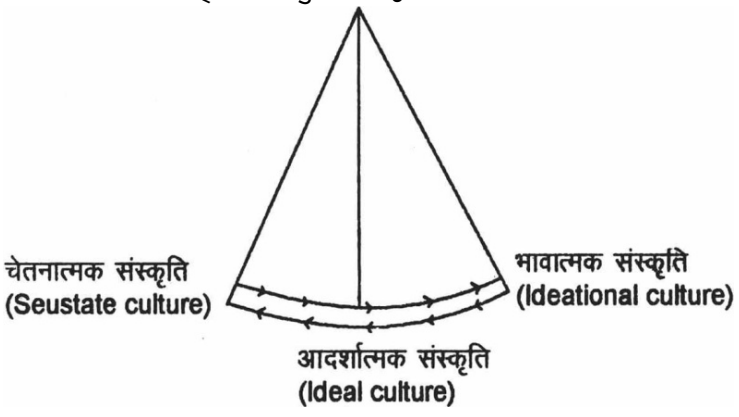

आदर्शात्मक संस्कृति (Ideal culture) पूर्व के दोनों संस्कृतियों का मिश्रण होता है । इनमें दोनों की विशेषताएँ पायी जाती है । इसमे, धर्म एवं विज्ञान भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख दोनों का सन्तुलित रूप पाया जाता है । सोरोकिन इस संस्कृति को उत्तम मानते है । इसलिए इसे वह आदर्शात्मक संस्कृति कहते है ।

सोरोकिन का मत है कि विश्व की सभी संस्कृतियां चेतनात्मक से भावनात्मक के झूले में झूलती रहती है । प्रत्येक संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर पुन: दूसरे प्रकार की संस्कृति की और लौट जाती है । जैसा कि ऊपर के चित्र से प्रकट होता है । चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृतियाँ परिवर्तन केवल सीमाएँ हैं समाज में अधिकांश समय तो आदर्शवादी संस्कृति ही प्रचलित रहती है।

संस्कृतियों में यह परिवर्तन क्यों होता है इसका उत्तर देते हुए सोरोकिन कहते है कि संस्कृतियों की व्यवस्था में ही परिवर्तन निहित है । संस्कृति की प्रकृति ही परिवर्तनशील है क्योंकि परिवर्तन जीवन का नियम है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बाह्य कारक जैसे जलवायु एवं भू -प्रदेश आदि सांस्कृतिक परिवर्तन को प्रभावित नहीं करते । वे प्रभाव डालते तो है किन्तु उनकी भूमिका बहुत छोटी है । उनके अनुसार संस्कृतियों में अन्तस्थ परिवर्तन (Immentent Change) उनका भाग्य है, यह व्यवस्था में निहित आन्तरिक शक्तियों का प्रकटीकरण है । सोरोकिन के अनुसार कोई भी संस्कृति अपने चरम सीमान्त तक विकसित नहीं होती है, प्रत्येक सांस्कृतिक व्यवस्था अपूर्ण रूप से एकीकृत होती है । जब संस्कृति सैद्धान्तिक सीमा तक पहुंच जाती है तो पुन: वहाँ से विपरीत छोर की और मुड़ जाती है किन्तु संस्कृति

कभी मरती नहीं है, इसके कुछ अंग अस्वीकार कर दिए जाते हैं, कुछ विभिन्न संस्कृतियों द्वारा ग्रहण कर लिये जाते है, और जीवित रहते हैं ।

7.10.4 कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धान्त

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, धर्म का सिद्धान्त तथा पूंजीवादी संग्रह के नियमों को समझाने के लिए एक मात्र ऐतिहासिक पद्धति को ही आधारभूत पद्धति माना है । उनके अनुसार इतिहास को समाज के आर्थिक परिप्रेख्य में देखकर समाज व सम्बन्धों की व्याख्या अधिक अच्छी तरह की जा सकती है । भौतिक सत्य वर्ग संघर्ष को स्थायित्व प्रदान करता है । मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी स्थापनाओं की प्रमुख बातें जर्मन आइडियालॉजी (German Idealogy) में प्रस्तुत की है । इसमें उन्होंने बताया कि इतिहास का निर्माण भौतिक उत्पादन के साधन स्त्रोतों तथा इन साधन तथा स्त्रोतों से मनुष्य के सम्बन्धों पर निर्भर करते हैं उनके अनुसार इतिहास का निर्माण मानव द्वारा होता है अत: इतिहास के निर्माण हेतु मानव जीवित रहना अत्यन्त आवश्यक है और व्यक्ति तभी जीवित रह सकता है जब जैविक आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) की पूर्ति होती रहे । मार्क्स कहते हैं कि इन जैविक तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भौतिक -मूल्यों द्वारा होती है फलत: इस खोज ने इतिहास को एक विज्ञान बना दिया । अत: मॉर्क्स को यह ऐतिहासिक क्रम भौतिक -मूल्य के उत्पादन में, समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियाँ में ही प्राप्त हुआ था । सामाजिक आर्थिक ढांचे में परिवर्तन वस्तुगत नियमों से ही होता है । अत: वस्तुगत नियमों के अनुसार ही एक सामाजिक ढांचा (संरचना) दूसरे सामाजिक -आर्थिक ढांचे (संरचना) की जगह लेता है । इसके परिणामस्वरूप आदिम साम्यवाद, दास प्रथा, सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा समाजवाद का अस्तित्व प्रभाव में आया है । और एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित होती रही है ।

मार्क्स कहते हैं कि इतिहास का निर्माण या विकास विचारों आत्मा या आदेशों पर आधारित नहीं है अपितु समाज की आर्थिक कारक, उत्पादन की शक्ति व साधन स्त्रोतों पर निर्भर करता है । इतिहास के निर्माण की क्रिया कुछ गिने चुने व्यक्तियों द्वारा न होकर समान व जन -साधारण या असंख्य लोगों द्वारा होती है । वे मानते हैं कि समाज की संरचना विचार, राजनीति संस्थाओं आदि को भौगोलिक पर्यावरण या जनसंख्या आदि के द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता है । समाज के भोतिक जीवन की अवस्थाएँ ही अन्तिम रूप से इन सबको संचालित व नियमित करती है ।

मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रमुख तत्व आर्थिक कारक को मानते है । उनके अनुसार जैविक साधनों को जुटाना जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है । जिसके लिए व्यक्ति उत्पादन करता है और परिणामस्वरूप व्यक्ति को उत्पादन के साधन स्त्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है । वे कहते है कि उत्पादन, उत्पादन की प्रणालियों तथा मनुष्यों के उत्पादन सम्बन्धों (Relation of Production) पर निर्भर करता है । मार्क्स ने माना कि समाज के विकास का इतिहास उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास है । इतिहास राजा राजनेताओं या

विजेता शासकों का इतिहास नहीं, अपितु भौतिक मूल्यों के उत्पादकों का इतिहास है । मजदूर, श्रमिक या सम्बन्धी आदर्शवादी विचारधारा का इतिहास भी है । मानव इतिहास का प्रारम्भिक व मूल कार्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जो इतिहास के सृजन से पूर्व अस्तित्व में आई और तब तक रहेगा जब तक मानव का पृथ्वी पर अस्तित्व रहेगा ।

7.11 सारांश

समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों या प्रघटनाओ के वास्तविक अध्ययन हेतु अनेक उपागमों का प्रयोग किया जाता है । जिसमें ऐतिहासिक पद्धति प्रमुख स्थान रखती है । चूंकि समाजशास्त्र की विषयवस्तु मनुष्य समाज तथा सामाजिक सम्बन्ध अत्यंत जटिल हैं अत: इस अध्ययन न हेतु समाजशास्त्रियों को विशेष सावधानी की आवश्यकता जरूरी है ।

7.12 बोध प्रश्न

1. समाजशास्त्र के प्रमुख उपागमों की चर्चा कीजिए ।
2. समाजशास्त्रीय अध्ययन के ऐतिहासिक उपागम क्या है? इसके अर्थ एवं परिभाषा की विवेचना कीजिए ।
3. ऐतिहासिक अध्ययन उपागम के अनिवार्य आवश्यकताओं (मान्यताओं) की चर्चा कीजिए ।
4. ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति के विभिन्न स्त्रोतों की चर्चा कीजिए ।

इकाई-8

उद्विकासीय उपागम

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.01 प्रस्तावना

8.02 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा

8.03 उद्विकास की विशेषताएँ

8.04 सामाजिक उद्विकास के कारक

8.05 डार्विन का उद्विकास सिद्धान्त

8.06 सामाजिक उद्विकास

8.07 उद्विकासीय सिधान्त के अभ्युपनाम (मान्यताएं)

8.08 सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक

8.8.1 कॉम्ट का सिद्धान्त

8.8.2 स्पेन्सर का सिद्धान्त

8.8.3 टॉयलर - धर्म का उदविकासीय सिद्धान्त

8.8.4 मार्गन का सिद्धान्त

8.8.5 सोरोकिन का सिद्धान्त

8.8.6 स्पेंगलर का सिद्धान्त

8.8.7 टॉयनबी का सिद्धान्त

8.8.8 हेड्डन का सिद्धान्त

8.09 आर्थिक जीवन का उद्विकास

8.10 पारिवारिक जीवन का उद्विकास

8.11 उद्विकास के स्वरूप

8.11.1 समरेखीय उद्विकास

8.11.2 बहुरेखीय उद्विकास

8.11.3 चक्रीय या पैराबोलिक उद्विकास

8.11.4 सार्वभौमिक उद्विकास

8.12 उदविकासीय सम्प्रदाय की समालोचना

8.13 शब्दावली

8.14 सारांश

8.15 बोध प्रश्न

8.16 सन्दर्भ ग्रंथ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप समझ सकेगें :

- उद्विकास से हमारा अभिप्राय है
- उद्विकास की विशेषताएँ है
- उद्विकास के कारक है
- सामाजिक उद्विकास के विभिन्न पक्ष
- सामाजिक उद्विकास का स्वरूप
- उद्विकासीय सिद्धान्त की मान्यतायें
- उदविकासीय सम्प्रदाय के प्रतिपादक व उनका योगदान
- मानव के आर्थिक और पारिवारिक जीवन का उद्विकास किन स्तरों से होकर हुआ हैं?
- उदविकासीय सिद्धान्त की सीमाएँ

8.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा प्राणीशास्त्र से ग्रहण की गयी है । जिस समय समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में विकास हो रहा था उसके समय सन् 1659 इ में चार्ल्स डार्विन ने आरिजिन ऑफ स्पेसिज (Origin Species) नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने जीवों की उत्पत्ति के बारे में अपना उदविकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया । इस सिद्धान्त में उन्होनें प्रतिपादित किया कि जीवों का उद्विकास सरलता से जटिलता तथा समानता से भिन्नता की ओर हुआ है । डार्विन द्वारा प्रतिपादित उद्विकासीय सिद्धान्त ने उस समय के समाजशास्त्र के विद्वानों को काफी प्रभावित किया । स्पेन्सर एवम् मार्गन जैसे समाज - वैज्ञानिकों ने उदविकासीय सिद्धान्त को समाज व संस्कृति पर भी लागू किया और कहा कि इनका भी जीवों की भाँती उद्विकास हुआ है । उस काल के अन्य समाजशास्त्रियों ने भी समाज, संस्कृति, सामाजिक संस्थाओं धर्म, परम्परा विवाह विचार -आर्थिकी, कला आदि का अध्ययन उदविकासीय पद्धति द्वारा किया । इन विद्वानों ने अपने -अपने अध्ययनों से सम्बन्धित घटनाओं के उदविकासीय सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए । इनमें स्पेन्सर, दुर्खिम, टॉलयर, मार्क्स, मार्गन, सर हेनरी मेन, मैक मिलन इत्यादि प्रमुख हैं । इस इकाई में हम उद्विकासीय उपागम के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से चर्चा करेंगे ।

8.02 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा

अंग्रेजी भाषा के "Evolution" शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा को "Evolvere" शब्द से हुई है । 'E' का अर्थ है 'बाहर की ओर (Outward) तथा Volvere का अर्थ है 'प्रकट होना' (to unfould) या 'विकसित होना (to develop) । इस अर्थ में किसी वस्तु के बाहर की ओर फैलने को उद्विकास कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उद्विकास का यह अर्थ अपूर्ण है । वैज्ञानिक अर्थ में उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया हैं जिसमें एक सीधी सादी सरल वस्तु या सावयव (Organism) क्रमिक परिवर्तन के कारण जटिल रूप धारण कर लेता है । उदाहरण के लिए, एक बीज का अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेना या एक कोष्ठ (Cell) का मानव शिशु

के रूप में परिवर्तित हो जाना उद्विकास है । इस प्रकार जब किसी वस्तु के गुण, ढांचे व कार्य में एक निश्चित की ओ निरन्तर परिवर्तन हो तो उसे हम उद्विकास कहेंगे उद्विकास को हम सरल सूत्र के द्वारा इस प्रकार समझ सकते, है : उद्विकास = निरन्तर परिवर्तन + निश्चित दिशा : गुणातमक अन्तर + ढांचे व कार्य में भिन्नता ।

"उद्विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर लिखते है, "उद्विकास कुछ तत्वों का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान कोई तत्व एक एकीकरण तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है ।"इस प्रकार उद्विकास में किसी वस्तु में परिवर्तन समस से विषमता की ओर होता है इससे वस्तु की जटिलता में वृद्धि होती है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "जब परिवर्तन में निरन्तरता ही नहीं वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है । मैकाइवर ने उद्विकास को आन्तरिक शक्तियों द्वारा होने वाला परिवर्तन कहा है ।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने भी उद्विकास को एक निश्चित - दिशा में होने वाला परिवर्तन' माना है ।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उदविकास किसी एक विशेष दिशा मे होने वाला परिवर्तन है जो वस्तु की आन्तरिक शक्तियों के परिणामस्वरूप पैदा होता है तथा इससे वस्तु में जटिलता की वृद्धि होती है ।

8.03 उद्विकास की विशेषताएँ

उद्विकास को और स्पष्ट रूप से समझने के लिये यहा पर इसकी विशेषताओं की चर्चा करेंगे । उद्विकास की निम्नलिखित विशेषताएँ है -

1. उद्विकास सदैव सरलता से जटिलता की ओर होता है - प्रारंभ, में किसी वस्तु या प्राणी के अंग घुले मिले एवं धुंधले होते हैं, धीरे -धीरे उनमे अन्तर स्पष्ट होने लगता है। वे पृथक् हो जाते हैं तथा उनका स्वरूप भी निश्चित हो जाता है । उदाहरण के लिए, प्रारंभ में भ्रूण एक मांस का पिण्ड होती है धीरे -धीरे उसके हाथ पाव, नाक, कान, आँख आदि दिखाई देने लगते हैं ।
2. उद्विकास निरन्तर एवं धीमी गति से परिर्वन की एक प्रक्रिया है -उद्विकास में परिवर्तन निरन्तर होता है, किन्तु यह इतनी धीमी गति से होता है कि परिवतर्न को देख पाना संभव नहीं होता है । उदाहरण के लिए एक शिशु धीरे -धीरे किशोर एवं युवा हो जाता है किन्तु उसके बड़े होने की प्रक्रिया को हम स्पष्टत: नहीं देख पाते हैं ।
3. उद्विकास विभेदीकरण (Differentiation) की एक प्रक्रिया है - उद्विकास के दौरान जीव अथवा समाज के विभिन्न अंगो में विभिन्नता पैदा होती है । वस्तु या जीव के अंग या शाखाएँ धीरे -धीरे स्पष्ट एवं पृथक होती जाती है ।
4. उद्विकास एवं सार्वभौतिक प्रक्रिया (Universal Process) है - इसका मतलब यह हुआ है कि यह सभी स्थानों व कालों में पायी जाती है ।

5. उद्विकास एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन है यद्यपि यह निश्चित नहीं होता कि वह दिशा क्या होगी ।
6. उद्विकास वस्तु की आन्तरिक वृद्धि (Internal Growth) के कारण होता है ।
7. उद्विकास के दौरान वस्तु अथवा समाज में गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन होता है न कि संख्यात्मक (Quantitative) ।
8. उद्विकास एक मूल्यरहित (Valueless) प्रक्रिया है अर्थात् प्रगति की तरह इसका संबंध अच्छाई -बुराई से नहीं होता ।
9. उद्विकास कुछ निश्चित चरणों एवं क्रम में होने वाला परिवर्तन हैं अर्थात प्रथम चरण के बाद द्वितीय एव द्वितीय के बाद तृतीय चरण आता है । ऐसा नहीं हो सकता कि प्रथम के बाद तृतीय और फिर द्वितीय चरण आये । उदाहरण के रूप में एक बच्चा पहले युवा होगा फिर वृद्ध न कि पहले वृद्ध और फिर युवा ।
10. उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती है - अर्थात चरण को छोड़ गया है, पुन, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । जैसे - एक बालक युवा होने के बाद पुन: बालक की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता ।

8.04 सामाजिक उद्विकास के कारक

ऑगर्बन ने सामाजिक उद्विकास के निम्नांकित चार कारकों का उल्लेख किया है ।

1. **आविष्कार (Invention):** समाज में सर्वाधिक परिवर्तन आविष्कार के कारण होते है । आविष्कारों का प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध उस समाज के व्यक्तियों की मानसिक योग्यता, मांग तथा अन्य सांस्कृतिक तत्वों से होता है । इन तीनों की उपलब्धि जिस समाज में जितनी अधिक होगी, उस समाज में उतने ही अधिक आविष्कार होंगे और फलस्वरूप विकास और परिवर्तन आयेगा ।

2. **संचय (Accumulation)**: किसी संस्कृति के तत्वो का ज्यों -ज्यों संचय बढ़ता जाता है, वह समृद्ध होती जाती है तथा इससे आविष्कार के अवसर भी बढ़ जाते हैं ।

3. **प्रसार (Diffusion):** एक समाज द्वारा किये गए आविष्कार का प्रसार जब दूसरे समाज में भी होता है तो सामाजिक विकास एवं परिवर्तन व्यापक एवं तीव्र गति से होते है ।

4. **सामंजस्य (Adjustment)**: विभिन्न समाजों में तथा अपने ही समाज में विभिन्न संगठनों, समूहों एवं संस्थाओं के बीच सामंजस्य के बढ़ने पर भी उद्विकास की गति तीव्र होती है। इसका कारण यह है कि एक अंग में आया परिवर्तन दूसरे अंगो में भी परिवर्तन पैदा करता है।

8.05 डार्विन का उद्विकास सिद्धान्त

सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त डार्विन के उदविकासीय सिद्धान्त पर आधारित है, अत: डार्विन के उदविकासीय विचारों को जान लेना आवश्यक है । सन् 1659 में डार्विन ने अपनी प्रसिद्ध कृति “The Origin of Species” प्रकाशित की जिसमें आपने जीवों की उत्पत्ति के बारे में उदविकासीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । डार्विन के पहले तक यह धारणा चली

आ रही थी कि पेड -पौधों एवं जीव -जन्तुओं की सृष्टि ईश्वर ने की है, किन्तु डार्विन ने अपने लम्बे समय के अनुसंधान के पश्चात् यह निष्कर्ष दिया कि प्राणियों का उद्विकास सरलता से जटिलता एवं समानता से भिन्नता की ओर हुआ है । प्रारंभ में पृथ्वी पर कोई जीव नहीं था । विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के कारण जीवों का जन्म हुआ। प्रारंभ के जीव एककोशिकीय थे । धीरे -धीरे उनके शरीर रचना में परिवर्तन आया, उनमें भिन्नता आती गई और विभिन्न अंग पृथक हुए ।

डार्विन का मत था प्रारंभ में जीव बहुत सरल कोटी का होता है, उसके विभिन्न अंग इतने घुले -मिले होते हैं कि उन्हें स्पष्टता से न तो पहचाना जा सकता है और न ही पृथक किया जा सकता है । विभिन्न अंगो में अनिश्चित सम्बद्धता होती है, किन्तु धीरे -धीरे जीव में परिवर्तन होने लगता है, उसके विभिन्न अंग स्पष्ट एवं अलग होने लगते हैं तथा उसके स्वरूप में स्पष्टता आने लगती है । उदाहरण के लिए, एक बीज प्रारंभ में सरल व अस्पष्ट रूप लिये होता है । धीरे -धीरे उसमें परिवर्तन होता है और जड़, तना तथा पत्तियाँ पृथक व स्पष्ट होने लगते हैं । इसी प्रकार से प्रारंभ में एक भ्रूण मांस का एक पिण्ड होता है, धीरे -धीरे उसमें हाथ, पांव, नाक, आँख, सिर आदि पृथक व स्पष्ट दिखाई देने लगते है । उद्विकास का यह प्रथम चरण है जिसमें सरलता, अस्पष्टता एवं अभिन्नता धीरे -धीरे जटिलता, स्पष्टता एवं सम्बद्धता में बदल जाती है । जीव के उद्विकास के दूसरे चरण में विभिन्न अंग अलग -अलग कार्य करने लगते हैं, उनमें श्रम -विभाजन पैदा हो जाता है, जैसे जड़ें भोजन प्राप्त करने, तना पेड को खड़ा रखने एवं पत्तियाँ हवा व धूप ग्रहण करने का कार्य करती है । प्राणियों के विभिन्न अंग जैसे हाथ, पांव, नाक, आँख अपने -अपने निर्धारित कार्य करने लगते हैं । अंगों के पृथक व स्पष्ट होने पर भी उनमें परस्पर निर्भरता एवं संबद्धता बनी रहती है । एक अंग पर पड़ने वाला प्रभाव दूसरे को भी प्रभावित करता है । जैसे पेट खराब होने पर उसका असर दूसरे अंगो पर भी पड़ता है । उद्विकास की यह प्रक्रिया चरणों में होती है । अत: नया रूप सामने आने पर ही परिवर्तन ज्ञात हो पाता है । उद्विकास के दौरान वस्तु के आन्तरिक गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है ।

8.06 सामाजिक उद्विकास

डार्विन के उद्विकास सिद्धान्त को समाज पर लागू करने का श्रेय अंग्रेज समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर को जाता है । उन्होंने अपनी पुस्तक "Principles of Sociology" में समाज और सावयव में समानता स्थापित कर सामाजिक उद्विकास की अवधारणा का निरूपण किया । सोरोकिन का मत है कि हालाँकि 'अस्तित्व के लिये संघर्ष, योग्यता की उत्तरजीविनता तथा अनुकूलनता के सिद्धान्त चार्ल्स डार्विन के बहुत पहले प्रतिपादित किये जा चुके थे । फिर भी डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्राक्कल्पनाओं प्रमाणों तथा उद्विकास सिद्धान्त ने डार्विन बाद के काल के समाजशास्त्रीय विचारों को बहुत अधिक प्रभावित किया था । जिसके प्रभाव के कारण मानव समाज के आन्तरिक संघर्ष की विभिन्न व्याख्याओं के सिद्धान्त सामने आये हैं ।

स्पेन्सर का मत है कि जिस प्रकार से जीवों से विकास समानता से भिन्नता व सरलता से जटिलता की ओर हुआ है, उसी प्रकार से समाज का विकास भी सरलता से समानता से जटिलता व भिन्नता की ओर हुआ है । प्रारम्भिक समाजों में विभिन्न अंग असष्ट थे और

उनके कार्य घुले मिले हुए थे । यह स्थिति अनिश्चितता की थी, किन्तु धीरे -धीरे समाज में परिवर्तन हुआ, समाज के विभिन्न संगठन एवं संस्थाएँ पृथक -पृथक दिखाई देने लगी, उनमें कार्य विभाजन पैदा हुआ और विशेषीकरण पनपा । उदाहरण के लिए, प्रारंभ में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्य किसी एक ही संगठन व संस्था से सम्बद्ध थे। धीरे -धीरे इन कार्यो को करने वाले अलग -अलग संगठन व संस्थाएँ बनी । इससे समाज में जटिलता व भिन्नता की वृद्धि हुई साथ ही विभिन्न संस्थाओं की पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ी । स्पेन्सर लिखते है, "'प्रारम्म में कोई सामाजिक संगठन अस्पष्ट होता है । धीरे -धीरे उसमें विकास अधिक स्पष्ट होता चला जाता है । प्रथाओं में स्थायित्व आ जाने से वे कानून का रूप धारण कर लेती है । इसी प्रकार से समूह की सामाजिक संस्थाएँ प्रारंभ में एक दूसरे से मिली हुई सी लगती है ।

डार्विन ने अपने उदविकासीय सिद्धान्त में यह भी लिखा है कि प्रत्येक प्रकार का प्राणी अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for Existence) करता रहता है तथा जो अयोग्य या दुर्बल होता हैं उन्हें प्रकृति मार डालने के लिए चुनती है । अत: प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त (Theory of Nature Selection) के अनुसार अयोग्य प्राणी नष्ट हो जाते है तथा सबसे योग्य प्राणी का ही अस्तित्व (Survival of the Fittest) बना होता है ।

स्पेन्सर ने भी प्राकृतिक प्रवरज के सिद्धान्त (Theory of Natural Selection) को मानव -समाज पर लागू किया और निष्कर्ष निकाला कि अस्तित्व के लिये संघर्ष मनुष्य तथा अन्य जीवित प्राणियों के बीच तथा स्वंय मनुष्य -मनुष्य के बीच निरन्तर होता रहता है । डी.डब्लू हीले कहते हैं कि, इस प्रकार स्पेन्सर उद्विकास की प्रक्रिया को चेतन जगत पर लागू करने योग्यतम रूप से जीवित रहने के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं।

स्पेन्सर के अनुसार उद्विकास की यह प्रक्रिया मानव -समाज के धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है । समाजशास्त्र में उदविकासीय सिद्धान्त के प्रतिपादकों में स्पेन्सर के अलावा कॉम्ट, दुखर्मि, मार्गन, टायलर, हेड्डन, कार्ल मार्क्स, सोरोकिन टायनबी, स्पेंग्लर, मेकेमिलन, बेब्लेन आदि प्रमुख है, जिन्होंने अपनी -अपनी कृतियों में सामाजिक उद्विकास के विभिन्न पहलुओं का प्रतिपादन किया है।

8.07 उद्विकासीय सिद्धान्त के अभ्युपगम (मान्यताएँ) (Postulates of Evlutionary Theory)

उदविकासीय उपागम (सिद्धान्त) की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित है

1. मानव की मानसिक एकता एवं आविष्कार का अभ्युपगम (Postulates of Psychic Unity of Mankind and Invention)

इस मान्यता के अनुसार सभी समाजों के मानवों को बुद्धि एक सी है । समान परिस्थितियों में वह समान रूप से प्रतिक्रिया करता है । मानव के इस गुण को विकासवादी मानव जाति की मानसिक एकता का गुण कहते है । इनकी यह भी मान्यता है कि समाज और

संस्कृतियों की समानता तथा भिन्नता का कारण पर्यावरण की भिन्नता एवं आविष्कार है । इनकी मान्यता है कि विभिन्न समाजों का पर्यावरण समान होगा तो उनमें किये गये आविष्कार भी एक से होंगे । अनुकूलन पर्यावरण में समाज जल्दी और अधिक आविष्कार करके अपने समाज और संस्कृति का तीव्र गति से विकास करता है प्रतिकूल पर्यावरण में समाज आविष्कार कम करता है और इस कारण यह विकास के क्रम में पिछड़ जाता है ।

इस अभ्युपगम में आविष्कार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । इसके अनुसार मानवजाति की मानसिकता समान होने के कारण विभिन्न समाजों के लोगों ने समान परिस्थितियों में एक से आविष्कार किए है । इसलिए उन समाजों की संस्कृति जिनका भौगोलिक पर्यावरण एक सा रहा होगा एक से आविष्कार करने के कारण उनकी संस्कृतियों में समानता मिलती है ।

2. सरल से जटिल अवस्था में परिवर्तन (Change from simple to complex stage)

अनेक उदविकासवादियो जैसे कॉम्ट, स्पेन्सर, टॉयलर, मार्गन, हेड्डन, ब्रहुल आदि की मान्यता है कि समाज, संस्कृति और इनके विभिन्न अंगों, जैसे -धर्म, परिवार, विवाह, कला, विचार आदि का विकास सर्वदा सरल से जटिल अवस्था की ओर होता है तथा उनमें उद्विकास की क्षमताएँ विद्यमान होती है । इन विद्वानों ने अपने -अपने अध्ययन की घटनाओं से सम्बन्धित उदविकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किये है । उदाहरण के लिए काम्ट ओर स्पेन्सर ने समाज ओर धर्म के अध्ययन में यह बात प्रमाणित की । मार्गन ने सास्कृतिक का विकास सरल से जटिल बताया । मार्गन के अनुसार प्रारम्भ में मानव जंगली अवस्था में था फिर गंवार अवस्था में आया और बाद में सभ्य अवस्था में विकसित हुआ ।

3. सीधी रेखा में परिवर्तन (Change in Straight Line)

उदविकासवादियो की एक प्रमुख मान्यता यह हैं कि सांस्कृतियों तथा समाजों में परिवर्तन सीधी रेखा में तथा ऊपर की ओर होता है । जिससे इनका तात्पर्य यह है कि एक बार परिवर्तन आगे की ओर होने के बाद घटना अर्थात संस्कृति आदि अपनी पूर्व (क्रम विकसित) अवस्था में नहीं आ सकती है अथार्त उद्विकास सरल से जटिल दिशा में तथा सीधी रेखा में होता है जो वापस नहीं लौटता है ।

4. निश्चित चरणों में परिवर्तन (Change in Definite Stages)

सामाजिक उदविकासवादियो ने समाज, संस्कृति आदि का उद्विकास जीव -जगत की तरह निश्चित चरणों में होना बताया है । जिस प्रकार से डार्विन ने एककोषकीय जीव अमीबा से निश्चित चरणों में विकास के क्रम को स्पष्ट करते हुए मानव जीव का पृथ्वी पर प्रादुर्भाव सिद्ध किया था उसी प्रकार से कॉम्ट, स्पेन्सर, टॉयलर मार्गन आदि ने सामाजिक घटनाओं का उद्विकास निश्चित चरणों में स्पष्ट किया है ।

5. निम्न विभेदीकरण से उच्च विभेदीकरण (Minimum Differentiation to Higher Differentiation)

सरल, सादा, सीधे और छोटे समाजों जैसे - आदिम समाजों में श्रम -विभाजन तथा विभेदीकरण न्यूनतम होता है । दुर्खीम, स्पेन्सर आदि उदविकासवादियो की मान्यता है कि जैसे

जैसे समाज सरल से जटिल अवस्था में विकसित होता है । वैसे -वैसे उनमें श्रम का विभाजन तथा विभेदीकरण भी न्यूनतम से अधिकतम होता जाता

6. निम्न श्रम -विभाजन से अधिकतम श्रम विभाजन (Minimum Division of Labour to Maximum Division of Labour)

दुर्खिम का मानना है कि समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में श्रम विभाजन का अभाव होता है अथवा बहुत निम्न श्रम विभाजन होता है । जैसे -जैसे जनसंख्या बढ़ती है उसमें श्रम विभाजन बढ़ता जाता है । जटिलतम समाज में श्रम विभाजन जटिलतम तथा अधिकतम होता है।

7. न्यूनतम विशेषीकरण से अधिकतम विशेषीकरण (Minimum Specialization to Maximum Specialization)

इस मान्यता के अनुसार समाजों और सांस्कृतियों के उद्विकासीय क्रम में जीव जगत की तरह से जैसे -जैसे श्रम -विभाजन में वृद्धि होती जाती है वैसे -वैसे उनके विभिन्न अंगो का विशेषीकरण भी होता जाता है।

8. न्यूनतम अन्योन्याश्रितता से अधिकतम अन्योन्यारिश्रतता (Minimum Interdependent to Maximum Interdependent)

इस मान्यता के अनुसार समाजों और सांस्कृतियों की विकास अवस्था जब काफी निम्न स्तर पर होती है तब उनकी संरचना की इकाइयों में भी न्यूनतम अन्योन्याश्रितता पायी जाती है । स्पेन्सर के अनुसार ऐसा उनमें विभेदीकरण न्यून या कम होने के कारण होता है लेकिन जब समाज, संस्कृति, राज्य आदि का उद्विकास हो जाता है तो उनमें परस्पर निर्भरता बढ़ जाती है । दुर्खीम के अनुसार भी श्रम विभाजन विशेषीकरण में वृद्धि करता हैं, जो संगठन के विभिन्न अंगो को एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित कर देता है, जिससे सावयवी एकता का जन्म होता है ।

9. अवशेष (Survival)

डार्विन ने अवशेषों के द्वारा जीवों के उद्विकास के क्रम को प्रमाणिकता प्रदान की थी। उनके अनुसार जब कोई जीव सरल से जटिल अवस्था में विकसित होता है, तो उस जटिल अवस्था वाले जीव के शरीर में कुछ अंग अवशेष के रूप में बने रहते हैं, जिनका कोई खास कार्य नहीं होता है । ये अंग लगभग निष्क्रिय होते हैं । उदाहरण के लिए मानव शरीर में अपेन्डिक्स (Appendix) टेल -बोन (Tail Bone) अकल -दाढ आदि ऐसे ही अवशेष हैं, जो बिना किसी कार्य किये शरीर में बने हुए हैं ।

उदविकासवादियो ने अवशेष की इस मान्यता को समाजों और सांस्कृतियों पर भी लागू किया है । उदाहरण के लिए कोट की बाँहों में बटन सांस्कृतिक अवशेष हैं । नगरों में किले परकोटे की दीवारें, तोपे, तलवार, भाले आदि प्राचीन युद्धों के सांस्कृतिक अवशेष हैं ।

10. अन्य मान्यताएँ (Other Assumptions)

उदविकासीय सिद्धान्त से सम्बन्धित अन्य मानयताएँ हैं - अनुकूलन प्रक्रिया की निरन्तरता, विभिन्न अंगो का सुस्पष्ट तथा पृथक अस्तित्व में विकसित होना पारस्परिक निर्भरता अस्तित्व के लिये, संघर्ष, योग्यतम की उत्तर जीवितता प्राकृतिक चयन आदि ।

उपयुक्त वर्णित मान्यताओं को उदविकासवादियों ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन को आधार बनाया और अपनीकृतियों में प्रस्तुत किया ।

8.08 उद्विकासीय समुदाय के प्रमुख प्रतिपादक (Main Propoundus of Evolutions School)

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में समाज, संस्कृति, सभ्यता परिवार, विवाह धर्म, कला आदि से सम्बन्धित उदविकासीय कॉम्ट, स्पेन्सर, मार्क्स, टॉयरल, मार्गन,बेकोफेन, हेड्डन आदि ने प्रतिपादित किये हैं । यहाँ पर उदविकासीय उपागम के कुछ प्रमुख प्रतिपादकों के विचार और योगदान प्रस्तुत हैं

8.8.1 कॉम्ट का सिद्धान्त (Theory of Comte)

कॉम्ट ने मानव इतिहास को सभ्यता के तीन स्तरों या युगों से गुजरा हुआ माना है । काम्ट के अनुसार सामाजिक उद्विकास मानव के बौद्धिक विकास पर निर्भर करता है । उन्होंने सभ्यता के विकास तीन बौद्धिक विकास के चरणों के अनुसार होता हुआ दिखाया है । ये तीन चरण निम्न हैं

1. धार्मिक अवस्था (Theological Stage)
2. तात्विक अवस्था (Metaphysical Stage)
3. वैज्ञानिक या प्रत्यक्ष बोध अवस्था (Scientific or Positivist Stage)

काम्ट के अनुसार प्रारम्भ में मानव सभी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए धार्मिक दृष्टिकोण से सोचता है । वस्तु के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के लिए वह ईश्वरीय - पौराणिक संदर्भ का सहारा लेता है । समाज भी इसके साथ -साथ धार्मिक अवस्था में होता है । तथा मानव सामाजिक घटनाओँ को आलौकिक शक्ति का प्रभाव मानते है।

विकास के दूसरे चरण में मानव वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका तात्विक विश्लेषण करता है वह वस्तु के गुणों की व्याख्या करता है ।

विकास की तीसरी अवस्था बौद्धिक विकास की वैज्ञानिक अवस्था है । इसमें मानव प्रयोग सिद्ध आनुभाविक विधि से सत्य की खोज करता है जो तर्क -सम्मत होते है । समाज भी परिवर्तित होकर इस अवस्था में वैज्ञानिक अवस्था में पहुँच जाता है । कॉम्ट भी मान्यता है कि प्रथम दो अवस्थाओं में समाज स्वयं परिवर्तित होता है लेकिन तीसरी अवस्था में मानव योजना बनाकर समाज को इच्छा के अनुसार निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए परिवर्तित कर सकता है । इस प्रकार काम्ट ने उद्विकासीय उपागम का प्रयोग मानव सभ्यता के विकास को समझाने के लिए किया है ।

8.8.2 स्पेन्सर का सिद्धान्त

स्पेन्सर ने समस्त घटनाओं की जानाकारी प्राप्त करने की कुन्जी उद्विकास के सिद्धान्त को बताया है । उनके अनुसार "उद्विकास तत्व का समन्वय व उससे सम्बन्धित गति है । जिसमें "अनिश्चित असम्बद्ध समानता से 'निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में तत्वों में परिवर्तन होता है। स्पेन्सर का मानना है कि जिस प्रकार से जीवों का विकास समानता से भिन्नता व सरलता से जटिलता की और हुआ है, उसी प्रकार से समाज का विकास भी सरलता से समानता से जटिलता व भिन्नता की ओर हुआ है । उदाहरण के लिये - अति प्राचीन युग में व्यक्ति केवल अपने बारे में ही जानकारी रखता था । उसे संस्कृति ओर सामाजिक संगठन के विषय में कोई ज्ञान नहीं था। सभी व्यक्ति प्राय: समान और एक से थे । किसी को किसी के साथ मिलकर कार्य करना भी नहीं आता था । उनकी अवस्था अनिश्चित असम्बद्ध समानता की कही जा सकती है ।

फिर शनै:शनै: उनके अनुभव, ज्ञान व विचार परिपक्व होते गए ओर सब मिलकर कार्य करने लगे। बाद में श्रम विभाजन की स्थिति भी आ गई । प्रत्येक व्यक्ति उस कार्य को करने लगा जिसे वह सबसे अच्छी तरह से कर सकता था ओर इस प्रकार सब मिलकर निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने लगे । यह स्थिति निश्चित सम्बद्ध भिन्नता की है ।

इस प्रकार स्पेन्सर ने उदविकसीय सिद्धान्त को प्रत्येक सामाजिक घटना के विकास को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया ।

8.8.3 टॉयलर - धर्म का उदविकासीय सिद्धान्त (Tylor's Evolutionary Theory of Religion)

टॉयलर ने धर्म की उत्पत्ति की उदविकसीय सिद्धान्त अपनी कृतियों, "रिसर्चेज इन द अर्ली, हिस्ट्री ऑफ मैनकाइण्ड, प्रिमिटिव कल्चर और "एन्थ्रोपोलॉजी" में प्रतिपादित किया है । आपके अनुसार आदिम समाज में धर्म की उत्पत्ति आत्मा (या जीव) में विश्वास से हुई है । आदिम मानव का विश्वास था कि मनुष्य की दो आत्माएँ होती है । (1) स्वच्छन्द आत्मा (Free Soul) और (2) शरीर आत्मा (Body Soul) । स्वच्छन्द आत्मा मनुष्य के शरीर से बाहर जा सकती है । तथा सभी प्रकार के अनुभव कर सकती है । दूसरी, शरीर आत्मा जब मनुष्य का शरीर स्थायी रूप से छोड़ देती है तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तथा उसकी आत्मा भूत या प्रेतात्मा बन जाती है । आदिवासियों के अनुसार शरीर आत्मा अमर है इसलिए मृत्यु के बाद भी मरे लोगों की आत्माएँ सपनों में दिखाई देती है ।

टॉयलर के अनुसार आत्माएँ अनेक है, इसलिये आत्माओं की पूजा के फलस्वरूप सर्वप्रथम बहुदेववाद का उदय हुआ । बहुदेववाद से एक देववाद की ओर धर्म का विकास हुआ । स्पेन्सर भी टॉयलर के मत के समर्थक हैं । स्पेन्सर का मानना था कि समस्त धार्मिक संस्कार, कृत्य आदि का उद्भव पूजा से हुआ है । और इन सबका आधार भय था । इनके अनुसार "सभी धर्मो की उत्पत्ति मरे हुए लोगों के डर कें कारण हुई है ।"

टॉयल के अनुसार धर्म तीन स्थितियों में से होकर गुजरा है । आदिम जनजातियों में धर्म का प्रथम रूप पूर्वजों की पूजा है जिसमें वे मृत आत्माओं की पूजा करते थे । धीरे -धीरे मनुष्य का विश्वास अनेक दैवी -देवताओं में हुआ। अंत में एक देवता को ही मान्यता दी गई । इस प्रकार धर्म के उद्विकास की तीन स्थितियाँ हैं -

1. पूर्वजों की पूजा (Anestrol Worship)
2. बहुईश्वरवाद (Polytheism)
3. एकेश्वरवाद (Monotheism)

इस प्रकार टॉयलर ने धर्म के उद्विकास के तीन चरणों में प्रस्तुत किया है ।

8.8.4 मार्गन का सिद्धान्त (Theory of Morgan)

मार्गन का नाम उद्विकास के सिद्धान्त में उल्लेखनीय है । उनका मानना है कि मानव जाति का इतिहास अपने उद्गम, अनुभव और प्रगति में एक है । आपके मत में विकासवाद का सरलता से धीरे -धीरे जटिलता में बदलने का सिद्धान्त मानव विकास और संस्कृति के विकास में भी सही चरितार्थ होता है ।

समाज व संस्कृति का उद्विकास (Evoloution of Society and Culture)

भूर्गन ने मानव समाज के उद्विकास के तीन स्तर बताय ।

1. आरण्यक या जंगली अवस्था (Savage Stage)
2. बर्बर अवस्था (Barbarian Stage)
3. सभ्य अवस्था (Civilized Stage)

इन्होंने प्रत्येक स्तर को निम्न, मध्य और उच्च तीन उपस्तरों में विभाजित किया है ।

1. **जंगली अवस्था -** मानव के सामाजिक जीवन की यह प्रथम अवस्था थी । इस समय मानव का जीवन संघर्षपूर्ण एवं कष्टमय था । मानव इतिहास में यह काल सबसे लम्बा था । मार्गन ने इस काल को तीन उपभागो में बाँटा है

(अ) जंगली अवस्था का निम्न स्तर: यह मानव की उत्पत्ति का काल था । इस अवस्था में मानव भोजन एवं निवास की खोज में घुमक्कड जीवन व्यतित करता था । वह कन्द मूल, फल तथा कच्चा मांस खाता था और पत्रों तथा छोंलों से तन ढँकता था । उसे यौन सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी । मानव पेड़ों व गुफाओं में रात्रि व्यतीत करता था ।

(ब) जंगली अवस्था का मध्य स्तर इस अवस्था का आरम्भ आग जलाने और मछली मारने की कला के साथ हुआ। अब वह मांस को भूनकर खाने लगा था । इसी समय सामूहिक जीव की शुरुआत हुई और छोटे -छोटे झुण्ड बनाकर रहने लगा । मार्गन ने आस्ट्रेलिया व पॉलीनेशिया की कुछ जनजातियों का उदाहरण देकर इस स्तर को स्पष्ट किया है ।

(स) जंगल अवस्था का उच्च स्तर: इस अवस्था का आरम्भ तीर व धनुष के अविष्कार के साथ हुआ। पारिवारिक जीवन की नींव इसी अवस्था में पड़ी । अभी भी यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई निश्चित नियम नहीं बने थे । इससे अवस्था में मानव ने पत्थर के हथियार एव औजारों का निर्माण कर लिया था । इसी युग में मानव समूह परस्पर सामूहिक रूप से संघर्ष भी करने लगे थे ।

(2) **बर्बर अवस्था:** इस अवस्था में मानव का सामाजिक जीवन पहले से कहीं उन्नत था । इसे भी मार्गन ने तीन उप स्तरों में बांटा है -

(अ) बर्बर अवस्था का निम्न स्तर: इस अवस्था में मानव ने बर्तन बनाने की कला का अविष्कार कर लिया था । अब मनुष्य का जीवन पहले से कहीं स्थिर था । यद्यपि झुण्ड अब भी घुमन्तू जीवन ही व्यतीत करते थे । इसी अवस्था में सम्पति की अवधारणा का उदय हुआ। एक समूह हथियार, स्त्रियाँ तथा बर्तन प्राप्त करने के लिये दूसरे समूह पर आक्रमण करता था। परिवार का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ परन्तु अभी भी यौन -स्वच्छन्तदा बरकरार थी ।

(ब) बर्बर अवस्था का मध्य स्तर: इस अवस्था में मानव ने पशुपालन एवं कृषि कार्य प्रारम्भ किया। वे अब स्थिर निवास बनाकर कृषि करने लगे थे । इस समय व्यक्ति सम्पत्ति की धारणा पनपी और सामाजिक स्थिति का निर्धारण सम्पति के आधार पर भी होने लगा था । वस्तु विनिमय की शुरुआत इसी काल में हुई । यौन सम्बन्धों में निश्चितता आने के कारण परिवार का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा थ । परिवार में स्त्रियों की स्थिति महत्वपूर्ण हो गई थी।

(स) बर्बर अवस्था का उच्च स्तर: इस अवस्था में मानव ने लौहे को गलाकर उससे औजार बनाना प्रारम्भ कर दिया था । इस अवस्था में यौन भेद पर आधारित स्त्री पुरूषों के बीच श्रम विभाजन पनपा । स्त्रियाँ घरेलू कार्य एवं पुरूष बाहरी कार्य करते थे । इस समय स्त्रियों को भी सम्पत्ति मान लिया गया था । छोटे -छोटे गणराज्यों की स्थापना हुई धातुओं के प्रयोग के कारण इसे धातु युग के नाम से भी जाना जाता है ।

(3) **सभ्य अवस्था** सामाजिक विकास का यह अन्तिम चरण है । इसके निम्नांकित तीन उपस्तर हैं ।

(अ) सभ्यता की निम्न अवस्था - इस अवस्था भाषा तथा लिखने की कला का विकास हुआ । भाषा व लेखन -कला के आविष्कार ने संस्कृति के संचरण को सरल बना दिया । यौन - सम्बन्धों के नियमन से पारिवारिक जीवन स्थिर व स्पष्ट हो गया । नगरीय सभ्यता का उदय व्यापार एवं वाणिज्य का विस्तार, कला व शिल्प कला का विकास इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ थीं ।

(ब) सभ्यता का मध्य स्तर, इस अवस्था मे उच्च पैमाने पर व्यापार व मशीनों का प्रयोग होने लगा । इस अवस्था में श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण पनपा राज्य के कार्यक्षेत्र का विकास हुआ, सरकार के कानून का विस्तार हुआ तथा मानव जीवन में सुरक्षा बढ़ी ।

(स) सभ्यता का उच्च स्तर : यह अवस्था यूरोपियन सभ्यता, पूंजीवाद व साम्यवाद के विकास की अवस्था है । इस स्तर का प्रारम्भ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से मानते है जब औद्योगिकरण के कारण आधुनिक जटिल एवं नगरीय सभ्यता का उदय हुआ । मशीनों की सहायता से तीव्र गति से बढ़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा, सम्पति का संचय बढ़ा श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण का विस्तार हुआ । व्यक्तिगत सम्पति की भावना व एकाधिकार ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया । वर्ग संघर्ष ने जोर पकड़, साम्यवादी विचारों का उदय हुआ एवं सम्पत्ति के समान वितरण पर बल दिया गया । प्रजातंत्र शासन को व्यापक समर्थन मिला ।

राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में स्वीकार किया गया । इस युग में अनेक भौतिक व अभोतिक आविष्कार हुए तथा कला धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान सभी में अभूतपूर्व प्रगति हुई । मानव ने अन्तरिक्ष में प्रवेश किया और आज भी वह प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

8.8.5 सोरोकिन का सिद्धान्त

सोरोकिन रूसी -अमरीकन समाजशास्त्री है । आपने कृति "Social and Culture Dynamic" में सामाजिक उद्विकास को उतार चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डुलम की भांति एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच गुजरता हुआ माना है । उन्होनें प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों - भावात्मक एवं चेतनात्मक का उल्लेख किया है । प्रत्येक समाज व संस्कृति इन दो धुरियों के बीच झूलता रहता है, अर्थात् चेतनात्मक से भावात्मक की और तथा भावात्मक से चेतनात्मक की और आता जाता रहता है । एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है । इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते है । विभिन्न संस्कृतियों के दौर से गुजरने पर समाज में भी परिवर्तन आता है । इसे हम एक चित्र द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं ।

सोरोकिन द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक परिवर्त का क्रम

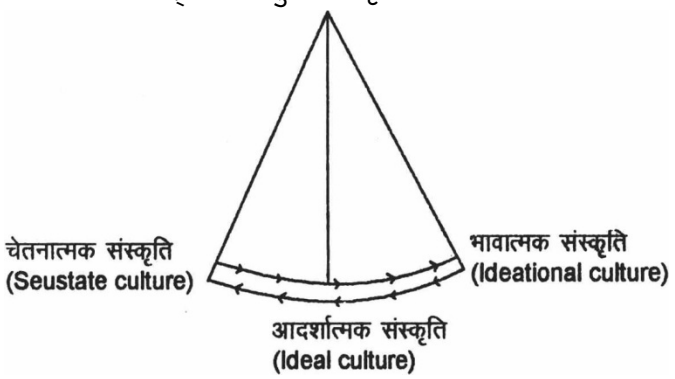

यहाँ हम तीनों प्रकार की संस्कृतियों की विशेषताओं का सक्षेप में उल्लेख करेंगे ।

(i) **चेतनात्मक संस्कृति (Sensate Culture):** इसे हम भौतिक संस्कृति भी कहते हैं । इस संस्कृति का संबंध चेतना अथवा इन्द्रियों से होता है । इस प्रकार की संस्कृति में ऐन्द्रिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है ।

इस संस्कृति में वैज्ञानिक आविष्कारों प्रौद्योगिकी, भौतिक एवं विलास की वस्तुओं का अधिक महत्व होता है । इसमें धर्म, नैतिकता, प्रथा परम्परा एवं ईश्वर आदि को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है । व्यक्ति एवं सामूहिक पक्ष भी चेतनात्मक संस्कृति के रंग में रंगे होते हैं । पश्चिमी समाज ऐसी ही संस्कृति का उदाहरण है ।

(ii) **भावात्मक संस्कृति (Ideational Culture) :** यह चेतनात्मक संस्कृति की बिल्कुल विपरित होती है । इसका सम्बन्ध धर्म ईश्वर, भावना, आत्मा व नैतिकता से होता है । यह अध्यात्मवादी संस्कृति भी कही जा सकती है । इसमें इन्द्रिय सुख के स्थान पर अध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्व दिया जाता है । विचार, आदर्श, कला,

साहित्य, दर्शन एवं कानून सभी धर्म एवं ईश्वर की प्रमुखता पायी जाती है, प्रथा ओर परम्परा पर अधिक बल दिया जाता है। इस संस्कृति में प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान पिछड़ जाता है ।

(iii) **आदर्शात्मक संस्कृति (Ideal Culture):** यह संस्कृति भावात्मक एवं चेतनात्मक दोनों का मिश्रण होती है, अत: इसमें दोनों की विशेषताएँ पाई जाती है । इसमें धर्म एवं विज्ञान, भौतिक एवं आध्यात्मक सुख दोनों का सन्तुलित रूप पाया जाता है । सोरोकिन इस प्रकार की संस्कृति को ही उत्तम मानते हैं, और इसी कारण वे इसे आदर्शात्मक संस्कृति कहते है ।

सोरोकिन का मानना है कि विश्व की सभी संस्कृतियाँ चेतनात्मक और भावात्मक संस्कृति के झूले मे झूलती रहती है । प्रत्येक संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर पुन: दूसरे प्रकार की संस्कृति की और लौट जाती है । सोरोकिन का मानना है कि चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृतियाँ परिवर्तन की केवल सीमाएँ है, समाज में अधिकांश समय तो आदर्शवादी संस्कृति ही प्रचलित रहती है । जैसा कि उपरोक्त रेखा चित्र से भी स्पष्ट है । फिर प्रश्न यह उठता है कि संस्कृति में यह परिवर्तन क्यों होता है, सोरोकिन इसका कारण प्राकृतिक नियम एवं संस्कृति के आन्तरिक कारण को मानते हैं । क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अत: संस्कृति मे परिवर्तन भी इसी नियम के कारण होता है । साथ ही, संस्कृति की आन्तरिक परिस्थितियाँ भी उसमें परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती है । सोरोकिन ने कहा है कि बीसवीं सदी की पश्चिम सभ्यता चेतनात्मक संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गयी है, अत: अब वह पुन: भावात्मक संस्कृति की और लौट जायेगी । संस्कृति मे आये परिवर्तन का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है ।

8.8.6 स्पेंगलर का सिद्धान्त (Theory of Spengler)

स्पेंगलर ने 1918 ई. में अपनी प्रसिद्ध कृति "The Decline of The Wear" में सभ्यताओं के उत्थान और पतन के चक्र को प्रस्तुत किया और उद्विकास का चक्रिय रूप दर्शया। आपने लिखा है, कि जिस प्रकार से एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आती है, उसी प्रकार से समाज और संस्कृतियों में भी उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश के रूप में उद्विकास का चक्र चलता रहता है । आपका मानना है कि उद्विकास एक सीधी रेखा में नहीं होकर एक चक्रीय क्रम में होता है ।

स्पेंगलर ने सामाजिक उद्विकास के चक्रिय क्रम को सिद्ध करने के लिये विश्व की आठ सभ्यताओं अरब मिश्र, आमेजियन माया रूसी और पश्चिमी संस्कृतियों के उत्थान और पतन का विवेचन किया है । उन्होनें लिखा है कि ये सभी सभ्यताएँ विकास के समान स्तरों से गुजरी है। ये स्तर है। बचपन, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था । इस प्रकार से शरीर की भाँति ही प्रत्येक समाज जन्म, बचपन, जवानी, परिपक्व, पतन और सड़न की स्थितियों से गुजरता है । समाज के उदय होते हुए स्वरूप को वह संस्कृति कहता है ओर पतन की और जाती स्थिति को सभ्यता कहता है।

आपने लिखा है पश्चिमी सभ्यता अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है । लेकिन अब धीरे -धीरे यह क्षीणता की स्थिति में पहुँच रही है । आपके अनुसार इनका विनाश

अवश्यम्भावी है । आपने लिखा है कि जर्मन संस्कृति भी अपने विकास के चरम सीमा पर पहुँच गई और अब इसका पतन निकट और अवश्य भी सम्भावी है । द्वितीय विश्व युद्ध के समय इनकी भविष्यवाणी सत्य प्राय: लगी । स्पेंगलर ने लिखा है कि भविष्य में पश्चिम समाजों के प्रभाव नष्ट हो जाएँगे और उनका स्थान एशिया के पिछड़े समाज लेंगे । एशिया के अब तक पिछड़े समाज भविष्य में अपनी आर्थिक और सैनिक शक्ति के द्वारा निर्माण एवं प्रगति करेंगे ।

स्पेगलर के अनुसार समाज जब 'संस्कृति' की अवस्था में होता है तो उसकी आत्मा लोक आत्मा (Folk Spiriti) का निर्माण करती है तथा इस अवस्था में ही निर्माण की क्रियाएँ होती है । समाज के आकार में ज्यों -ज्यों वृद्धि होती है, त्यों -त्यों कैन्सर की भांति नगरों का विकास होता है । ये नगर अपने निर्माणकर्ता के ही खून और आत्मा की बली देते है सभ्यता की आत्मा के फूलों को नष्ट करते है और अन्त में वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं ।

8.8.7 टॉयनबी का सिद्धान्त (Theory of ToyanBee)

अंग्रेज इतिहासकार आरनोल्ड टॉयनबी (Arnold Tobnbee) ने अपनी पुस्त "A Study of History" में विश्व की प्रमुख इक्कीस सभ्यताओं का अध्ययन कर उनमें विकास के समान प्रतिमानों को ढूंढा तथा उनके उदविकासीय इतिहास का उल्लेख किया है । उनके सिद्धान्त को चुनौती और प्रत्युतर का सिद्धान्त (Theory of Challenges and Respones) कहा जाता है । आपने लिखा है कि प्रत्येक सभ्यता को प्रारंभ में मानव और प्रकृति के द्वारा चुनौती दी जाती है मानव इन चुनोती के प्रत्युत्तर में सभ्यता और संस्कृति का निर्माण करता है । सभ्यता एवं संस्कृति के निमार्ण के बाद मानव को सामाजिक और राजनीतिक चुनौतियों का सामना करने के लिये अनुकूलन करता है तथा चुनौतियाँ दी जाती है । ये चुनौतियाँ समाज की आन्तरिक समस्याओं के रूप मे होती हैं अथवा बाह्य समाजों द्वारा दी जाती हैं । टॉयनबी ने लिखा है कि जो समाज इन चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर लेते हैं वे समाज जीवित रह जाते हैं, और सफलतापूर्वक सामना नहीं कर पाते, वे नष्ट हो जाते हैं । आपने लिखा है इस प्रकार से समाज, संस्कृति या सभ्यताएँ विकास, स्थिरता और पतन के चक्रीय क्रम में विकसित होती रहती है । आपके अनुसार समाज संगठन और विघटन एवं विकास एवं विनाश के चरणों से होकर गुजरता रहता है । टॉयनबी कहते है कि सभी समाज ऐतिहासिक जीवन में चक्रीय रूप से गति करते रहते है । प्रत्येक संस्कृति विकास के अपने चरम बिन्दु पर पहुँचती है, विकास के दौरान प्रत्येक अगला चरण पिछले चरण की तुलना में अच्छा होता है ।

टॉयनबी की मान्यता है कि जो सभ्यताएँ चुनौतियों का प्रत्युतर दे पाई वे विकसित हुई तथा जो प्रत्युतर नहीं दे पाई वे नष्ट प्राय: हो गई । आपके अनुसार मिश्र और सिन्ध की सभ्यताएँ भी इसी प्रकार विकसित हो नष्ट प्राय: हो गई । आपने लिखा है कि समाज के प्रथम टूटने के समय जब समाज चुनौती का असफल उत्तर देता है तो वह चुनौती बार -बार समाने आती है । और उसके साथ -साथ अनेक चुनोतियाँ उठ खड़ी होती हैं । जो समाज की स्थिति को बद से बदतर बना देती हैं । इसके प्रभाव से अनेकीकरण प्रारंभ हो जाता है और सभ्यता का अन्त हो जाता है

8.8.8 हेड्डन का सिद्धान्त (Theory of Hadon)

एच.सी. हेड्डन ने कला का उद्विकासीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया । उन्होंने कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक व ज्यामितिक तीन स्तरों से माना है । उसके अनुसार प्रारंभ में मानव प्राकृतिक दृश्यों को त्यों -त्यों चिंतित करता था । फिर उसने प्रतीकों के माध्यम से वस्तुओं को इंगित किया । विकास के तीसरे स्तर पर उसने रेखाचित्रों के माध्यम से कला का प्रदर्शन किया ।

इस प्रकार हम देखते है कि विभिन्न विद्वानों ने मानव समाज के अलग -अलग पक्षों को उद्विकासीय उपागम के सहारे समझने का प्रयास किया ।

8.09 आर्थिक जीवन का उद्विकास

मानव के आर्थिक जीवन का उद्विकास निम्नांकित चार स्तरों से हुआ हैं

1. **शिकार करने व भोजन एकत्रित करने का स्तर (Hunting and Food gathering stage)**

मानव अपने आर्थिक जीवन के प्रारम्भिक स्तर में शिकार करके, मछली मारकर तथा जंगलों मे कन्दमूल, फल, पत्ते, शाक, सब्जियाँ, जड़े व छाले आदि इकट्ठा कर जीवन यापन करता था पेट भरने के लिये वह घुमन्तू जीवन जीने को मजबूर था ।

2. चारागाह स्तर (Pastoral Stage)

इस स्तर पर मानव ने पशुओं को पालना शुरू कर दिया । वह पशुओं से प्राप्त दूध, मांस, खाल, बाल, ऊन व हड्डियों से अपना जीवन यापन करने लगा । पशुओं से वह बोझा ढोने व सवारी का काम भी लेने लगा । मानव के जीवन में इस समय कुछ स्थिरता आई क्योंकि जब तक एक स्थान पर चारे व पानी की व्यवस्था होती, वह वही रहता है, घास समाप्त होने पर अन्यत्र चला जाता है ।

3. कृषि स्तर (Agricultural Stage)

इस अवस्था में मानव ने बीज बोकर पेड उगाना व कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया था । वह फल -फूल व सब्जियाँ पैदा करने व बाग लगाने लग गया था । चूकि कृषि के लिये एक स्थान पर लम्बे समय तक रहना होता है, अत: इस समय मानव जीवन मे स्थिरता आई और वह झोंपड़े तथा गांव बना कर रहने लगा । भूमि को सम्पति माना गया तथा इस समय वस्तु विनिमय की प्रथा का प्रचलन हुआ ।

4. औद्योगिक स्तर (Technological Stage)

इस युग में मानव ने मशीनों विज्ञान के सहारे उत्पादन के अनेक यन्त्रों का निर्माण किया । उत्पादन में मानव व पशु शक्ति के स्थान पर जड़ शक्ति (कोयला पेट्रोल, बिजली) का प्रयोग करने लगा तथा उत्पादन बड़े पैमाने पर और तीव्र गति से होने लगा । बड़े -बड़े कारखाने एवं फैक्ट्रियों में उत्पादन कार्य होने लगा । मुद्रा विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव आर्थिक सहयोग बढ़ा । वर्तमान में मनुष्य इसी अवस्था में जीवन यापन कर रहा है ।

8.10 पारिवारिक जीवन का उद्विकास

बैकोफन तथा मार्गन ने परिवार के उदविकासीय क्रम को प्रस्तुत किया है । बैकोफन का मत है कि प्राथमिक अवस्था में पारिवारिक जीवन शिथिल और अनिश्चित था । उस समय समाज में कामाचार की स्थिति थी, अत: पितृत्व अनिश्चित था । धीरे -धीरे इस अवस्था में परिवर्तन आया और बहुपति - विवाही परिवारों की स्थापना हुई । जब जीवन यापन के साधनों में वृद्धि हुई तो बहुपत्नी विवाही परिवारों का प्रचलन बढ़ा । सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ -साथ विवाह एवं परिवार से सम्बन्धित विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, स्त्री, पुरूष के समान अधिकारों की धारणा विकसित हुई तथा एक विवाही परिवारों की स्थापना हुई ।

लुईस मार्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नांकित पाँच स्तरों का उल्लेख किया है

1. **समरक्त परिवार (Consanguine Family) :** प्रारम्भिक अवस्था में यौन सम्बन्धों को स्थापित करने के कोई नियम नहीं थे । कामाचार की स्थिति थी । यहाँ तक कि भाई बहनों में परस्पर भी यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे । इसलिए ऐसे परिवार को समरक्त परिवार कहा गया ।

2. **समूह परिवार (Punaluan Family) :** इस प्रकार के परिवार में एक परिवार के सभी भाईयों का विवाह दूसरे परिवार की सभी बहनों से होता था । इसमें प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति होता था तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरूषों की पत्नी ।

3. **सिण्डेस्मियन परिवार (Syndamsmian Family)** : इस प्रकार के परिवार में एक व्यक्ति का विवाह एक स्त्री से होता था । परन्तु वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों से यौन सम्बन्ध रख सकता था ।

4. **पितृसत्तात्मक परिवार (Partriarchal Family) :** इस अवस्था में परिवार पर पुरूष का अधिपत्य था । वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था । स्त्री की तुलना में उसके अधिकार अधिक थे ।

5. **एक विवाही परिवार (Monogamsou Family) :** परिवार के उदविकासीय क्रम में यह अन्तिम स्तर है जो वर्तमान में अधिकांश समाजों में चल रहा है । इसमें एक पुरूष एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करता है । यह स्त्री पुरूष की समानता पर आधारित है ।

8.11 उद्विकास के स्वरूप

उदविकासवादियो ने उद्विकास के प्रमुख चार स्वरूपों का उल्लेख किया है - समरेखीय बहुरेखीय चक्रीय या पैराबोलिक तथा सार्वभौमिक ।

8.11.1 समरेखीय उद्विकास (Unilinear Evolution)

प्रारम्भि उदविकासवादियों की मान्यता थी कि समाज का उद्विकास एक सीधी रेखा में एक निश्चित क्रम से हुआ है । विश्व के सभी समाज और संस्कृतियाँ कुछ निश्चित स्तरों से होकर प्रगति की और बढ़ रही हैं तथा उनका अन्तिम उदेश्य अन्तिम पूर्णता की स्थिति (Final Stage of Perfection) को प्राप्त करना है । इनकी तीन विशेषताएँ हैं -

1. उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वृद्धि और विकास एक ही दिशा में होता है, और जिन चरणों मे होकर एक बार गुजर जाते हे, पुन: लोटकर वहाँ नहीं पहुँचा जा सकता ।
2. प्रत्येक समाज विकास के कुछ निश्चित चरणों से गुजरता है ।
3. उद्विकास की प्रगति निहित है, तथा प्रत्येक अगला चरण पिछले चरण से उच्च एवं उत्तम समझा जाता है ।

विभिन्न स्थानों पर समान रूप से उद्विकास के कारण मानव की मानसिक एकता (Psychictunity of Making) है । इसका अर्थ है यदि मनुष्यों को समान पर्यावरण मिले तो वे समान रूप से सोचेंगे । यही कारण है कि विभिन्न स्थानों पर सामानान्तर आविष्कार (Parallel Invention) हुए हैं । समरेखीय उद्विकास को मानने वाले विद्वानों में मार्गन, कॉम्ट, बैकोफन, टायलर, हेड्डन, लेविब्रुहल आदि प्रमुख हैं । समरेखीय उद्विकास समाज, संस्कृति, धर्म, आर्थिक जीवन, परिवार, विवाह एवं भाषा आदि के विकास के कुछ निश्चित स्तरों व क्रम का उल्लेख करते है । उदाहरण के लिए मार्गन समाज का विकास जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था व सभ्य अवस्था से मानते हैं । मार्गन ने ही परिवार के उद्विकास के पाँच स्तरों - समरक्त परिवार, समूह परिवार, सिण्डेस्मियन परिवार, पितृसत्तात्मक परिवार तथा एक विवाही परिवार का उल्लेख किया है । टॉयलर धर्म का उद्विकास बहुदेववाद से एकदेववाद की और मानते हैं । आर्थिक जीवन का विकास शिकारी, पशुपालन, कृषि और प्रोध्योगिक अवस्थाओं से हुआ है । कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक एवं ज्यामितीय स्तरों से हुआ है कोई भी समाज संस्कृति उद्विकास के किस स्तर पर इसका मूल्याँकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि वे किस अवस्था को पार कर चुके है ।

8.11.2 बहुरेखीय उद्विकास (Multilinear Evolution)

जूलियन स्टीवर्ड ने उद्विकास के समरेखीय सिद्धान्त के स्थान पर बहुरेखीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता है कि विश्व के सभी समाज और संस्कृतियाँ उद्विकास के समान स्तरों से नहीं गुजरे हैं वरन् भिन्न -भिन्न क्षेत्रों में भिन्न -भिन्न क्रम रहा है ।

स्टीवर्ड ने पेरन, अमरीका मेसोपोटामिया, मिस्त्र और चीन की संस्कृतियों और समाजों का अध्ययन करके बताया है कि ये सभी विभिन्न क्रमों से उद्विकसित होकर समान अवस्थाओं में पहुँची है बहुरेंखीय उद्विकासवादियो का मत है कि उद्विकास का कोई एक ही क्रम न होकर अनेक क्रम हैं । उदाहरण के लिये, एक समाज पहले पशुपालन अवस्था में रहकर फिर शिकारी कृषि व औद्योगिक अवस्था को प्राप्त कर सकता है । परिवार बहुपति, बहुपत्नी विवाही, समूह विवाह से एक विवाही की स्थिति में पहुँच सकता है । इस प्रकार बहरेखीय उदविकासवाद का जन्म समरेखीय उदविकासवाद की आलोचना के रूप में हुआ।

8.11.3 चक्रीय या पैराबोलिक उद्विकास (Ciruluar Parabolic Evolution)

इस प्रकार के उद्विकास में विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है कि उद्विकास एक सीधी रेखा में न होकर एक चक्र के रूप में एक घड़ी के पेण्डुलम की तरह कभी इधर तो कभी स्थिर या उतार चढ़ाव के क्रम में होता है । उद्विकास से सम्बन्धित यह मत सबसे बाद में

आया । अत: इन्हें नव उदविकासवादी भी कहा जाता । लेसली वाइट, स्पेंगलर, सोरोकिन, टॉयनबी आदि इस प्रकार के विचारकों में प्रमुख है । लेसली वाइट का मत है कि उद्विकास एक सीधी रेखा में न होकर अनुव्रत वक्र रेखा (Parabolik Curve) के रूप में होता है । पैराबोला का तात्पर्य घोड़े के खुर में ठोकी जाने वाली नाल से है जिसकी आकृति कोष्ठक में दिये गये चित्र (0) के समान होती है । पैराबोला के रूप में उद्विकास को हम नीचे दिये गये क्रम द्वारा भी समझ सकते है ।

प्रथम स्तर

1. सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार
2. वस्त्रों का अभाव
3. यौन अनाचार

द्वितीय स्तर

1. सम्पति पर व्यक्तिगत अधिकार
2. सारे शरीर पर वस्त्र धारण करना
3. एक -विवाह

तृतीय स्तर

1. राज्य का सम्पति पर सामूहिक अधिकार
2. नग्नतावाद, एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में
3. यौन स्वच्छन्ता की तर्क द्वारा पुष्टि

इस विचारधारा के अनुसार कोई भी सामाजिक संस्था एक विशिष्ट रूप में प्रारंभ होती है । धीरे -धीरे वह इसके विपरीत दिशा की ओर विकसित होती है और आगे चलकर पुन: अपने मूल रूप की ओर मुड जाती है, किन्तु एक नये और उच्च रूप में । इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं, जैसा प्रारंभ में सामूहिक सम्पति पायी जाती थी, धीरे -धीरे व्यक्तिगत सम्पति का महत्व बढ़ा और आज पुन: राज्य के द्वारा सम्पति पर सामूहिक अधिकार की धारणा पनपी है। इसी प्रकार से प्रारंभ में मानव वस्त्रों के अभाव में नंगा रहता था एक समय ऐसा आया जब वह पूरे शरीर को वस्त्र से ढकता था और आज पुन: फैशन के नाम पर वह कम से कम वस्त्र पहनने लगा है । इसी प्रकार से प्रारंभ में यौन अनाचार की स्थिति थी, फिर एक विवाह का प्रचलन बढ़ा और आज पुन: यौन स्वच्छन्दता की दलील दी जाने लगी है ।

स्पेंगलर, सोरोकिन, टॉयनबी आदि विद्वानों ने मानव -सभ्यता के उद्विकास के चक्रीय क्रम को अपने -अपने तरीके से स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिसकी चर्चा हम विस्तार से कर चुके हैं ।

8.11.4 सार्वभौमिक उद्विकास

उद्विकास के इस उपागम के अनुसार मानव समुदायों का विकास सरलता से जटिलताओं की ओर हुआ है । यह उद्विकास के निश्चित चरणों या समरेखीय उद्विकास में विश्वास नहीं करता है और न ही यह इस बात को मानता है कि सभी समाज विकास के समान

स्तरों से गुजरते हैं । सार्वभौमिक उद्विकास का सिधान्त यह मानता है कि संपूर्ण मानव समाज का उद्विकास हुआ है किन्तु विभिन्न संस्कृतियो में इसके परिणाम और स्वरूप अलग -अलग रहे है । स्पेन्सर सार्वभौमिक उदविकासवादी विचारक है, जो उद्विकास को समानता से असमानता की और समरूपता से बहुरूपता की और परिवर्तित मानते हैं । दुर्खिम भी मानते हैं कि समाज का उद्विकास यांत्रिक एकता से सावयवी एकता की और हुआ है । टॉनिज ने समाज का विकास जैमिनशाफ़्ट (Gemien Schaft) से जैसेलशाफ़्ट (Gessell Schaft) और माना है । जेमिनशाफ़्ट समाज में प्रकृति की इच्छा एकता एवं पवित्र परम्परा का प्रभुत्व रहता है, जबकि जैसेलशाफ़्ट समाज में तार्किक इच्छा व्यक्तिगत स्वार्थ एवं समझौते के सम्बन्धों का बाहुल्य होता है । रेडफीलड ने समाज के उद्विकास को लोक समाज से नगरीय समाज (From Folk Society to Urban Society) की और माना है । लोक समाज जब नगरीय समाज में परिवर्तित होता है, तो उसके आकार और जटिलता में वृद्धि होती है, प्रकार्यात्मक विशेषीकरण में वृद्धि होती है, प्रौद्योगिकी में सुधार होता है, समझौते पर आधारित सम्बन्ध विकसित होते है, पारस्परिक निर्भरता एवं सामाजिक एकता में वृद्धि होती है ।

8.12 उद्विकास सम्प्रदाय की समालोचना (Criticism of Evolutionary School)

उदविकासवादियो ने सामाजिक उद्विकास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु अनेक सम्प्रदायों तथा वैज्ञानिकों ने इनकी आलोचना की है -

1. **सर्वप्रथम प्रसारवाद के विभिन्न सम्प्रदायों** - ब्रिटिश जर्मन और अमरीकन प्रसारवादियो ने उद्विकासीय सम्प्रदाय की आलोचना की थी । इनकी प्रमुख आपत्ति उदविकासवाद की तीन मान्यताओं - 1 एक मार्गी उद्विकास 2 मानव की मानसिक एकता तथा 3 आविष्कार के विरूद्ध थी । उनका कहना था कि संस्कृतियों का विकास या संवर्द्धन संस्कृतियो के प्रसार द्वारा भी होता है । उनका मानना था कि विभिन्न समाजों के विकास के क्रमों में भिन्नता, समानता आदि का कारण संस्कृति के आविष्कार के साथ -साथ उसका प्रसार होना भी है । गोल्डन वीजर (Golden Weiser) का मत है कि उदविकासवादियों ने प्रसार (Diffusion) के महत्व को नजरअंदाज किया है । उनका मानना है कि जब दो समाजों में संस्कृतियाँ संपर्क में आती है, तो वे सांस्कृतिक तत्वों का आदान -प्रदान करती हैं, जिससे दोनों संस्कृतियाँ समृद्ध होती है ।
2. उदविकासवादियो का यह कहना सत्य नहीं है कि सभी समाजों का उद्विकास समान प्रक्रिया द्वारा हुआ है । प्रत्येक समाज अलग -अलग परिस्थितियों की देन होता है, अत: सभी समाजों का उद्विकास एक ही प्रक्रिया से मानना तर्कसंगत नहीं है ।
3. रेडेक्लिफ ब्राउन और मैलिनोवस्की जैसे प्रकार्यवादी भी उदविकासवादियो की यह बात तो मानते कि विकास सरल से जटिल अवस्था की और होता है । परन्तु वे यह बात नहीं मानते की विकास चरणों से होकर गुजरता है । उनके अनुसार इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनमें समाज बिना निश्चित चरणों के ही सरल अवस्था से जटिल अवस्था में विकसित हो गये है ।

4. प्रकार्यावादी यह भी नहीं मानते है कि सरल, सादा और छोटे आदिम समाज आज के विकसित, जटिल और वृहद विकसित समाजों के कम विकसित रूप है । आदिम समाज विकास के क्रम के उदाहरण नहीं हैं । विषम परिस्थितियों के कारण विकास नहीं कर पाए तथा भविष्य में भी इनका विकास निश्चित चरणों से होना आवश्यक नहीं है ।
5. मैकाइवर एंव पेज का मानना है कि समाज का उद्विकास जीवों की भाँति नहीं होता है । सामाजिक उद्विकास में मानव का प्रयत्न महत्वपूर्ण होता है जबकि जीवों के उद्विकास में प्राकृतिक शक्तियाँ ही सब कुछ होती हैं ।
6. गिन्सवर्ग का मत है कि उद्विकास एक सरल स्थिति से जटिल स्थिति में होने वाला परिवर्तन है यह धारणा एक गंभीर विवाद का विषय है । क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक परिवर्तन के साथ सामाजिक जीवन जटिल होगा ही । मानव अपने ज्ञान एवं विज्ञान के सहारे जटिलता को सरल बानने का प्रयत्न करता है । जटिलता की संभावना हो सकती है, परन्तु यह अनिवार्यता नहीं है ।
7. नेडेल का मत है कि उद्विकास उन अवधारणाओं में से है जिन्हें प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । उद्विकास के कोई स्पष्ट नियम नहीं है । उद्विकास की अवधारणा की आवश्यकता सिर्फ इसलिये है कि हमारी दार्शनिक अन्तरात्मा की संतुष्टि करती है ।
8. ऑगबर्न उद्विकास की अवधारणा को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते । वे लिखते हैं, "उद्विकास ने वंशानुक्रम के नियम की उपलब्धि के प्रयास, सामाजिक संस्थाओं के विकास एवं परिवर्तन तथा चयन में थोड़े से ही सार्थक और महत्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किए है ।
9. उद्विकास आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है किन्तु वे आन्तरिक शक्तियाँ कौन सी है जो इसके लिये उत्तरदायी हैं, उनका उल्लेख उद्विकासवादियो ने नहीं किया है ।
10. उदविकासवादियों की अध्ययन पद्धति भी दोषपूर्ण हैं । वे आराम तलब वैज्ञानिक (Arm Chair Scientists) थे प्रत्यय अवलोकन के स्थान पर उन्होंने अनुमान एवं यात्रियों के वर्णन को ही सही माना ।
11. मार्गन तथा अन्य उद्विकासवादियों ने संस्कृति तथा समाज के विकास के क्रम को निश्चित करने में अवशेषों को प्रमाणों के रूप में प्रस्तुत किया है । मैलिनोवस्की ने वर्गीकृत संज्ञाओं को मार्गन की तरह अवशेष नहीं माना हैं मेलिनोवस्की का कहना है कि आज भी समाजों के क्षेत्र को निर्धारित करने में वर्गीकृत संज्ञाओं की निर्णायक भूमिका है । इसी प्रकार से क्लुखॉन की मान्यता है कि कोट की बाँहों के बटन फैशन के अंग हे । उनके नहीं लगाने से अटपटा सा लगता है । निकर्षत: यह कहा जा सकता है कि उदविकासवादियो ने अनेक अवशेष जो प्रमाणों के रूप में प्रस्तुत किए हैं वो सांस्कृतिक जगत में विवादास्पद हैं जिसका उन्हें ध्यान रखना चाहिए था ।

उपयुक्त कमियों के बावजूद भी उद्विकास की अवधारणा ने समाज एवं संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन करने मे महत्वपूर्ण योग दिया है । मैकाइवर कहते हैं कि, "विभिन्न अवस्थाओं को एक -दूसरे से पृथक करने में इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।" उद्विकासीय सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि समाज कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् यह लम्बे एवं क्रमिक उद्विकास का परिणाम है । किन्तु समकालीन समाज -

वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन उदविकासीय ढंग से करना लगभग त्याग दिया है । इसमें एक कठिनाई ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने का भी है ।

8.13 सारांश

समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा प्राणीशास्त्र से ग्रहण की गयी है । डार्विन के उदविकासीय सिद्धान्त का इस पर खास प्रभाव पड़ा । इस सिद्धान्त में इन्होंने प्रतिपादित किया कि जीवों के सरलता से जटिलता तथा समानता से भिन्नता की ओर हुआ हैं । डार्विन के इस उद्विकास सिधान्त के मान्यताओं को उस समय के समाज वैज्ञानिकों ने समाज के अध्ययन में भी लागू किया । इनमें स्पेन्सर, कॉम्ट, दुर्खीम, टॉयलर, मार्गन, स्पेंगलर, सोरोकिन हेडडन, लेवी ब्रहुल आदि प्रमुख है । सामाजिक उद्विकास की इस प्रक्रिया में आविष्कार संचय, प्रसार तथा सामंजस्य प्रमुख कारक रहे हैं । इस इकाई में सामाजिक उद्विकास की विभिन्न मान्यताओं उदविकासीय उपगम के प्रमुख प्रतिपादकों और उनके योगदान को विस्तार से दर्शाया गया है । मानव समाज के आर्थिक जीवन के उद्विकास, समाज एवं परिवार के उद्विकासीय क्रम को भी समझाया गया है, साथ ही उदविकासीय समुदाय की क्या आलोचनाएँ हुयी, इसे भी समझाया गया है । उदविकासीय उपागम ने समाज एवं संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

8.14 शब्दावली

उद्विकास	Evolution
सामाजिक उद्विकास	Social Evolution
आविष्कार	Invention
संचय	Accumulation
प्रसार	Diffusion
अवशेष	Survivals
समरेखीय उद्विकास	Unilinear Evolution
बहुरेखीय उद्विकास	Multicinear Evolution
चक्रिय या पैराबोलिक उद्विकास	Cyclic or Parabolic Evolution
सार्वभौमिक उद्विकास	Universal Evolution

8.15 बोध प्रश्न

1. उद्विकास से आप क्या समझते हैं? उद्विकास की दो विशेषताओं को लिखिए ।
2. सामाजिक उद्विकास के प्रमुख कारक कौन से है?
3. सामाजिक उद्विकास से आप क्या समझते हैं?
4. उद्विकास उपागम की कोई दो मान्यताएँ लिखिए । कॉम्ट ने सभ्यता के विकास के कौन से तीन चरण बतलाये हैं।
5. मानव के आर्थिक जीवन का उद्विकास किन चार स्तरों से हुआ हैं?

6. उद्विकास के प्रमुख स्वरूप कौन से है?
7. उद्विकास को परिभाषित कीजिए एवं इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
8. सामाजिक उद्विकास क्या हैं? इसके प्रमुख कारकों का वर्णन कीजिये ।
9. उद्विकास सिद्धान्त के प्रमुख अभ्युगामी (मान्यताओ) का विश्लेषण कीजिये ।
10. उद्विकास सिद्धान्त के किन्हीं दो प्रमुख प्रतिपादकों के योगदानों का वर्णन कीजिए ।
11. मार्गन के समाज व संस्कृति के उदविकासीय सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।
12. मानव के आर्थिक एवं पारिवारिक जीवन के उद्विकास का वर्णन कीजिए ।
13. उदविकासीय सम्प्रदाय की समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।

8.16 सन्दर्भ ग्रंथ

1. Maciver R.M. & Page,C.H.,"Society" Macmilion &co.(1959)
2. Davis K.,"Human Society", Macmillion & Co, New York.
3. Bogardus, E. M,"Sociology"
4. Abraham, Francis M,Modern Sociological Theory An Introduction,Oxford University Press,1988.

5. Haralambos M.& Herld,R.M,"Sociology"Themes and Perspectives" Oxford University Press,1980.
6. Turner,Jonathan H,"The Structure of Socilogicalk Theory",The Dorsey Press,1987.
7. Timasheff,Nicholas S,"Sociological theory: its Nature and Growth",Random House,New York,1967.
8. Coser,L.A & Rosenbung B(eds),"Sociological Theory : A Book of Readings",Macmillion,New York,1976.
9. Ogburn,W.F,"Social Change",New York,1923.
10. Johnson,Harry M."Sociology : A Systematic Introduction" Allied Publishers 1960.

इकाई-9

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.01 प्रस्तावना
9.02 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के परिप्रेक्ष्य
9.03 संरचना का अर्थ तथा अवधारणा
9.04 संरचना पर कुछ समाजशास्त्रियों के विचार
9.05 प्रकार्यात्मक विश्लेषण
9.06 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम
9.07 सरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के प्रमुख समाजशास्त्री
9.08 सारांश
9.09 शब्दावली
9.10 बोध प्रश्न
9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के बाद आप

- समाजशास्त्र में सरंचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम को समझ सकेंगे ।
- इस उपागम में विभिन्न समाजशास्त्रियों के योगदान की समीक्षा कर सकेंगे ।
- संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम से संबधित किये गये अध्ययनों के बारे में जान सकेंगे ।
- अन्य प्रचलित उपागमों मे संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक के स्थान को समझ सकेंगे ।

9.01 प्रस्तावना

किसी भी सामाजिक विज्ञान का प्राथमिक उद्देश्य अपने अध्ययनों के माध्यम से समाज की स्थिति का वास्तविक अध्ययन है । जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति के रहस्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते है । ठीक उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य सामाजिक जीवन के संचालन के रहस्यों को समझना है । यह आवश्यक है कि इन अध्ययनों के स्वरूप वैज्ञानिक हो । यह माना जाता रहा है कि इस प्रकार के वैज्ञानिक तथ्य ही किसी शास्त्र को न केवल वैज्ञानिक आधार प्रदान कर सकते हैं, साथ ही साथ किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष को प्राप्त कर सकते है । वैज्ञानिकता की इसी आवश्यकता के आधार पर अनेक वैज्ञानिक पद्धतियाँ विकसित हुई । इन पद्धतियों को न केवल बनाया गया, वरन् उसके प्रयोग के लिए नियम भी बनाए गये।

वैज्ञानिक पद्धति की इस आवश्यकता के साथ समाज को समझने के लिए भिन्न -भिन्न परिप्रेक्ष्यों की सृष्टि भी हुई । समाज और उसकी कार्यप्रणाली को समझने के लिए ये परिप्रेक्ष्य

अलग -अलग तरीके के थे जिससे समाज और उसकी व्यवस्था को समझा जा सके । ये ही परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न उपागम थे । विभिन्न विचारों के चलते इन उपागमों का संबंध उस विशिष्ट आधार का संकेत था, जिसके आधार पर समाज को समझा जा सके । उदाहरण के लिए मार्क्स ने समाज को समझने के लिए इतिहास पर जोर दिया था । मार्क्स का मानना था कि समाज की संरचना का संबंध ऐतिहासिक परिस्थितियों से था और सामाजिक परिवर्तन का संबंध इतिहास में उठने वाले अंतर्विरोधी से है । ठीक उसी प्रकार से एक और उपागम मानवीय व्यवहार के साथ उभरा, जिसकी परिणति क्रियात्मक व्याख्या से हुई । समाज को समझने के लिए व्यवहारवाद, फेनोमानोलॉजी, विनिमय, संघर्ष तथा प्रतीकात्मक अंतर्क्रिया आदि उपागमों का विकास हुआ । संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम समाजशास्त्रीय व्याख्याओं की कड़ियों में से एक है ।

9.02 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के परिप्रेक्ष्य

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का संबंध वस्तुत: समाज के प्रकार्यात्मक विश्लेषण के साथ अधिक जुड़ा हुआ है । समाजशास्त्री यह मानते है कि प्रकार्यावादी विश्लेषण का संबंध प्राय: प्राय: प्रत्येक विज्ञान के साथ रहा है पर समाजशास्त्र में प्रकार्यावाद की मीमांसाएँ तथा विश्लेषण अपने तरह के रहे है । इसलिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की मूल पृष्ठभूमि को प्रकार्यात्मक विश्लेषण के संदर्भ में ही देखना पड़ेगा। समाजशास्त्री मार्टिडेल यह मानते हैं कि प्रकार्यवाद का संबंध सामाजिक व्यवहार से संबंधित उपागमों और सैद्धान्तिक आधारों से रहा है । उनके अनुसार व्यवहार से संबंधित ये सैद्धान्तिक व्याख्याएँ तीन प्रकार की थी - बहुल व्यवहारवाद (Pluralistic behaviourism) प्रतीकात्मक अंर्तक्रियावाद (Symbolic interactionism) और सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Theory of social action) ।मार्टिडेल का मत है कि धीरे -धीरे ये सैद्धान्तिक व्याख्याएँ लुप्त होती गई और इन व्याख्याओं का स्थान प्रकार्यात्मक आधारों ने लिया । एक और समाजशास्त्री कैली का मानना है आरंभिक समाजशास्त्र में ऐसा माना जाता था कि मानवीय गतिविधियाँ संरचनात्मक व्यवस्थाओं से जुड़ी हुई है पर बाद में विचारों ने पलटा लिया और प्रकार्यो के रूप में संरचना तथा प्रकार्यों के पारस्परिक सम्बध की व्याख्या को विश्लेषण के लिए स्वीकार किया गया । कई समाजशास्त्रियों ने इस उपागम को बनाने में अपना योगदान दिया, जिनकी चर्चा हम आगे के पृष्ठों पर करेंगे ।

समाजशास्त्रीय उपागमों के संबंध में एक बात स्पष्ट करना और आवश्यक है । समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक व्याख्याएँ समाजशास्त्र की उत्पत्ति के समय से ही अन्य सामाजिक, प्राकृतिक तथा जैवीय विज्ञानों से प्रभावित रही है । समाजशास्त्रीय शब्दावली तथा अवधारणाओं के विकास के मूल में ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक पृष्ठभूमि है । अगस्त कॉम्ट एक गणितज्ञ थे उनकी समाजशास्त्रीय शब्दावली तथा विचारों पर गणित तथा प्राकृतिक विज्ञानों की शब्दावली का विशिष्ट प्रभाव दिखाई देता हे । हर्बर्ट स्पेन्सर पेशे से इंजीनियर थे उनके उद्विकासीय चिन्तन पर जैव शास्त्री चार्ल्स डार्विन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है ।

समाजशास्त्र के विकास क्रम में विभिन्न कालों में सामाजिक संगठन, सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संरचना तथा सामाजिक प्रणाली जैसी अवधारणाओं और रचनाओं को प्रयोग

हुआ था । प्रारंभ में ये अवधारणाएँ स्पष्ट नहीं थी - इनका परिष्करण बाद में किया गया । संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागमों की रचना भी इसी प्रकार हुई ।

उपागम में प्रयुक्त दो शब्दों को अलग -अलग समझ कर उनके पारस्परिक संबंधो को समझा जा सकता है । वस्तुत: इस प्रकार के उपागम की व्याख्याएँ अलग -अलग तरह से भी की गई है, पर संक्षेप की दृष्टि से उपागम की ये दोनों ही प्रवृतियाँ एक -दूसरे के साथ जुड़ी हुई है ।

9.03 संरचना का अर्थ तथा अवधारणा

जिस संरचना और प्रकार्य की हम चर्चा करना चाहते हैं, वे वस्तुत: सामाजिक प्रणाली के ही हिस्से हैं । कोई भी सामाजिक प्रणाली पाँच तत्वों से मिल कर बनती है । (1) व्यक्तियों की बहुलता (2) उनके मध्य पारस्परिक अर्न्तक्रिया, (3) अर्न्तक्रिया की परिस्थिति, (4) अधिकतम संतुष्टि की उत्प्रेरणा (5) पारस्परिक संबंध, (6) संबंधो की व्याख्या का आधार संस्कृति तथा समान प्रतीक पारसन्स के अनुसार सामाजिक प्रणाली की मूलभूत इकाई क्रिया है। सामाजिक प्रणाली विभिन्न क्रियाओं के पारस्परिक संबंध से निर्मित है । पारसन्स के अनुसार सामाजिक प्रणाली के दो हिस्से हैं - संरचना तथा प्रकार्य ।

समझने की दृष्टि से सामाजिक संरचना की तुलना प्राय: मानव शरीर अथवा किसी इमारत से की जाती है । मनुष्य के शरीर के अलग -अलग भाग हैं और प्रत्येक अंग का एक विशिष्ट कार्य है । ये सभी अंग मिल कर सारे शरीर की संरचना तैयार करते है । ठीक उसी प्रकार भवन के भी अलग -अलग पक्ष होते है और सभी पक्ष मिलकर एक भवन की रचना करते हैं । शरीर के संरचनात्मक अध्ययन के अन्तर्गत हम इसे विभिन्न अंगों जैसे हाथ पैर, कान, आँख का अध्ययन वैज्ञानिक करते हैं । शरीर के विभिन्न अंग अलग -अलग रूप में शरीर नहीं है । शरीर की संरचना के लिए इन अंगो का समन्वय आवश्यक है । सामाजिक संरचना के लिए भी अपने अंग है । समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक संरचना के मुख्य अंग विभिन्न समूह, संगठन तथा संस्थाएँ है । इनका अलग -अलग अध्ययन भी किया जा सकता है । ये सभी मिलकर जिस तत्व की रचना करते हैं, उन्हें सामाजिक संरचना कहा जाता है । संरचना कोई स्थिर पदार्थ नहीं है । यह गतिशील संरचना है । परिस्थितियों के अनूकूल यह समय -समय पर परिवर्तित भी होती रहती है । सामाजिक संरचना के विभिन्न हिस्से किन्हीं विशेष उद्देश्यों के लिए विकसित किये जाते है ।

समाज का संरचनात्मक विश्लेषण मात्र उसे अंगों की विशिष्ट अध्ययनों द्वारा ही नहीं किया जा सकता । सामाजिक संरचना कि विभिन्न अंग किस प्रकार से एकीकृत है और यह एकीकृत संरचना किस प्रकार कार्य करती है और किस प्रकार ये अंग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, ये सभी प्रश्न महत्वपूर्ण प्रश्न है ।

सामाजिक संरचना के अनेक संगठनों में से एक संगठन सामाजिक संगठन भी है । अलग -अलग सामाजिक संरचनाओं में अलग -अलग प्रकार के सामाजिक संगठन होते है । जनजातीय सामाजिक संरचना के प्रमुख संगठन जनजातीय पंचायतें, नातेदारी समूह, युवा गृह

आदि है । मुख्य रूप से यह अनौपचारिक तथा जनजातीय व्यवस्थाओं पर आधारित है । आज की औद्योगिक संरचना में सामाजिक संगठन का स्वरूप औपचारिक विधि सम्मत और अत्यधिक विशाल है । अधिकारी तंत्र, निगम, श्रम संगठन आधुनिक औपचारिक संगठन के अच्छे उदाहरण है ।

9.04 संरचना पर कुछ समाजशास्त्रियों के विचार

समाजशास्त्र के संरचना पक्ष पर कई समाजशास्त्रियों ने विचार प्रस्तुत किये हैं । इनमें हरबर्ट स्पेन्सर दुर्खीम, पेरेटो, रेडक्लिफ ब्राउन, बी, मैलीनोस्की, टालकट पारसन्स तथा राबर्ट के.मर्टन प्रमुख है । हर्बटे स्पेन्सर ने समाज की तुलना शारीरिक संरचना की तरह से करने का प्रयत्न किया था पर स्पेन्सर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि समाज कोई शारीरिक संरचना नहीं है । स्पेन्सर के लिए यह तुलना मात्र एक तुलना थी । स्पेन्सर का संरचनात्मक प्रकार्यात्मक आधार इसी तुलनात्मकता से उभरता था । स्पेन्सर ने एक और जहाँ शारीरिक संरचना तथा सामाजिक संरचना के बीच समानता की चर्चा की, वहीं दूसरी ओर इनके बीच विभिन्नताओं की चर्चा भी की। स्पेन्सर सामाजिक संरचना के विभिन्न भागों के प्रकार्यात्मक आधारों को भी देखना चाहता था । स्पेन्सर के ऐसे ही तर्कों को अगस्त कॉम्ट ने भी प्रस्तुत किया था । समाज की अपनी व्याख्या में भी स्पेन्सर ने उसे विभिन्न भागों द्वारा निर्मित मान और भागों तथा उसकी सम्पूर्णता के अध्ययन पर जोर दिया । दुर्खीम ने भी समाज को अधि संरचना के रूप में देखा, जिसके अनेक भाग थे, इन भागों को अलग से देखा जा सकता था, समन्वयित किया जा सकता है और उनको जोड़ा भी जा सकता था । दुर्खीम की यह अधिसंरचना, दुर्खीम की व्यक्तिगत चैतन्यता किसी सामूहिक चैतन्यता का प्रतिबिंब थी जो इस संरचना से पैदा होती थी । दुर्खीम की मुख्य चिंता सामाजिक संरचना के अनुसंरक्षण तथा परिवर्तन में धर्म, नैतिकता श्रम विभाजन, अपराध और दण्ड जैसे सामाजिक कारकों के अध्ययन की है । स्पष्टत: दुर्खीम के विचारों पर रेडक्लिफ ब्राउन के विचारों का प्रभाव था ।

रेडक्लिफ ब्राउन ने इस बात पर जो दिया कि प्रत्येक तत्व किस प्रकार संपूर्ण के तत्व तथा अनुरक्षण और विकास का कार्य करते हैं । इनके अध्ययन में सामाजिक संरचना के अलग -अलग हिस्सों में विशेष प्रकार्यात्मक परिणाम निकलते है । दूसरे शब्दों में दुर्खीम तथा रेडक्लिफ ब्राउन के विवेचनों में अवयवों' विशेष तत्वों और व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है ।

मैलीनोस्की का विश्लेषण उपर्युक्त विश्लेषणों से अलग नहीं है । उनके अनुसार प्रकार्यो के मूल में मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक संरचनाओं और सांस्कृतिक उपलब्धियों को व्यक्ति की जैवकीय आवश्यकताओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता हे ।

पेरेटो के अनुसार समाज एक संतुलन की प्रणाली है, जिसका प्रत्येक हिस्सा एक दूसरे पर आश्रित है । एक हिस्से में होने वाले परिवर्तन दूसरे हिस्से को प्रभावित करता है । इस तरह एक हिस्से में होने वाला परिवर्तन संपूर्ण प्रणाली पर प्रभाव डालता है । समाज का प्रत्येक भाग जब तक अपना प्रकार्य पूरा करता रहता है, संतुलन बना रहता है और सामाजिक प्रणाली सुचारू रूप से चलती रहती है ।

राबर्ट के. मर्टन ने संरचना के आधार पर प्रतिमान हीनता का अध्ययन किया है । मर्टन का मत है कि सामाजिक संरचना के अनेक तत्वों में से दो तत्व महत्वपूर्ण हैं - (1) सांस्कृतिक (2) संस्थागत प्रतिमान ।

पहले लक्ष्य के अन्तर्गत वे लक्ष्य तथा उद्देश्य आते हैं जो संस्कृति द्वारा स्वीकृत हैं तथा समाज के अनेक प्रकार के सदस्यों में से अधिकांश सदस्य उसे स्वीकार करते है । संरचना का दूसरा पक्ष इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संस्कृति द्वारा स्वीकृत साधनों और प्रतिमानों का है । इन दोनों को संतुलन ही सामाजिक संरचना है। इन दोनों का जब संतुलन भंग होता हे तो मर्टन के प्रतिमानीनता स्थापित होती है ।

सामाजिक संरचना के संबध में एक अन्य विश्लेषण पार्सन्स तथा शील्स से प्रभावित हैरी एम. जॉनसन का है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक संरचना के मुख्य आधार आवश्यकता भूमिका तथा उपसमूह है, जिन्हें उनके प्रतिमानों के माध्यम से ही समझा जा सकता है । सामाजिक भूमिका के अनुरूप ही व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण होता है । अपनी भूमिका को पूरा करने के लिए दूसरे लोगों के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होते हैं । इन कर्तव्यों तथा निर्धारणों का प्रतिमानों के माध्यम से होता है ।

यह कहा जा सकता है कि संरचना और प्रकार्य का सम्बध आवश्यकता से है । विभिन्न सामाजिक प्रणालियों में ये आवश्यकताएँ अलग -अलग हो सकती है पर इनमें से कुछ सार्वदेशिक हैं तथा कुछ तत्वकालिक तथा क्षणिक । इन्हीं सामान्य तथा विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक संरचना तथा प्रकार्य निर्धारित होते है ।

9.05 प्रकार्यात्मक विश्लेषण

संरचना के अर्थ तथा उसकी व्यवहार प्रणाली को समझने के बाद उपागम के प्रकार्यात्मक पक्ष पर विचार किया जा सकता है । इस संबंध में मर्टन का यह कथन महत्वपूर्ण है कि शब्द प्रकार्य अनेक भ्रांतियो का शिकार रहा है । मर्टन के अनुसार इन भ्रातियो के दो पक्ष है - (1) एक ही शब्द तथा विभिन्न अवधारणाएँ तथा (2) एक अवधारणा विभिन्न शब्द ।

मर्टन के अनुसार प्रकार्य शब्द का प्रयोग उत्सव, व्यवसाय, किसी हैसियत विशेष से जुड़े क्रिया -कलाप तथा विभिन्न कारकों के पारस्परिक सम्बध आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । समाजशास्त्र तथा मानव विज्ञान में इस शब्द के प्रयोग में प्राणिशास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है । इस दृष्टि से प्रकार्य का अर्थ उन जैवकीय प्रक्रियाओं से है जो प्राणी के अनुरक्षण में अपना योगदान देती है ।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार प्रकार्य का अर्थ प्राणी और उसकी पारस्परिक आवश्यकताओं व पारस्परिक संबंधों की प्रक्रिया से है । सामाजिक जीवन में दण्ड का प्रकार्य, सामाजिक संरचना में उसके अनुरक्षण में उसके योगदान से है । मैलीनोस्की के अनुसार प्रकार्य का अर्थ समाज के विभिन्न हिस्सों की भूमिका की व्याख्या से है।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण की लम्बी परम्पराएँ हैं । मौलिनोस्की तथा रेडिक्लिफ ब्राउन ऐसे सामाजिक मानवशास्त्री हैं, जिन्होंने अपने अपने ढंग से प्रकार्यात्मक विश्लेषण को आगे बढ़ाया । इससे भी पहले ऐसे समाजशास्त्री थे जो मनुष्य की

प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधारों के विश्लेषण में सक्षम थे । ये सभी विश्लेषण जीवनशास्त्रीय आधारों से प्रभावित थे और सामाजिक प्रकार्यो के आधारो को उसी रूप में देखते थे ।

राबर्ट के. मर्टन के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रकार्यवादी विश्लेषण की तीन प्रमुख मान्यताएँ हैं (1) सामाजिक क्रियाकलाप तथा सांस्कृतिक तत्व पूरे सामाजिक प्रणाली के लिए प्रकार्यात्मक है, (2) ये निश्चित समाजशास्त्रीय प्रकार्यो को पूरा करते हैं, (3) ये क्रियाकलाप और तत्व सामाजिक प्रणाली के लिए आवश्यक हैं । ये तीनों मान्यताएँ परस्पर सम्बधित हैं ।

प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए सामाजिक प्रणाली की समस्याओं के बारे में जानना भी जरूरी है । सामान्यत: किसी सी सामाजिक प्रणाली में चार प्रकार की मुख्य समस्याएँ पैदा होती है । (1) सामाजिक प्रणाली के अन्तर्गत सापेक्ष्य स्थिरता आवश्यक तत्व है । इसीलिए प्रत्येक सामाजिक प्रणाली सामाजिक तथा सांस्कृतिक आंतरिकता के लिए प्रक्रिया पैदा करती है । मूल्यों की आंतरिकता के लिए भी ऐसा प्रयत्न किया जाता है । (2) किसी भी प्रणाली के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सामाजिक -सांस्कृतिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करे । इस कार्य को समाज भूमिकाओं के विभेदीकरण श्रम विभाजन की प्रक्रिया और कार्य के बंटवारे द्वारा पूरा करती है । (3) प्रत्येक सामाजिक प्रणाली के कुछ लक्ष्य होते हैं उन्हें वह सहयोगात्मक प्रयत्नों के माध्यम से प्राप्त करने की कोशिश करती है । इन लक्ष्यों में राष्ट्रीय एकीकरण सामाजिक समानता न्याय पर आधारित व्यवस्था आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं । (4) एकीकरण जिसका संबंध सामाजिक प्रणाली के इकाईयों के अन्तर्गत संबंधो से है । प्रणाली के सदस्यों का प्रणाली के प्रति आस्था तथा विश्वास - दोनों ही आवश्यक हैं । आस्था के अभाव में प्रणाली चल नहीं सकती । प्रणाली की ये ही आवश्यकताएँ प्रकार्यो की व्यवस्था पैदा करता है।

राबर्ट के. मर्टन ने प्रकार्यो को दो भागों में बाँटा है । (1) बाह्यगत प्रकार्य (2) आंतरिक प्रकार्य । मर्टन के अनुसार बाहयगत प्रकार्य की स्पष्ट पहचान होती है, इनके पीछे अपेक्षित इरादा होता है। यह वस्तुपरक होता है । अन्तर्निहित प्रकार्य के पीछे आंतरिक प्रवृत्ति होती है । इनकी अपनी पहचान कर पाना कठिन है । इनके पीछे आंतरिकता होती । अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो बहिर्गत तथा आन्तरिक प्रकार्यो में अंतर किया जा सकता है । बाह्य दृष्टि से एक समूह में अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष हो सकता है । साथ ही समाज में बढ़ते अपराधों के प्रति घृणा की भावना जागृत हो सकती है । हितों का संघर्ष बाह्य प्रकार्य है । कानूनी विरोधी आचरणों के प्रति घृणा आंतरिक प्रकार्य है । सामाजिक प्रकार्य, दुष्कार्य तथा अप्रकार्य की अवधारणाएँ मर्टन ने प्रस्तुत की सामाजिक प्रकार्य वे प्रकार्य हैं जो समाज की संरचना को चलाने में मदद करते है । दुष्कार्य वे प्रकार्य हैं जो समाज की संरचना को दूषित या विकृत करते है । अप्रकार्य वे अप्रासगित प्रकार्य हैं जिनका अस्तित्व या तो नहीं है या उनकी संपूर्ण प्रासंगिता समाप्त हो गई है । मर्टन ने इन प्रकार्यो के स्वरूपों को अपने अध्ययन में प्रयुक्त किया था ।

प्रकार्यो को व्यक्तिगत भावनाओं अथवा विचार के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए । मर्टन के अनुसार सामाजिक प्रकार्य स्पष्ट दिखाई देने वाले परिणात्मकारी वस्तुनिष्ठ प्रकार्य है । कोई भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण इस बात का प्रयास करता है कि सांस्कृतिक प्रचलनों और सामाजिक मान्यताओं के प्रभाव स्पष्ट किये जाय ।

9.06 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

संरचना एवं प्रकार्य के अर्थो को अलग -अलग विश्लेषित करने के बाद संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम की चर्चा की जा सकती है । आधुनिक समाजशास्त्र विशेष रूप से गई शताब्दी के अन्त तक संरचनात्मक -प्रकार्यत्मक विश्लेषण का काफी प्रभाव रहा है । आज के सामाजिक सांस्कृतिक परिवेशों के विश्लेषण के लिए यद्यपि अन्य उपागमों का सहारा लिया जाता है, पर प्रकार्यात्मक विश्लेषण इन उपागमों में प्रधान रहा है । समाजशास्त्री यह मानते है कि संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण उदविकासीय विश्लेषण के बहुत नजदीक है । प्राय: इन दोनों प्रकार की व्याख्याओं में साम्यता दिखाई देती है । प्रकार्यवादी विश्लेषण वस्तुत: समाज के संबंध मे एक दृष्टिकोण है जो स्वयं नियंत्रित व्यवस्था है जो अर्न्तसम्बधित इकाइयों के पारस्परिक संबंधो के संरचनात्मक संबंधो की व्यवस्था से जुड़े हुए है । यह वह समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है जो संरचना की विभिन्न इकाइयों के एक -दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव तथा उनके माध्यम से संपूर्ण व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करता है । इस प्रकार इस उपागम का विश्लेषणात्मक आधार अलग -अलग इकाइयों तथा इन इकाइयों के समन्वय से बनने वालें सम्पूर्ण आधार का विश्लेषण है । उदाहरण के लिए किसी संस्था के प्रकार्यातमक विश्लेषण को यदि हम लें जैसे संयुक्त परिवार, जाति राजीतिक दल, धर्म अथवा औद्योगिक संकुल आदि तो हम उनको अंर्तसबधित भागों से निर्मित एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखेंगे कि इनके आपस में पारस्परिक संबंध क्या हैं, उनका सम्पूर्णता से क्या सम्बंध है और इन इकाइयों के क्या प्रकार्य है । इस प्रकार सामाजिक प्रचलन, व्यवहारों के प्रतिमान और यहाँ तक की अन्धविश्वासों की यह जाँच की जा सकती है कि समाज में उनकी प्रकार्यात्मक भूमिका क्या हैं ? संक्षेप में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम विभिन्न इकाइयों की उपादेयता, संरचना में उनकी प्रकार्यात्मक भूमिका तथा संपूर्णता के निमार्ण में इन इकाईयों की भूमिका का विश्लेषण है ।

प्रकार्यात्मक विश्लेषण का आधार मूलत: सामाजिक व्यवस्था की पूर्व अवधारणात्मक संरचना के साथ जुड़ी हुई है । यह भी पहले स्वीकार करना होगा कि इकाइँया संपूर्ण व्यवस्था का एक ही भाग है । दूसरे शब्दों में व्यवस्था इकाईयों से बड़ा है । सभी संस्थाएँ तथा प्रबन्ध सामाजिक व्यवस्था के रूप हैं और कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपनी इकाइयों से बड़ी है । सारा विश्लेषण इस तथ्य पर आधारित है कि विभिन्न इकाइयों के प्रकार्य क्या है तथा ये भाग किस प्रकार संपूर्ण व्यवस्था को बना कर रखते है । किसी भी सामान्य संचालन के लिए इन इकाइयों का पारस्परिक सामान्य संचालन आवश्यक है । किसी एक इकाई के सामान्य संचालन के लिए अन्य इकाइयों का सामान्य संचालन आवश्यक है । मानवशास्त्रियो ने माना कि पारम्परिक समाज को सुगठित, एकीकृत, समता आधारित समाज थे । आज के समाज अधिक

जटिल हैं, बिखरे हुए हैं, विशेषीकृत हैं । पर साधारण पारंपरिक समाजों की भी अपनी इकाईयाँ थी, उनमें पारस्परिक संबंध थे और ये इकाइयाँ मिलकर व्यवस्था भी बनाती थीं । आधुनिक समाजों में भी पारम्परिक समाजों की तरह यह माना जाता है कि इन समाजों के पारस्परिक अंतनिर्भर अंग है जो संपूर्ण व्यवस्था को चलाने में मदद करते हैं ।

प्रत्येक समाज में उसकी इकाइयाँ समाज को चलाने में सकारात्मक या नकारात्मक योगदान देती है । मर्टन द्वारा रचित प्रच्छन्न तथा प्रकट प्रकार्यो की चर्चा इस पाठ में पहले ही की जा चुकी है। प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रियों का जोर इस बात पर है समाज में प्रभुत्वशाली अवस्था वह है जिसमें स्थायित्व तथा सहमति के आधार पर व्यवस्था बनी हुई हो । पार्सन्स का कहना था कि संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का आधार मूल्यों की भागीदारी है । इस प्रकार प्रकार्यवादी सामाजिक व्यवस्थाओं में समन्वय, स्थायित्व तथा एकता के प्रश्नों को अधिक उठाते है । यह कहा जाता है कि प्रकार्यवाद ने सामाजिक व्यवस्था में संघर्ष की अवस्थाओं के विश्लेषण पर अधिक ध्यान नही दिया है ।

यह भी कहा जाता है कि संरचनात्मक प्रकार्यवादियों को विभिन्न संरचनाओं में सामाजिक जीवन की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं की परख करनी चाहिए, जो उनसे रचनाओं में मौजूद हैं । संरचनात्मक प्रकार्यत्मक उपागम में निश्चित ही समाजशास्त्रीय ज्ञान, सैद्धान्तिक समीक्षाओं और पद्धति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । संस्कृति तथा मूल्यों के तुलनात्मक अध्ययन में इस उपागम ने ज्ञान में श्रेष्ठता प्रदान की है ।

9.07 संरचनात्मक प्रकार्यातमक उपागम के प्रमुख समाजशास्त्री

यह पहले लिखा जा चुका है संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण का प्रयोग अलग - अलग रूप में बहुत पहले से किया गया है । संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण की साम्यता जैविक आधारों से की गई - इसकी चर्चा भी पहले की जा चुकी है । हर्बर्ट स्पेन्सर, दुर्खीम, पेरेटो, रेडक्लिफ ब्राउन, मैलीनोस्की ने इस उपागम का प्रयोग अपने विश्लेषणों में किया - इसकी चर्चा भी की जा चुकी है । बीसवी शताब्दी के बीच और बाद में कुछ समाजशास्त्रियों का नाम इस उपागम के साथ जुड़ा हुआ है । इनमें से दो नाम सर्वप्रमुख रहे हैं - टालकट पार्सन्स तथा राबर्ट के. मर्टन ।

टालकट पार्सन्स के जिन सैद्धान्तिक व्याख्याओं को प्रस्तुत किया उनमे सामाजिक क्रिया सामाजिक प्रणाली या व्यवस्था के सिद्धान्त प्रमुख हैं । सामाजिक प्रणाली तथा व्यवस्था के विश्लेषण में पार्सन्स ने भूमिका (Role) संतुलन (Equilibrium) तथा प्रतिरूप भिन्नताओं (Pattern Variables) की चर्चा की । पार्सन्स ने इन्हीं तीन आधारों पर सामाजिक प्रणाली या व्यवस्था के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया । इसके अतिरिक्त पार्सन्स ने शक्ति संबंधो और आधुनिकता पर अपनी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की ।

राबर्ट के. मर्टन का समाजशास्त्रीय योगदान उनकी सैद्धान्तिक तथा पद्धति की व्याख्याओं के साथ सम्बधित है । मर्टन मध्यस्तरी सिद्धान्त (Middle range theory) के प्रतिपादक थे । उन्होनें प्रकार्यवाद के अर्थ को स्पष्ट किया और उसे एक सुनिश्चित दिशा दी । प्रकार्यवाद के अध्ययनों के लिए एक पद्धति के रूप में उन्होंने एक पेराडाइम की रचना भी की ।

प्रकार्यवादी को सझमने के लिए ही मर्टन ने विचलन का भी अध्ययन किया मर्टन संरचनात्मक प्रकार्यवाद व्याख्याओं के बड़े योगदान देने वाले माने जाते है ।

पार्सन्स और मर्टन के योगदान के अतिरिक्त नये योगदान के लिए दो समाजशास्त्रियों के नाम ओर जाने जाते हैं । ये दो नाम आधुनिकतम समाजशास्त्र के योगदान के लिए जाने जाते है । वर्तमान समाजशास्त्र लुमैन और गिडिन्स इसी श्रेणी में आते हैं । लुमैन और गिडिन्स दोनों ही का संबंध आधुनिक समाजों से है । निश्चित ही ये दोंनो विद्वान पार्सन्स अथवा मर्टन के विस्तार नहीं है । दोनों विद्वानों ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक धारा को अपने ही दृष्टिकोण से देखा है ।

लुमैन ने प्रणाली व्यवस्था की पुर्नव्याख्या की है । लुमैन का तर्क था कि सामाजिक प्रणाली अर्थपूर्ण व्यवहारों की भागीदारी है और ये अर्थपूर्ण व्यवहारों की भागीदारी से बनती है । ये अर्थपूर्ण व्यवहार सम्प्रेषण द्वारा निर्मित होते हैं । लुमैन की यह भी मान्यता थी कि संपूर्णता संतुलित प्रणाली जैसी व्यवस्था मिलना मुश्किल है । लुमैन ने आधुनिक समाज तथा विश्वास (Trust) का भी विश्लेषण किया ।

एन्थोनी गिडिन्स का मुख्य योगदान संरचनात्मकता (Structwration) पर था । गिडिन्स का मत है कि किसी भी सामाजिक क्रिया का कार्य संरचना को पैदा करना है । गिडिन्स पार्सन्स के विचारो के आलोचक थे । इसलिए उन्होनें कहा था कि सामाजिक प्रणाली अपने आप में अंत नही है । इसीलिए उन्होंने अपने व्यक्तित्व को गैर प्रकार्यवादी घोषणा पत्र कहा ।

9.08 सारांश

संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम -समाजशास्त्र में विश्लेषण के लिए एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य के साथ जुड़ा है । समाजशास्त्र के प्रारम्भ के साथ कई विज्ञानों का प्रभाव समाजशास्त्रीय चिन्तन पर पड़ा। उनमें से एक का संबंध है जैविक संरचना को सामाजिक संरचना के समक्षता लाना था । संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम की रचना इसी समकक्षता से उत्पन्न हुई थी । संरचनात्मक प्रकार्य के अन्तर्गत यह कल्पित है कि संरचना छोटी इकाइयों से निर्मित है । ये इकाईयाँ एक -दूसरे पर प्रभाव डालती है तथा संपूर्णता को या सम्पूर्ण प्रणाली को प्रभावित भी करती है । संरचना की इन इकाइयों के अपने प्रकार्य हैं जो प्रणाली को समायोजित तथा संतुलित करने में मदद करते है । प्रारंभिक तथा बाद के अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विश्लेषणों के लिए इस उपागम का प्रयोग किया है । विशेष रूप से राबर्ट के.मर्टन का योगदान, इस उपागम के स्पष्टीकरण के लिए महत्वपूर्ण रहा है ।

9.09 शब्दावली

संरचना - मनुष्य के शरीर की तरह विभिन्न अंगो से मिलकर निर्मित संरचना ।

प्रकार्य - समाज के विभिन्न भागों के कार्य जो समाज की संरचना को चलाने में सहायक है ।

9.10 बोध प्रश्न

1. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।
2. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के प्रमुख समाजाशास्त्री के योगदान का उल्लेख कीजिए ।

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Don Martindale (1960),Nature and Types of Sociological Theory ,Boston,Houghton Mittlin.
2. Cohen Percy S. (1968),Modem Social Theory London,Heinemann.
3. Flecher Rounald (1971),Making of Sociology,Vol.I and II,London -Michel Joseph.
4. Merton Robert K (1957),Social Theory and Social Structure,New Delhi,Amerind.
5. Adams N.Sydie RA(2001),Sociological Theory, New York,Vistaar.

इकाई - 10

संरचनावादी उपागम

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.01 प्रस्तावना
10.02 सामाजिक संरचना का अर्थ
10.03 संरचना उपागम में समाजशास्त्रियों का योगदान
10.04 समाज के कुछ प्रमुख संरचनात्मक दृष्टिकोण
10.05 संरचना के कुछ अन्य पक्ष .
10.06 सारांश
10.07 शब्दावली
10.08 बोध प्रश्न
10.09 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के निम्न उद्देश्य है

- समाजशास्त्र में संरचना का क्या अर्थ है - इसे स्पष्ट करना ।
- संरचना उपागम के विस्तार में समाजशास्त्रियों का क्या योगदान है - इसे स्पष्ट करना ।
- संरचना विश्लेषण का समाजशास्त्र का इतिहास बताना ।
- कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत संरचनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ।
- संरचना उपागम की उपादेयता तथा इसके प्रयोग की मीमांसा करना ।

10.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्र के प्रारंभ से ही यह प्रत्यन किया जाता रहा है कि समाज की व्यवस्थाओं को कैसे समझा जाय । यह भी समझने का प्रयास रहा है कि समाज किस प्रकार निर्मित होता है और किस प्रकार कार्य करता है । विभिन्न समाजों के स्वरूप क्या हैं, तथा उनकी बनावट की भिन्नताएँ क्या हैं तथा समाज संचालन की प्रणाली की विशेषताएँ क्या हैं? ये सारे प्रश्न अगस्त कॉम्ट से लगातार आज तक जारी है । समाज को समझने के लिए इन प्रश्नों के संदर्भ में कई उपागम विकसित हो गये । साथ ही विश्लेषण किस प्रकार किया जाये - इस संबंध में कई पद्धतियाँ भी विकसित हुई । आवश्यकतानुसार या समाजशास्त्रियों के अपने परिप्रेक्ष्यों के अनुसार इन उपागमों तथा पद्धतियों का प्रयोग भी किया गया । इन्हीं उपागमों में से एक उपागम संरचनात्मक उपागम भी है ।

यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि समाजशास्त्र अपने जीवन के प्रारंभ से ही दर्शन तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों से प्रभावित रहा है । प्राकृतिक तथा जैवकीय विज्ञानों ने समाजशास्त्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया । समाजशास्त्रीय अवधारणाओं तथा उपागमों के

विकास में इतिहास तथा विज्ञान की पृष्ठभूमि की भूमिका रही है । अगस्त कॉम्ट एक गणितज्ञ थे और उनकी भाषा पर प्राकृतिक विज्ञानों का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है । हर्बर्ट स्पेंसर पेशे से इंजीनियर थे । उनके समय में यूरोप के बौद्धिकों पर चार्ल्स डार्विन के विचारों का बड़ा प्रभाव था । उनकी रचनाओं पर यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, जो डार्विन के समय में प्रचलित थी । इसी तरह की छाप हमें पेरेटो और पार्सन्स की रचनाओं में भी दिखाई देती है ।

यह कहा जा चुका है कि विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का संबंध समाज से रहा हे । समाज के अध्ययन और विश्लेषण के लिए समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक प्रणाली, सामाजिक संरचना आदि अवधारणाओं का विकास हुआ । इन सारी अवधारणाओं को सामाजिक वैज्ञानिक इतिहास क्रम में समझा जा सकता है । सामाजिक संरचना की अवधारणा का प्रारम्भ प्राणिशास्त्रीय व्याख्याओं के साथ हुआ था । सामाजिक संरचना की व्याख्याओं पर इस प्राणिशास्त्रीय अवधारणा का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है ।

10.02 सामाजिक संरचना का अर्थ

सामाजिक संरचना का संबंध सामाजिक प्रणाली से है । सामाजिक प्रणाली की सामाजिक अवस्था या प्रणाली का अर्थ सामाजिक घटनाओं में पारस्परिक संबंध होना है । सामाजीकरण तथा सामाजिक नियंत्रण द्वारा समाज में व्यवस्था बनी रहती है ।. इस व्यवस्था में संरचना और प्रकार्य -इसके दो हिस्से हैं, सामाजिक संरचना को समझने के लिए इसकी तुलना शरीर या इमारत से की जाती है । जैसे शरीर या इमारत के अनेक हिस्से होते हैं, और उनसे मिलकर सारा शरीर बनता है, वैसे जी सामाजिक संरचना अनेक तत्वों से मिलकर बनती है । शरीर की संरचना के अध्ययन के लिए हम उसके विभिन्न अंगो से हाथ, पैर, सर और आँखों तथा कान आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं । विभिन्न अंग अलग -अलग रहकर शरीर नहीं है । शरीर इन सब अंगो से मिलकर बनता है । इसी तरह इमारत में छत, दीवारे, खिडकियाँ दरवाजे आदि मिलकर सारी इमारत को बनाते हैं, ठीक उसी प्रकार सामाजिक संरचना कई भागों से मिलकर बनती है ।

सामाजिक संरचना के भी अंग के रूप में विभिन्न समूह, संस्थाऐं तथा संगठन हैं । इनका अलग -अलग अध्ययन भी किया जा सकता है पर ये सब मिलकर जिन तत्वों का निर्माण होता है और ये सब तत्व मिलकर जिस संरचना का निर्माण करते हैं, उसे सामाजिक संरचना कहा जाता है । संरचना कोई स्थिर यथार्थ नहीं है, बल्कि गतिशील यथार्थ है यहाँ यह कहना आवश्यक है कि मानवीय स्वभाव तथा व्यवहार जड़ नहीं है, यह निरन्तर रूपान्तरित तथा परिवर्तित होता रहता है । सामाजिक संरचना का समाज के सदस्य निमार्ण करते हैं और उसे बचाये रखने या संचालन करने का प्रयास करते हैं । जैसे -जैसे परिस्थितियाँ बदलती है - वैसे ही वैसे सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आता है । संपूर्ण सामाजिक संरचना या उसके हिस्से कुछ निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निर्मित होते है । जिस प्रकार शरीर के विभिन्न हिस्से शरीर, अलग -अलग आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, ठीक उसी प्रकार सामाजिक संरचना के अलग -अलग हिस्से भी सामाजिक संरचना के विभिन्न कार्यो की पूर्ति का कार्य करते है ।

मनुष्य की आवश्यकताएँ सामाजिक संरचना को जन्म देती है और इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक संरचना कार्य करती है ।

सामाजिक संरचना की रचना का कार्य मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ जुड़ा हुआ है । अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करता है, इन्हीं भूमिकाओं के आधार पर मनुष्य की समाज में परिस्थिति भी निर्धारित हो जाती है । इस तरह सामाजिक संरचना का मुख्य आधार मनुष्य की आवश्यकताएँ उसकी भूमिका तथा उसकी परिस्थितियाँ हैं । मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भूमिकाओं का निर्वाह तथा परिस्थितियों की प्राप्ति समाज में स्थापित प्रतिमानों तथा मूल्यों के आधारों पर करता है । इस प्रकार प्रतिमान तथा मूल्य भी सामाजिक संरचना के आवश्यक तत्व हैं । इस प्रकार सामाजिक संगठन भी सामाजिक संरचना का एक हिस्सा है । योजनाबद्ध कार्यकलापों के आयोजन को हम सामाजिक संगठन कहते हैं । अलग -अलग प्रकार की सामाजिक संरचनाओं में संगठनों के स्वरूप अलग -अलग होते हैं । जनजातीय समाजों की संरचना और औद्योगिक सामाजिक संरचना में इन संगठनों के स्वरूप अलग -अलग हैं । जनजातीय समाजों में प्रमुख संगठन नातेदारी, किशोरगृह पंचायत तथा अन्य व्यववस्थाएँ हैं । साधारणत: सारी संरचना अनौपचारिक तथा जनजातियों में प्रचलित प्रथाओ पर आधारित है । सारी संरचना आदिवासी प्रतिमानों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संयोजित है । आधुनिक औधौगिक संरचना, औपचारिक, अलग -अलग विचारों, विविधिता तथा विशेषज्ञता पर आधारित है । अधिकारी तंत्र, निगम तथा ऐसे ही संगठन आधुनिक समाज संरचना के चिन्ह है ।

समाजशास्त्रियों के विचारों के अनुसार सामाजिक संरचना की कुछ विशेषताएँ कहीं जा सकती है जैसे सामाजिक संरचना का संबंध सामाजिक व्यवस्था अथवा प्रणाली से है । संरचना किसी भी सामाजिक व्यवस्था की स्थिर पक्ष है । सामाजिक संरचना के निर्माण में मूलत: मनुष्य की आवश्यकताएँ होती हैं, किसी भी संरचना का मूल आधार प्रस्थिति तथा भूमिका है । समूह, समिति तथा संगठन आदि सामाजिक संरचना के हिस्से हैं तथा जनरीति प्रतिमान, मूल्य तथा प्रतीक सभी कुछ सामाजिक संरचना के हिस्से हैं प्रथा, जनरीतियां, सांस्कृतिक मानदण्ड तथा कानून संगठनों समूहों तथा समितियों को जोड़ते हैं । संरचना के हर हिस्से के अपने प्रकार्य हैं जो संरचना के संचालन में मदद करते हैं । ये ही विशेषताएँ सामाजिक संरचना का निर्धारण करते हैं ।

10.03 संरचना उपागम में समाजशास्त्रियों का योगदान

सामाजिक संरचना के उपागम की धारणाओं और प्रयोग करने में कई समाजशास्त्रियों का नाम लिया जा सकता है । हरबर्ट स्पेंसर (1877) दुर्खिम (1899) पैरेटो (1915) रेडक्लिफ ब्राउन (1935) बी. मैलोनोव्सकी (1936) और रॉबर्ट के मर्टन (1949) आदि प्रमुख समाजशास्त्री हैं । इनमें से कुछ के योगदान की चर्चा की जा सकती

उन्नसवीं सदी में संरचनात्मक विकास के लिए हरबर्ट स्पेंसर का योगदान अग्रणीय है । स्पेंसर ने समाज और शरीर की संरचना की समानता का उल्लेख किया है यह समानता संरचना

की अवधारणा को स्पष्ट करने की समानता तथा भिन्नता दोनों का ही उल्लेख किया है । स्पेंसर के अनुसार इन दोनो में समानता इसलिए हैं क्योंकि -

1. दोनों ही जैविक. इसलिए हैं क्योंकि इन दोनों में ही वृद्धि होती है ।
2. जैसे -जैसे दोनों में वृद्धि होती है, उनकी संरचना की इकाईयों में अंतर बढ़ता जाता है और आंतरिक संगठन और जटिल होता जाता है ।
3. इसी के साथ विभिन्न अंग अपना -अपना कार्य प्रारंभ करते है तथा सारी संरचना में विभिन्न प्रकार्य विकसित होने प्रारंभ होते हैं ।
4. दोनों को ही पर्यावरणीय चुनौतियों से जूझना पड़ता है तथा उनकी व्यवस्था तथा शक्ति के अस्तित्व पर्यावरणीय परिस्थितियों के साथ जुड़े हुए है ।
5. संरचना के सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर है तथा यदि संरचना समाप्त या मृत भी हो जाए तो उसके कुछ भाग कुछ समय तक अस्तित्व में रहते हैं ।

स्पेंसर ने उन अंतरो की चर्चा भी की जो शारीरिक तथा सामाजिक संरचना में अंतर करते हैं । उनका मानना था कि शरीर की संरचना की सभी इकाइँया एक -दूसरे से गुथी हुई है और सारे शरीर की संरचना एक जैविक सम्पूर्णता है । पर समाज की इकाइँया बिखरी हुई हैं । ये भाग एक -दूसरे से गुथे हुए नहीं है । शरीर के हर भाग अलग -अलग 'हैं और उनके कार्य भी अलग -अलग हैं । जैसे दिमाग का काम केवल सोचना ओर कार्य करना है । समाज में सभी सदस्यों की इन कार्यो में सभी की भागीदारी होती है और सभी की भागीदारी मिलकर इन इकाइयों को सुदृढ़ करती है । जैविक संरचना में विभिन्न भाग संपूर्ण के हित के लिए कार्य करते हैं पर समाज में संस्थाएँ तथा संगठन संस्थाओं के माध्यम से व्यक्तिगत हित का कार्य भी करते है ।

स्पेंस्टर इस बात में स्पष्ट था कि वह ऐसी समानता का उल्लेख कर रहे है इसीलिए स्पेसंट ने इस विश्लेषण से अनावश्यक प्रसंगो को हटा दिया ।

दुर्खीम के विचारों पर स्पेसर का प्रभाव था । दुर्खीम ने स्पेंसर की रचनाओं का अध्ययन भी किया था । समाज की संरचना समाजों के विभाजन तथा धर्म की गंभीरता आदि प्रश्नो पर स्पेंसर के प्रभाव को देखा जा सकता है । दुर्खीम की मुख्य चिन्ता सामाजिक संरचना को संतुलित बनाये रखने तथा उसमें परिवर्तन से था । धर्म, नैतिकता, श्रम विभाजन, अपराध दण्ड तथा नियमहीनता संबंधी विचारों का संबंध दुर्खीम के सामाजिक तथ्य एक ऐसी नैतिकता से बंधे हुए हैं जो समाज में रहने वाले व्यक्तियों पर संरचनात्मक दबाव पैदा करतें हैं और मनुष्य की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं । दुर्खीम उन कारकों को भी तलाश करते हैं, जो इस संरचना को चलाने में सहायक है । दुर्खीम के अनुसार ये कारक एक ओर तो समाज को संतुलित व्यवस्थित बनाये रखते हैं - दूसरी ओर ये कारक संरचना में परिवर्तन भी लाते है । इनके द्वारा सामाजिक संरचना सुचारू रूप से कार्य करती है ।

रेडक्लिफ ब्राउन के इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित किया कि संरचना में उसका इकाईयाँ किस प्रकार संरचना को संतुलित, व्यवस्थित तथा उसके विकास में किस प्रकार योगदान देती हैं । ब्राउन ने अपने अध्ययन में यह भी देखा कि इन संरचनात्मक तत्वों के प्रकार्यात्मक परिणाम क्या हैं? विश्लेषण और वर्णन के लिए ब्राउन का यह विश्वास था,

सामाजिक संरचना की इन इकाइयों को अवधारणात्मक तरीके से अलग -अलग करना संभव है । इन इकाइयों का पारस्परिक सहयोग तथा अर्न्तर्निभरता है । संरचना की इस प्रकार की व्यवस्था को ब्राउन ने प्रकार्यत्मक अपर्याप्तता कहा । ब्राउन का विचार था कि अलग -अलग समाजों की अलग -अलग संरचनाएँ होती हैं । ब्राउन ने अपने विश्लेषण में संरचनात्मक सिद्धान्तों की चर्चा भी की । ब्राउन ने कहा कि ये सिद्धान्त अपूर्ण है तथा प्रत्येक समाज में किसी ने किसी रूप में मौजूद सिद्धान्त हैं ।

पैरेटो ने संरचनात्मक आधार पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा समाज एक संतुलनकारी व्यवस्था है, जिसका प्रत्येक हिस्सा एक दूसरे पर आधारित है । एक हिस्से में होने वाला परिवर्तन दूसरे हिस्से को प्रभावित करता है । जब तक ये सारे हिस्से अपना कार्य पूरा करते रहते हैं, तब तक समाज में संतुलन बना रहता है और सामाजिक प्रणाली सुचारू रूप से चलती रहती हैं । पेरेटो के समाज की संतुलित व्यवस्था के पीछे दो धारणाएँ कि सारी सामाजिक व्यवस्था उसके विभिन्न भागों की अर्न्तनिर्भरता तथा अर्न्तसहयोग पर आधारित है । दूसरी सारी व्यवस्था बहुभागीय इकाइयों की पारस्परिक अर्न्तक्रियाओं पर आधारित है । पेरेटो का सारा विश्लेषण संतुलन असंतुलन अवस्थाओं का है । पेरेटो उन कारकी को देखना चाहते थे जो समाज में संतलुन -असंतुलन अवस्थाओं का उन कारकों के माध्यम से देखना चाहता था जो उसे प्रभावित करते हैं । लेकिन बाद में पेरेटो ने अन्यत्र सामाजिक संरचना के जैविक प्रारूप को अस्वीकार भी किया तथा उसके स्थान पर यांत्रिक प्रारूप की चर्चा की । इसीलिए पेरेटो ने जब समाजशास्त्र को परिभाषित किया तो कहा कि समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक व्यवस्था में संतुलन की अवस्थाओं का विश्लेषण करता है ।

अंत में इस संदर्भ में मर्टन की चर्चा की जा सकती है । मर्टन ने अपने प्रतिमानहीनता के अध्ययन में संरचनात्मक आधारों पर चर्चा की थी । मर्टन का मानना था कि सामाजिक संरचना के अनेक तत्वों में से दो तत्व महत्वपूर्ण हैं - सांस्कृतिक लक्ष्य तथा संस्थागत प्रतिमान, पहले तत्व में वे लक्ष्य तथा उद्देश्य आते है जो संस्कृति द्वारा स्वीकृत हैं और जिन्हें समाज के अधिकांश सदस्य अपनी आवश्यकता के रूप मे स्वीकार करते हैं । तत्वों का दूसरा पक्ष इन लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों को प्राप्त करने का है जो संस्थागत साधनों द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं । इन दोनों का संतुलन ही सामाजिक संरचना निर्मित करता है । यह संतुलन भंग होते ही विचलन तथा प्रतिमानहीनता की समस्या पैदा करता है । मर्टन ने सामाजिक संरचना के साथ -साथ प्रकार्यो की भी चर्चा की और प्रकार्यो के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया । प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए रचित पेराडिम में भी मर्टन ने उन संरचनात्मक आवश्कताओ का उल्लेख किया था, जो विभिन्न इकाइयों का परिणाम थी मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में संरचना पूर्व अनुमानित थी और प्रकार्यात्मक विश्लेषण का बहुत कुछ संदर्भ उससे जुड़ा हुआ था।

संरचनात्मक उपागम एक और पक्ष टालकट पार्सन्स का है । पार्सन्स के अनुसार किसी भी सामाजिक प्रणाली में दो संरचनात्मक पक्ष हैं । पहले पक्ष में नातेदारी प्रणाली, संस्तरण शक्ति और सत्ता संरचना धर्म और मूल्य का एकीकरण है । संरचना का दूसरा पक्ष उपदानात्मक उपलब्धियाँ हैं तथा स्तरीकरण है । सभी समाजों में किसी ने किसी प्रकार की सुविधा तथा पुरस्कार वितरण की पद्धति पाई जाती है कुछ भूमिकाओं को करने के लिए अधिक

सुविधाएँ तथा पुरस्कार मिलते हैं । व ही पुरस्कार तथा सुविधाएँ मनुष्य की हैसियत या समाज में उसका स्थान निर्धारित करते है । कम, मध्यम तथा अधिक, सुविधष्प्रों और पुरस्कारों के आधार पर ही संरचनात्मक संस्तरण बनता है । पार्सन्स ने इस संबंध में सत्ता संरचना की व्याख्या भी की । पार्सन्स प्रकार्यत्मक विश्लेषण के विशेषज्ञ भी माने जाते थे ।

10.04 समाज के कुछ प्रमुख संरचनात्मक दृष्टिकोण

समाज और सामाजिक व्यवस्थाओं का चित्रण अलग -अलग समाजशास्त्रियों ने अलग - अलग तरीके से किया है । इन चित्रण का यह उद्देश्य यह समझाना भी है कि उनकी दृष्टि से संरचना का मूल आधार क्या है और यह संरचना अंतत: समाज के संचलान तथा परिवर्तन के लिए किस प्रकार काम करता है । इन संरचनाओं के चित्रण का प्रयोजन चिन्तन के परिप्रेक्ष्य तथा समाज के विश्लेषण दोनों के लिए था । इनमें से दो या तीन चित्रणों का हम वर्णन कर सकते हैं ।

यद्यपि मार्क्स संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम के समाजशास्त्री नहीं है, पर समाज के आधारों की जो व्याख्या उन्होनें की है, उससे समाज का एक संरचनात्मक चित्रण अवश्य उभरता है । मार्क्स ने समाज की व्याख्या के लिए उसे दो भागों में बाँटा था । मूल संरचना तथा बाहय संरचना । मूल संरचना आर्थिक तथा बाहय संरचना इन आर्थिक प्रक्रियाओं से उभरी संस्थाओं से निर्मित हैं । मार्क्स के इस संरचना चित्रण को निम्न रूप मे देखा जा सकता है

मार्क्स की सामाजिक संरचना

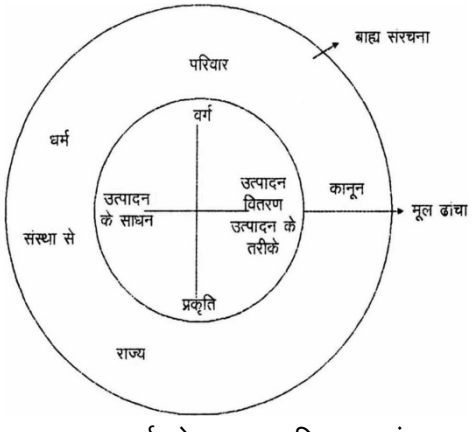

जैसा कि ऊपर कहा गया, मार्क्स ने समाज की मूल संरचना को आर्थिक संरचना माना। मनुष्य प्रकृति से उत्पादन करता है तथा उत्पादन का वितरण करता है । इसी वितरण से वर्ग उत्पन्न होते हैं और सामाजिक संरचना का स्तरीकरण भी है । यही मूल संरचना बाहय संरचना में प्रतिबिंबित होती है । बाहय संरचना में संस्थाएँ, जैसे परिवार, राज्य धर्म आदि शामिल है । मूल संरचना जैसी होगी वैसी ही बाहा संरचना होगी । इन दोनों को मिलाकर समाज की पूर्ण संरचना बनती है । मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक व्याख्या में स्पष्ट किया कि इतिहास पहले मूल संरचना में परिवर्तन लाता है, दो संरचनाओं के बीच अर्न्तविरोध के कारण क्रांतिजन्य अवस्थाएँ पैदा होती है और समाज की संरचनाएँ बदलती रहती है । यही इतिहास क्रम है । मार्क्स की संरचनाओं का परिवर्तन ऐतिहासिक क्रम है ।

इसी प्रकार से पेरेटो का समाज चित्रण भी देखा जा सकता है । पेरेटो के इस चित्रण को निम्न रूप में देखा. जा सकता है : -

पेरेटो की सामाजिक संरचना मनोविज्ञान पर आधारित है । प्राकृतिक पर्यावरण मानवीय भावना की स्थायी सार्वभौमिक स्थितियाँ मूल प्रवृतियों का निर्माण करती है । ये ही सामूहिक परिस्थितियाँ भावनाएँ विकसित करती है जिनसे रेजीडयूज तथा डेरीवेशन की सृष्टि होती है । पेरेटो के अनुसार वे सब तत्व मिलकर समाज की संरचना तैयार करते है ।

एक और समाजशास्त्री कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत सामाजिक संरचना के चित्र को भी देखा जा सकता है । अगस्त कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक कहे जाते है और अपने लेखन के प्रारंभ में ही उन्होंने विश्लेषण को संरचनात्मक आधार दिया था ।

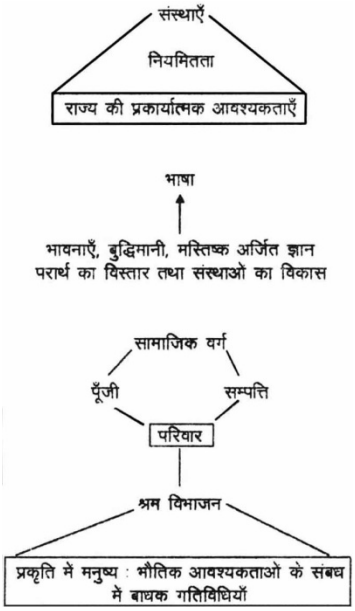

अगस्त कॉम्ट की सामाजिक संरचना भी बहुत कुछ उन भौतिकवादी आवश्यकताओं से प्रारंभ होती है जो मनुष्य के मूल अस्तित्व के लिए आवश्यक है । ये ही आवश्यकताएँ, श्रम विभाजन, वर्ग तथा अन्य संस्थाओं को जन्म देती है समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को

ये संस्थाएँ पूरा करती है और संस्थाओं के प्रति अपनी सहमति व्यक्त करती है यही सामाजिक सहमति सारे समाज के संचालन के लिए प्रतिबद्ध है ।

सामाजिक संरचना के विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा अलग -अलग आधारों पर जोर दिये जाने के कारण अलग -अलग चित्र वर्णित किये जा सकते हैं, पर संरचना का मूल आधार यथावत देखा जा सकता है अर्थात् सामाजिक संरचना समाज की कतिपय इकाइयों के पारस्परिक समन्वय के आधार पर बनती है । मार्क्स की इकाइयाँ भौतिकवादी तथा उत्पादन ओर उसके वितरण के आधार पर बनती है । मार्क्स की संरचना के दो भाग संपूर्ण समाज की इकाईयों के पारस्परिक संबंधो पर केन्द्रित हैं । पेरेटो की सामाजिक संरचना का चित्र मनोवैज्ञानिक है जो व्यवहार तथा सम्बंधों की दृष्टि से Residues तथा Derivations के माध्यम से तार्किक तथा अतार्किक क्रिया की प्रक्रिया को साथ -साथ जोड़ता है । कॉम्ट की सामाजिक संरचना का आधार संस्थागत है जो सामाजिक संरचना का निमार्ण करती है ।

सामाजिक संरचना के उपर्युक्त तीन चित्र केवल उदाहरण है । ये उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि समाज की संपूर्णता के विश्लेषण के लिए संरचना के स्वरूप किस प्रकार निर्मित किये जाते है तथा उनका विश्लेषण किस प्रकार किया जाता है ।

10.05 संरचना उपागम के कुछ अन्य पक्ष

सामाजिक संरचना का एक और पक्ष समूहबद्ध तथा अनुभवाश्रित धर्म तथा मूल्यों के एकीकरण का है । मनुष्य के जीवन में अनेक तरह की परिस्थितियाँ आती है और उसको अपना सामंजस्य अनेक प्रकार की परिस्थितियों के साथ करना पड़ता है । अनुभवों के आधार पर ही आदिम युग से आधुनिक युग तक अनेक सामंजस्य किये गये हैं । अनुभव के आधार पर जो सामंजस्य किये गये हैं, उनमें (1) जीवन की अनिश्चितता तथा मृत्यु की सार्वभौमिकता (2) निकटतम व्यक्तियों की मृत्यु तथा उसका संवेगात्मक प्रभाव, (3) बाहय प्रकृति तथा उसके व्यवहार का प्रभाव जैसे मौसम की अनियमितता तथा उसका फसलो, पशुओं तथा मानवीय अस्तित्व पर प्रभाव तथा (4) प्रत्याशा, निराशा तथा उनके नतीजे आदि प्रमुख हैं. ।

मनुष्य उपर्युक्त परिस्थितियों से अपना सामंजस्य करता है इस सामंजस्य के पीछे मनुष्य की अपनी इच्छाएँ नहीं हैं, बल्कि उसके पीछे सामाजिक एव सांस्कृतिक आधार है । दूसरे शब्दों में इस सामंजस्यता का अर्थ केवल सामाजिक संरचना के आधार पर ही समझी जा सकती है।

सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष सांस्कृतिक मूल्यों का भी है । अपने सांस्कृतिक मूल्यो के द्वारा समूह अपने सदस्यो के लिए आचरण का मानदण्ड निर्धारित करता है । इस निर्धारित आचरण का सबसे बड़ा मानदण्ड यही है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा क्या उचित है तथा क्या अनुचित? सामाजिक मूल्यों के भी तीन पक्ष है - भावनात्मक, ज्ञानात्मक तथा मूल्यात्मक । मूल्यों के साथ हम भावनात्मक स्तर पर जुड़े रहते हैं । पर साथ ही मूल्य ज्ञान अथवा वैचारिकी आधार पर भी निश्चित किये जाते हैं । दूसरे शब्दों में विचारधाराएँ भी उन आचरणों को निर्धारित करती हैं जो समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर

सकें । जब हम मूल्यों को तुलनात्मक दृष्टि से उसके औचित्य तथा अनौचित्य को देखना प्रारंभ करते हैं तो मूल्यांकन मूल्यात्मक हो जाता है।

सामाजिक संरचना का एक और आधार सामाजिक विभेदीकरण तथा सामाजिक संस्तरण है । समाज में श्रम विभाजन के आधार पर व्यक्तियों के पद और स्थिति का विभाजन होता हैं। विभेदीकरण के अन्य आधार रंग, लिग आयु भी होती है । कभी -कभी इन आधारों पर श्रैष्ठता तथा निम्नता का निर्धारण भी होती है । स्तरीकरण के निर्धारण में भी भूमिका तथा हैसियत का हाथ है । स्तरीकरण सामाजिक असमानता का भी प्रतिबिंब है । किस प्रकार का सस्तरण है - यह भी सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण पक्ष है ।

सामाजिक संरचना में एक महत्वपूर्ण पक्ष नृजातिकी का भी है । प्राय: नृजातियॉ सामाजिक संरचना के विभेदीकरण को समझाती है और संरचना मे विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के संबंधों को स्पष्ट करती है अमेरिका में काले और गोरे की प्रस्थिति इसका एक उदाहरण है । भारत की जाति व्यवस्था में अनुसूचित जाति के संबंध में चर्चाएँ होती है । भारतीय समाज में संपूर्ण जाति संरचना की चर्चा भी की जाती है । प्राय: जाति व्यवस्था को भारतीय सामाजिक संरचना की विशेषता भी कहा जाता है ।

10.06 सारांश

समाजशास्त्रीय विश्लेषणों के कई उपागमों में से एक उपागम संरचना का है । प्रारम्भिक समाजशास्त्रीयों मे से कई समाजशास्त्री सामाजिक संरचना को जैविक संरचना के साथ जोड़ते थे । अत: संरचनात्मक उपागम दोनों की इसी समकक्षता पर आधारित है । हर्बर्ट स्पेंसर ने जैविक समानता तथा असमानता दोनों का ही उल्लेख किया है । पर यह कल्पना निरन्तर चलती रही तथा कई अन्य समाजशास्त्रियों ने इस उपागम, के आधार पर समाज का विश्लेषण किया । इसी आधार पर कई समाजशास्त्रियों ने विभिन्न आधारों पर सामाजिक संरचना का चित्रण भी किया ।

सामाजिक संरचना का मूल अर्थ विभिन्न इकाइयों द्वारा निर्मित संरचना से है । ये इकाईयां एक -दूसरे पर निर्भर हैं और अपने कार्यो द्वारा संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के संचालन का कार्य करती हैं । एक प्रकार से संरचना के संदर्भ प्रकार्य से भी जुड़े हुए है । इसीलिए ये संपूर्ण रूप से यह उपागम संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के रूप में भी स्वीकार किया जाता है।

10.07 शब्दावली

सामाजिक व्यवस्था	:	सामाजिक घटनाओं की क्रमबद्ध तथा नियमित पद्धति ये घटनाएँ परस्पर संबंधित होती है ।
सामाजिक संरचना	:	सामाजिक इकाइयों के पारस्परिक सापेक्ष्य संबंधो की संरचना।
प्रकार्य	:	संरचना की इकाइयों के वे कार्य जो संरचना को चलाने में अपना योगदान देते हैं ।
भूमिका	:	वे कार्य जो समाज में प्रस्थितियो के साथ जुड़े हुए होते है :

10.08 बोध प्रश्न

1. संरचना उपागम का अर्थ बताइये । इसकी प्रमुख मान्यताऐं क्या हैं? समझाइये ।
2. संरचनात्मक उपागम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

10.09 सन्दर्भ ग्रंथ:

1. Martindale Don (1960);The Nature and Types of Sociological Theories, Boston, Houghton Miffin
2. Flecher Ronald (1971); The Making of Sociology, Vol.I and II, London , Michel Josehp.
3. Abraham Francis (2008); Modern Sociological Theory, New Delhi , Oxford.
4. Adhams, Sydie (2004) ; Sociological Theory, New Delhi Sage
5. Zetiline M. (1987); Rethinking Sociology, Jaipur, Rawat.
6. Johnson, Harry M (1966) ; Sociology, New Delhi, Allied

इकाई - 11

नृजाति पद्धति शास्त्रीय उपागम या एथनोमेथोडोलॉजी

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.01 प्रस्तावना
11.02 नृजातीय पद्धति के विकास की पूर्वदशाएँ
11.03 नृजातीय पद्धति का अर्थ व परिभाषा
11.04 नृजातीय पद्धति के पहलुओं का अध्ययन
11.05 गॉरफिन्क्रल का योगदान
11.06 हरसल एवं शूटज का योगदान
11.07 नृजातीय पद्धति की अवधारणायें
11.08 नृजातीय पद्धति के प्रकार
11.09 नृजातीय पद्धति की अध्ययन पद्धतियाँ
11.10 नृजातीय पद्धति का महत्व
11.11 सारांश
11.12 शब्दावली
11.13 बोध प्रश्न
11.14 संदर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात आप जानेगे कि -

1. नृजातीय पद्धति से सामाजिक अन्त: क्रिया होती है जिससे सामाजिक यथार्थ का निर्माण होता है।
2. नृजातीय पद्धति में व्यक्ति अपनी अन्त: क्रियाओं के माध्यम से सामाजिक प्रघटनाओं सामाजिक स्थितियों को एक विशेष अर्थ देता है । जिससे सरंचना परिवर्तनशील होता है ।
3. नृजातीय पद्धति के रूप में समाजशास्त्र में कुछ नवीन उपागमों का विकास हुआ है जिसने परम्परागत विचारधाराओं को चुनौती दी है ।

   नृजातीय पद्धति में कर्ता अपनी अन्त: क्रियाओं के माध्यम से सामाजिक प्रघटनाओं सामाजिक स्थितियों को एक विशेष रूप में देखता है । वही वर्सटेहन पद्धति में इथनो पद्धति पर अधिक बल दिया गया है और वस्तुपरक अध्ययन पद्धति आकड़ो का गणनात्मक पक्ष व सर्वेक्षण विश्लेषण को शंका की दृष्टि से देखती है । नृजातीय पद्धति एक व्यक्ति परक उपागम है ।

11.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में सत्य की खोज या प्रघटना के अध्ययन के अन्तर्गत नृजातीय पद्धति शास्त्रीय उपागम को एक नवीन विकास माना गया है जिसने परम्परागत विचारधाराओं को चुनौती दी है ।

संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम की अपनी अर्न्तनिहित सीमाएं होने के कारण इस पद्धति के द्वारा सामाजिक यथार्थ को प्रत्यक्ष और निकटता से अध्ययन करने हेतु ऐसी उपागम की आवश्यकता अनुभूत हुई जिनके द्वारा सामाजिक यथार्थ और सामाजिक प्रघटनाओं की उन आधारित पहलुओं को अनावरित किया जाता है । मुख्य रूप से नृजातीय पद्धति शास्त्रीय उपागम मानवीय व्यवहार के उन पक्षों के अध्ययन करने पर बल देती है जो कि व्यक्ति के जीवन में दिन प्रतिदिन के सामान्य व व्यावहारिक क्रियाओं से सम्बन्धित है।

नृजातीय पद्धति के पक्षधर सामाजिक अन्तक्रिया के माध्यम से जिस सामाजिक यथार्थ का निर्माण होता है, उसके अध्ययन पर बल देती है । परम्परावादी समाजशास्त्री सामाजिक यथार्थ को प्रदत्त मानते है । जिसके अन्तर्गत सामाजिक संरचना का स्थिर दृष्टिकोण प्रमुख रूप से उभरता है जबकि नृजातीय पद्धति शास्त्रीय उपागम के प्रवर्तक सामाजिक संरचना को गत्यात्मक व परिवर्तनशील प्रघटना मानते है । कर्ता अपनी अन्त: क्रियाओं के माध्यम से सामाजिक प्रघटनाओं सामाजिक स्थितियों को एक विशेष अर्थ प्रदान करता है । जिससे कि सामाजिक संरचना को परिवर्तनशील माना जाता है । नृजातीय पद्धति समझ पर अधिक बल देती है ।

11.02 नृजातिय पद्धति के विकास की पूर्वदशायें

समाजशास्त्री किग्सले डेविस ने माना हे कि केवल संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम समाजशास्त्र का यथार्थ माना जा सकता है । इस उपागम के मध्यम से होने वाले समस्त अध्ययन कार्य यथास्थिति को औचित्यता प्रदान करते है । स्वभाविक रूप से ऐसा समाजशास्त्र परम्परागत समाजशास्त्र कहा जाने लगा इस प्रकार समाज शास्त्र के अर्न्तगत होने वाले अध्ययन एवं अनुसंधान व्यवस्थावादी हो गये जिससे नितान्त स्वार्थो को अपनी निरन्तरता बनाये रखने का बौद्धिक आधार प्राप्त हुआ परन्तु इन सबके बावजूद भी समाजशास्त्र के भीतर द्वन्द चल रहा था । समाजशास्त्रियों की सामान्य प्रतीत थी कि समाज, सामाजिक संस्थाओं सामाजिक व्यवहार तथा सामाजिक जीवन के बारे में सत्यता व वास्तविकता का प्रकटीकरण नहीं हो रहा था और न ही समीचीन समाज निर्माण में समाजशास्त्रियों के योगदान का कोई महत्व दृष्टिगोचर हो रहा था । ऐसा लग रहा था कि नवीन व भारी भरकम शब्द जाल एवं सम्बन्धों की संरचना के अतिरिक्त सत्य के नवीन उपागम नहीं उभरे है । अनेक नवीन समाजशास्त्री इस बात से अंसतुष्ट थे कि वैज्ञानिक पद्धतियाँ आकड़ों के ढेर कम्प्यूटरों के उपयोग तथा व्यापक धनराशि के खर्च करने पर समाजशास्त्र को अधिक महत्वपूर्ण व विशिष्ट दृष्टिकोण से समझने में सफल नहीं हो रहा है ।

धीरे -धीरे आवाज उठने लगी कि प्राकृतिक विज्ञान और मानवीय विज्ञान एक ही धरातल पर नहीं रखे जा सकते । मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन वस्तुओं की तरह करना

कठिन है व उचित भी प्रतीत नहीं होने लगा । तारागण की कोई भावनाएँ नहीं होती न ही पेड पौधो को कोई चिन्ता होती है । लेकिन इससे भिन्न समाजशास्त्री की अपनी विषय वस्तु के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होता है । प्रारम्भ से ही वह अपनी अध्ययन सामग्री में डूबा रहता है । वह सदैव अपने अध्ययन प्रतिक्रियाओं का सहभागी पर्यवेक्षक होता है । उसके अध्ययन व अवलोकन सभी एक विशेष समाज एक विशेष समय वे स्थान की उपज होते है । वह स्वयं समाज की उपज होता है जो कि समाजीकरण की उस प्रक्रिया से गुजरता है जिसमें की समाज के अन्य सदस्य समाहित होते है । इस प्रक्रिया के दौरान वह समाज के मूल्यों मानदण्डों झैर विश्वासों का आन्तरीकरण करता है । पारसन्स कहते है कि ऐसा करने में वह मूल्ययुक्त या मूल्य भारित नहीं रह सकता । किन्तु वास्तव में देखा जाए तो मानवीय मूल्य वस्तुओं की तरह नहीं हो सकते । मकान जैसा है वैसा ही रहेगा ।किसान का स्वभाव एकदम नहीं बदल जाता परन्तु मानवीय सम्बन्ध इतने सुगम नहीं होते । मानवीय प्रकृति एवं स्वभाव इतने दुसह एवं विचित्र होते है कि उनके मान वचन और कर्म में समन्वय नही होता । कभी -कभी व्यक्ति सोचता कुछ और कहता कुछ अन्य है । अत: ऐसे व्यवहार को विज्ञान की कुछ विचित्र कोटियों में बांधना असम्भव नहीं होता तो कठिन अवश्य है ।

कुछ पेड पौधों का अध्ययन तो प्रयोगशाला में संभव है किन्तु क्या किसी साम्प्रदायिक दंगे का अध्ययन करते समय किन्हीं दो विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों को प्रयोगशाला में लडवाया जा सकता है ।

11.03 नृजाति पद्धति का अर्थ एवं परिभाषा

नृजाति पद्धति को अंग्रेजी में (Ethnomethodology) कहते है । जो दो शब्दों से मिलकर बना है । प्रथम शब्द एथनो (Ethno) का अर्थ है, व्यक्ति सामान्य ज्ञान (People's commonsens) तथा दूसरा शब्द मैथोडोलॉजी (Methonodology) से अभिप्राय है अध्ययन करने की पद्धति (Method) से हे । दोनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ व्यक्तियों के अध्ययन करने की पद्धतियों का प्रयोग करना ।

जिन विचारकों ने इस सम्प्रदाय को समाजशास्त्र के क्षेत्र में आधार प्रदान किया उनमें गारफिन्कल (Garfinkal), एल्विन गौल्डनर (Alvin Goulder), पीटर बर्जर (Peter Berger), डिविट बिन्स (Divid Binns), बनार्ड फिलिप्स (Bernared Phillips) प्रमुख है । जिन्होंने नृजाति पद्धति शास्त्रीय की नीव डाली ।

नृजाति पद्धति की आधारशिला रखने वाले समाजशास्त्रियों में गारफिन्कल का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इन्होंने नृजाति पद्धति में प्रमुख दो विचार शामिल किये है । 1. समस्याओं को सुलझाने के लोगों के अपनी तरीके होते है तथा वे इन तरीकों को विज्ञान के तरीकों से तुलना करते है । 2. एथनो में लोक विचार होता है अर्थात इससे बिम्ब साधारण या प्रतिदिन की अन्त: क्रियाओं पर होता है । मुख्य अध्ययन इस बात पर केन्द्रित किया जाता है कि लोग अपने अनुभवों पर किस प्रकार स्पष्टीकरण देते है तथा अपनी समस्या को सुलझाने के लिए वे क्या प्रयास करते है ।

गारफिन्कल ने माना है कि एथनो उन लोक ज्ञान पद्धतियो का संग्रह करने का प्रयास करेगी । जिसके द्वारा मनुष्य के विचारों के क्रम को निर्धारित किया जाता है । इस पद्धति का अवलोकन मनुष्य की दैनिक जीवन की गतिविधियों मे, किया जाता है ।

एल्विन गोल्डनर के अनुसार इस उपागम में चेतावनी इसलिए नहीं दी जाती क्योंकि सामाजिक प्रघटना का वर्णन और व्याख्या एक अवलोकन कर्ता के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है । इस उपागम द्वारा सामाजिक घटनाओं के प्रति सूझ प्राप्त की जाती है ।

पीटर बर्जर ने अपनी पुस्तक (Invitation to sociology) में बताया है कि वस्तुयें जैसे प्रतीत होती है, वैसी नहीं अर्थात वस्तु के बारे में वास्तविकता की जानकारी उसके आवरण को हटाकर ही की जा सकती है । उनकी मान्यता है कि सामाजिक यथार्थ संरचित व पुन' संरचित होता है । जो वस्तुएँ जैसी दिखाई देती है वे वैसी अर्थात वस्तु के बारे में वास्तविकता की जानकारी उसके आवरण को हटाकर ही की जा सकती है । उनकी मान्यता है कि सामाजिक यथार्थ संरचित व पुन: संरचित होता है ।

बनार्ड फिलिप्स ने अपनी कृति (Sociology for concept to practice) में इथनो पद्धति की सैद्धान्तिक अभिनति है । जिसका उद्देश्य यह वर्णन करना है कि लोग दिन -प्रतिदन की अन्त: क्रिया में किस प्रकार परिस्थिति की परिभाषा रचते है और वास्तविकता को डालते है और बताया है कि ये समस्या सुलझाने के विषय में सामान्य बुद्धि के सिद्धान्त है अथवा लोक सिद्धान्त है । एथनो पद्धति वादियों के लिए सामाजिक संरचनायें यथावत स्वीकार्य नहीं होती ।

डिविड बिन्स ने अपनी पुस्तक में एथनो पद्धतिवादी उपागम का विश्लेषण करते हुए बताया है कि अर्वाचीन समाजशास्त्र में प्रघटना उपागम की सर्वाधिक अतिवादी की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में नृजाति पद्धति उभर कर आई । नृजाति पद्धति शास्त्र की धारणा है कि यह एक ऐसी पद्धति है जिसको विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त किया गया है ।

11.04 नृजाति पद्धति के पहलुओं का अध्ययन

जर्मनी के.ए. मारक्यूस ने अपनी पुस्तक में परम्परा गत समाजशास्त्र का विरोध किया एवं नये समाजशास्त्र की स्थापना की इन्होनें पश्चिमी एवं आधुनिक औद्योगिक समाज की आलोचना की । क्योंकि उनका अध्ययन व विश्लेषण वैज्ञानिक उपागमों प्रत्यक्षवाद के बोझ से भारित होकर स्थिति को बनाये रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर किया गया था । फलत: नवीन एवं संशोधित उपागम के रूप में नृजाति पद्धति उभर कर आई ।

नृजाति पद्धति के अन्तर्गत तीन पहलुओं पर इसके प्रवतको ने बल दिया ।

1. दिन -प्रतिदिन की सामान्य क्रियाये (Common activities of day to day) नृजाति पद्धति के सिद्धान्त को मानने वाले सामाजिक अन्त: किया के माध्यम से जिस सामाजिक यथार्थ का निर्माण होता है, उसके अध्ययन पर बल देते हैं । परम्परावादी समाजशास्त्र सामाजिक यथार्थ को प्रदत मानते है । जिसके अर्न्तगत सामाजिक संरचना का स्थिर दृष्टिकोण 'प्रमुख रूप से उभरता है । जबकि नृजाति पद्धति के प्रवर्तक सामाजिक संरचना को गयात्मक व परिवर्तनशील प्रघटना मानते है, जिनमें लघु व दिन -प्रतिदिन की घटनाओँ' जिनसे हम मानव

होने के नाते जुडे रहते है का भी अध्ययन सामाजिक अन्तःक्रिया व समाजशास्त्र की महत्ता की दृष्टि सें करना जरूरी है ।

गारफिन्कल दिन -प्रतिदिन के संसार का अध्ययन करना चाहते है । उनकी धारणा थी कि तुम अपने चारों. और देखो और प्रत्येक जगह तुम पाओगे कि सामान्य व्यक्ति अपने दिन -प्रतिदिन के क्रिया -कलापो को आम या जाने पहचाने ढंग से निर्वहित करते है

2. भाषा का सामाजिक पक्ष (Socio linguistic aspect) समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से भाषा का अर्थ महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आविष्कार है । जो मानव द्वारा अविष्कृत है । अत: इसका ज्ञान होना जरूरी है क्योंकि भाषा के माध्यम से हम विचारों का संसार विचारों की अभिव्यक्ति करते है जो कि हमे अनौपचारिक क्रम में बांधता है । शब्दों के केवल वे ही अर्थ नहीं होते जो शब्दकोष (Dictionary) में पाये जाते है या उन शब्दों का ग्रामर (Garmmer) की दृष्टिकोण से जो अर्थ निकालते है वे ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी सर्वमान्य हो यह जरूरी नहीं । वैसे भाषा का अर्थ भाषाशास्त्र से है जो यह बताता है कि वाक्य का शाब्दिक अर्थ क्या है? किन्तु सामाज में या समुदाय में जब भाषा को प्रयुक्त किया जाता है तो उसका अर्थ ग्रामर या शब्दकोष पर आधारित न होकर भिन्न होता है ।

भाषा के अतिरिक्त प्रतीकात्मक अन्त: क्रिया मूक भाविकायें हावभाव, मौन गतिविधियाँ संकेत इशारे आदि द्वारा भी पता लगाया जा सकता है कि व्यक्ति के चेहरे पर कैसे भाव है । हास्यात्मक, क्रोधात्मक या सामान्य भाव है ।

3. सामाजिक प्रतिमानों का वह पक्ष जो कि कर्ता अपने व्यववहार में उपयोग करता है, किसी भी संरचना में प्रतिमानित प्रारूप द्वारा जिस प्रकार की यथार्थता का अवलोकन किया जाता है वह स्थिर होगी और उसका परिणाम पूर्व निर्धारित होता है क्योंकि पूर्व मान्यताएँ किसी भी सामाजिक क्रिया के परिणामों को निश्चित व निर्धारित करते है । अत: पूर्व मान्यताओं एवं रूढ़िगत विचारों से हटकर यथार्थ में निर्वहति व्यवहार को जानने का प्रयास करना होगा । स्थिर प्रतिमानित व्यवस्था से यथार्थ को जानने का प्रयास करना सही नहीं होगा क्योंकि स्थिर प्रतिमानित व्यवस्था से यथार्थ को समझा जाना सामाजिक प्रघटना के सभी पक्षों को सही अर्थ प्रदान नहीं करता । इसलिए नृजाति पद्धति यथार्थ को जानने के लिये इस बात पर महत्व देती है कि किसी भी संरचना में व्यक्तिगत विभिन्नता का पता लगाया जावें । व्यक्तिगत विभिन्नता से एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक यथार्थ का सृजन होता है ।

उदाहरणार्थ कक्षा की संरचना को केवल होशियार व कमजोर विद्यार्थियों के प्रभाव के आधार पर नहीं समझना चाहिये अपितु कक्षा की संरचना में व्यक्तिगत छात्र का प्रभाव कैसा है? वे अपने व्यक्तिगत स्तर पर अनुशासन सम्बन्धी नियमो की अनुपालना में प्रतिमानों का प्रयोग कैसे करते है? इन सबकी व्यक्तिगत जानकारी जरूरी है ।

11.05 गारफिन्कल का योगदान

गारफिन्कल समाजशास्त्रियों में प्रमुख समाजशास्त्री है जिन्होंने नृजाति पद्धति का विस्तार से वर्णन किया । एथनो शब्द के जन्म के बारे में गारफिन्कल ने स्वयं अपनी कृति Studies in Ethonomethodology 1967 में इसका उल्लेख किया ।

एक बार स्ट्रोड बैंक के सुझाव पर 1945 में गारफिन्कल सोल मेंडस स्विज विजिटा में जूरी के प्रोजेक्ट पर कार्य कर रहे थे जब नृजाति शब्द का प्रयोग प्रथम बार उसके मस्तिष्क मे आया । इसके अन्तर मे गारफिन्कल ने स्पष्ट किया कि नृजाति उन लोक ज्ञान पद्धतियों का संग्रह करने का प्रयास करेगी जिसके द्वारा मनुष्य के विचारो के क्रम को निर्धारित किया जा सके ।

मानवशास्त्रीय सम्प्रदाय के प्रमुख विचारकों गारफिन्कल की यह मान्यता की कि मानवशास्त्रीय पद्धति के द्वारा समाजशास्त्र की हम अनेक आधारभूत अवधारणाओं का पुन: निमार्ण कर सकते है । उन्हीं के शब्दो मे मानवशास्त्रीय पद्धति के द्वारा सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन का दृष्टिकोण इस तथ्य पर बल देता है कि एक समाजशास्त्री को यह अध्ययन करना चाहिए कि व्यवहारिक तथा दिन -प्रतिदिन की दशाएँ किस प्रकार सामाजिक रूप में संगठित होती है इस रूप में वह कैसी दिख पड़ती है? कैसे उनकी जानकारी प्राप्त होती है ' और किस प्रकार व्यक्ति एक सामान्य क्रम में उन्हें देखते है? जिस प्रकार समाज के दूसरे व्यक्ति भी उन्हें उसी प्रकार देखते है ।

गारफिन्कल ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य ने सामाजिक संसार को एकता के ताने बाने में बुना है उसका कारण कोई पवित्र नैतिकता (Sacred Morality) नहीं अपितु इस प्रकार की समाज की एकता पारस्परिक भागदीरी और समाज की सामूहिक चेतना पर निर्भर करती है । इनकी धारणा है कि संसार या समाज का संगठित रूप इसलिये संभव है, कि लोग स्वाभाविक रूप से इसको समझ सके । वे इस प्रकार से व्यवहार करते है कि जिससे समाज का संगठन बना रहता है ।

गारफिन्कल ने मनुष्य के रोजाना के जीवन और रोजाना की गतिविधियों को अध्ययन का केन्द्र बिन्दु माना है । उनका यह भी विश्वास है कि हमें अपने आपको सामान्य सूझ -बूझ के संसार से जोड़ना चाहिये । सामान्य अर्थ निरूपित संसार (Commansense world) द्वारा गारफिन्कल ने टालकट पारसन्स या गौफमैन की तरह कोई बडी -बड़ी अवधारणायें तथा अमूर्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया । लेकिन सामान्य बुद्धि के आधार पर यह कहा है कि हमारा समाज व संसार हमारी सामान्य बूझ पर निर्भर करता है । सामान्य रूप से भीतरी छिपे (tacit) व्यवहार के दो नियम है । एक तो यह है कि मनुष्य के अस्तित्व का प्रत्यक्ष या प्रकट रूप से पता लगाया जायें । इसका नियम यह है कि सामाजिक व्यवहार के नियम सूझ -बूझ के आधार पर बनायें जाये ।

गारफिन्क्रल ने आगे कहा है कि प्रत्येक क्रिया जो कि व्यक्ति द्वारा घटित होती है या समाज में घटित होती है महत्वपूर्ण है । दिन प्रतिदिन घटने वाली घटनाओं द्वारा हमारा जीवन अधिक प्रभावित होता है अत: हमकी ऐसी घटनाये तुच्छ और अल्पमहत्व की समझकर छोड़ नहीं देनी चाहिये बल्कि उनका अध्ययन व विश्लेषण द्वारा अर्थ निरूपण करके सामाजिक यथार्थ का पता लगाना चाहिए । गारफिन्कल ने आगे लिखा है कि यह नारा बन चुका है कि व्यवहारिक गतिविधियाँ को समझने के लिये सामान्य ज्ञान का महत्व बढता जा रहा है मनुष्य का जो संगठित अनुभव है जो ज्ञान मनुष्य को दैनिक जीवन के अस्तित्व से प्राप्त होता है उसका विश्लेषण सामान्य ज्ञान के आधार पर किया जाना आवश्यक है ।

गारफिन्कल मानव शास्त्र में कुछ विषयवस्तु का अध्ययन कर रहे थे जिसमें गैर पाश्चात्य जनजातियों द्वारा वैज्ञानिक सिद्धान्तों से भिन्न स्वदेशी सिद्धांत विकसित करने का वर्णन था । यह सिद्धांत स्वास्थ्य पौधों एवं भौतिक ब्रह्मांड के विषय में थे । इन लोक सिद्धातो को इथनोमेडिसिन इथनो बाँटनी इथनो फिजिक्स इथनोएस्ट्रोनो भी आदि के रूप में नामांकित किया गया ।

इस प्रकार गारफिन्कल ने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उसमें उनकी रूचि उन पद्धतियों को विकसित करने की रही है जिसके द्वारा सामान्य ज्ञान पर आधारित सामाजिक प्रघटनाओं में समरूपता लाई जा सके ।

गारफिन्कल के लोक विधि उपागम सम्बन्धी प्रमुख विचारों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है ।

1. अध्ययन का केन्द्रीय विषय (थीम) गारफिन्कल के अध्ययन का केन्द्रीय मुद्दा यह है कि लोग स्वीकृत धारणाओं के अनुसार अपने व्यवहार का अनुकूलन क्यों और कैसे करते है ।
2. नवीन सैद्धान्तिक संदर्भ नृजाति पद्धति केवल एक नयी विधि मात्र नहीं हैं बल्कि यह एक वह सैद्धान्तिक संदर्भ है जो परम्परागत समाजशास्त्रीय अध्ययन की समस्याओं से हटकर है ।
3. सामाजिक तथ्य की तुलना में लोगो द्वारा अपनायी गयी विधियो का अधिक महत्व गारफिन्कल का कहना है कि सामाजिक तथ्य अपने आप में कुछ नहीं है । उनका निर्माण और अस्तित्व तो व्यक्ति की दिन -प्रतिदिन की गतिविधियों पर निर्भर हे ।
4. समाज की तुलना में व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण : नृजाति पद्धति प्रकार्यवादियों के विपरीत यह मानकार चलते है कि समाज में जो कुछ है वह समाज में नहीं बनाया है । उसे बनाने का श्रेय उन व्यक्तियों का अनुभव है जो समाज में रहते है ।
5. नृजाति पद्धति का उद्देश्य गारफिन्कल का मत है कि नृजाति पद्धति का उद्देश्य उस प्रक्रिया की पहचान करना है जिसके माध्यम से लोग समाज के नियम उननियम को स्वीकृत समझ कर चलते है ।

11.06 हसरल एवं सूटज का योगदान

हसरल एवं लूटज ने समाजशास्त्र में नृजाति पद्धति में मानविक अन्तःक्रियाओं की बात की है और कहते है कि वर्तमान में हमें अध्ययन में प्रतिमानात्मक प्रारूप आदर्श प्रारूप (Normative of or Ideal paradigm) को महत्व नहीं देना चाहिए । क्योंकि सामाजिक परिस्थितियां समयानुसार परिवर्तित होती जा रही है । सामाजिक दशा व परिस्थितियों के परिवर्तन के बावजूद भी इन सामाजिक प्रघटनाओ का उन्हीं पुरानी पद्धतियों से अर्थ निकालना अनुचित होगा । उसके स्थान पर निर्वहन प्रारूप (Interpretive paradigm) को महत्व देना चाहिए । हम किसी घटना को क्या अर्थ दे रहे है । उनका कहना है कि समाज शास्त्री को वही अर्थ निकालना चाहिए, जो कि किसी घटना को समझने हेतु कर्ता दे रहा है । सूटज का विश्वास है कि यथार्थ दो स्वरूपों भौतिक यथार्थ Physical Reality व सामाजिक यथार्थ Social Reality से मिलता है । प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न सामाजिक विज्ञान में विशिष्ट रूप से समाजशास्त्र में, सामाजिक यथार्थ का निर्माण व पुन: निमार्ण होता है । नृजाति पद्धति की नींव

दर्शनशास्त्र से बनी है । जिसके द्वारा घटनाओं को उनके वास्तविक स्वरूप में जानने के लिए हम पूर्व में दर्शन शास्त्र के महत्व को नगण्य मानते थे । वर्तमान में इसका खण्डन हो गया और कहा गया कि दर्शन के महत्व को भी स्वीकारा जाना जरूरी है । वर्तमान में ऐसी धारणा बन गई कि दार्शनिक प्रकृति द्वारा समाज को समझा जाना गलत या असंगत नहीं है ।

11.07 नृजाति पद्धति की अवधारणायें

समाजशास्त्र में नृजाति पद्धति की पाँच महत्वपूर्ण अवधारणाओं का उल्लेख किया है । जिन्हें इस उपागम के महत्वपूर्ण यंत्र (Tools) के रूप में प्रयोग करके नृजाति पद्धति शास्त्र सामाजिक यथार्थ को समझने का प्रयास करते है । नृजाति पद्धति में कोई घटना क्या है इस रूप में नहीं समझी जाती है । अपितु व्यक्ति द्वारा दिये गये अर्थ के संदर्भ में उसको समझना होता है । कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न उठाया कि वास्तविक निर्वहित पक्ष को जानने हेतु किस प्रकार की अवधारणाओं का प्रयोग किया जावें?

गारफिन्कल ने पाँच प्रमुख अवधारणाओं की चर्चा अपनी पुस्तक में की है जो निम्न है। क्रमबद्ध वर्गीकरण में कोई घटना क्या है इस रूप में नहीं समझी जाती है अपितु व्यक्ति द्वारा दिये गये अर्थ के संदर्भ में उसको समझना होता है । कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न उठाया कि वास्तविक निर्वाहित पक्ष को जानने हेतु किस प्रकार की अवधारणायें का प्रयोग किया जावे ।

गारफिन्कल ने पाँच प्रमुख अवधारणाओं की चर्चा अपनी पुस्तक में की है जो निम्न हे:-

1. **क्रमबद्ध वर्गीकरण (Indexicality)** बार हिलेर (Bar Hiller) ने सर्वप्रथम भाषा के इस क्रमबद्ध वर्गीकरण को विस्तार से समझने का प्रयास किया । अत: भाषा का अर्थ जैसा कि हसरल ने कहा हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम उस स्थिति, वाक्यों के उपयोग करने वालों के जीवन संवाद के पूर्व संदर्भ को ठीक से नहीं समझ लेते है । इसलिये कहा जाता है कि तब तक बातचीत करने वाले लोगों की पृष्ठभूमि का हमे ठीक से पता न हो तक तक हम पूरे संवाद के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकते है अत: शब्दों के अर्थ संदर्भ द्वारा बंधे होते है । गारफिन्कल ने क्रमबद्ध वर्गीकरण में भाषा सम्बन्धी व्यवाहारिक संदर्भ जीवन चरित्र पूर्वकृत बातों का उल्लेख किया है । क्रमबद्ध वर्गीकरण द्वारा किसी भी घटना की संदर्भ में चर्चा की जाती है । नृजाति पद्धति में क्रिया का संदर्भ समझना जरूरी है ।
2. व्यवहारिक तर्क संगतता (Practical Socilogical Reasoning) गारफिन्कल ने अपनी कृति नृजाति पद्धति के प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेखित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति समाजशास्त्री है क्योंकि केवल समाजशास्त्री ही घटनाओं को अर्थ प्रदान नहीं करते अपितु जो व्यक्ति समाजशास्त्री नहीं है वह भी सामाजिक घटनाओं को महत्व देता है, अर्थ प्रदान करता है । प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को परिस्थिति में सामजंस्य बनाने के लिए घटनाओं का अध्ययन व्यवहारिक ज्ञान के आधार पर करते है । उन घटनाओं को अर्थ निकालकर परिस्थितियों से समायोजिन करते है । अत: ऐसा मानते हुए हमे ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और जन सामान्य या साधारण व्यक्ति द्वारा घटनाओं को प्रदत्त अर्थ को सारहीन अर्थ न माना जायें।

3. **व्यवहारिक शब्दावली (Glossing practices)** व्यावहारिक शब्दावली को अर्थ प्रदान करने का अभ्यास इस शब्द संज्ञा का विकास शब्दावली (ग्लोसरी) से हुआ है । जिसका अभिप्राय है शब्दों के अर्थ का संग्रह । किसी व्यक्तिगत शब्द की किसी व्यक्ति ने अपनी व्यक्तिगत सूझ या दृष्टि से क्यों विवेचना की है ' उसे उस व्यक्ति द्वारा उस शब्द संदर्भ में ग्लोसरी कही जायेगी अर्थात ऐसे शब्दों का उपयोग जिनका अर्थ शब्दिक अर्थ से जुड़ा नहीं है किन्तु उस वाक्य या शब्द को अर्थ देने हेतु उसके अभूर्त अर्थ का सार निरूपण करना होता है । सार निरूपति शब्द दैनिक वार्तालाप में की गई ऐसी सामान्य बाते है जिनका कोई स्पष्ट व सीधा अर्थ नहीं होता किन्तु उनका अर्थ निकाला जाता है । इन संक्षेपित शब्दों से अभिप्राय शब्दों को लघु रूप या गौण अर्थ है ।

गारफिन्कल का कहना है कि हम दैनिक जीवन में ऐसे अनेक शब्द समूहों से बने वाक्यों को प्रयोग करते है जिसका कोई विशिष्ट अर्थ सीधा इंगित नहीं होता किन्तु उसका अर्थ उस शब्द में छिपा रहता है ऐसे शब्दों को जो कि सामाजिक संचार से पारस्परिक अन्त: क्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । जैसे - आलू -वालू वगैरह, चाय -वाय, सब्जी -फल -वल आदि और अंग्रेजी में एटसेक्ट्रा (etc.) में ।

चाय के साथ वाय का पृथकत: कोई सीधा अर्थ न होते हुए भी सामाजिक व्यक्ति इसका अर्थ चाय के साथ लिये गये नाश्ते से लगाते है ।

गारफिन्कल ने अपने पुस्तक "एथनोमेडोलोजी" मे पति पत्नि के मध्य हुये वार्तालाप का उदाहरण दिया है । जिसको के. डी. बेली ने अपनी कृति में उल्लेखित किया है । उन्होंने बताया कि एक पति पत्नि के मध्य हुए वार्तालाप को निम्न प्रकार से विश्लेषित किया गया ।

नीचे बाये कॉलम व वास्तव में क्या कहा गया था का उल्लेख है तथा सीधे दाये कालम में वार्तालाप करने वाले व्यक्ति वास्तव में उसका जो अर्थ समझे उसका वर्णन किया गया था ।

Husband I got some new Shoe laces for my shoe	As you will remember I broke a shoe lace one of my brown oxfords the other day, so, I stopped to get some new lace.
Wife Your loafers	Something else you could have gotten, that I was
Neend new heels	thinking of you could have taken in your black loafers which need heels badly yould get them taken care of pretty soon.

इस उपर्युक्त वर्णन से गारफिन्कल का आशय यह नहीं है कि सामान्य रूप से बिना कुछ कहे समझा जाये या समझा गया है लेकिन इस उदाहरण का अभिप्राय: दो दलों के मध्यम सामान्य बोध (Common understanding) या आपसी सहमती से है । वास्तव में उपरोक्त उदाहरण से गॉरफिन्कल कहना चाहते है कि बोध द्वारा उसने क्या कहा का ज्ञान यह जानने

की कोशिश करता है कि यह कैसें कहा गया । सामाजिक अन्तःक्रिया के रूप में सहभागिता करने वाले व्यक्ति जिनका अनुसरण करते है उन नियमों को जानना भी जरूरी है ।

4. **पुर्नचिन्तन (Reflexivity)** पुर्न चिन्तन घटना की परिस्थितियों का मात्र इकाई अनुलेख या प्रलेखन जरूरी नहीं है अपितु घटनाओं की स्थितियों व परिस्थितियों के बारे में चिन्तन मनन व पुर्नविचार करना जरूरी है जिसमें उस घटना के बारे में ऐसी अनेको जानकारी व ज्ञान मिलता है जिसकी जानकारी प्रारम्भिक स्तर पर नहीं होती । इस ज्ञान के माध्यम से यथार्थ को निकटता से जाना जा सकता है । पूर्नचिन्तन से आशय है घटना से सम्बन्धित अनावश्यक बातो को चिन्तन द्वारा पृथक करके काम की बात पर पुर्नविचार करना । चिन्तन व मनन द्वारा आलोचना की क्षमता का विकास होता है व नये विचारों का सृजन पुर्न चिन्तन से ही संभव है । परम्परागत समाजशास्त्री पुर्नचिन्तन को अध्ययन पद्धति से सम्बन्धित न मानकर इसको महत्व प्रदान नहीं करते । किन्तु नृजाति पद्धति शास्त्र का कहता है कि जो कुछ भी हम देखते करते या सुनते है उस पर मस्तिष्क की प्रतिक्रिया होनी चाहिए । जो कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण पैदा करने के लिए जरूरी भी है ।

गोल्डनर ने अपनी एक पूरी की पूरी कृति पुन चिन्तन पर लिखते हुए उसमें सामाजिक प्रघटनाओ पर चिन्तन के प्रभावों को प्रकाशित किया है । उसमें बताया है कि सामाजिक यथार्थ पुर्न चिन्तन की अवधारणा द्वारा पुर्न निर्मित किये जाते है ।

5. **क्रमिक समयोजन (Rational Accountability)** नृजाति पद्धति के अर्न्तगत अन्तिम अवधारणा के रूप में सामाजिक घटना को वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा एक निश्चित क्रम प्रदान किया जाता है जिससे कि उस घटना को समझा जा सके ।

पीटर बर्जर ने बताया कि सामाजिक संसार का निमार्ण अर्थ निरूपित करके किया जाता है । वह अर्थ जो कि हम शब्दों के माध्यम से किसी सामाजिक प्रघटना को देते है । इसी प्रकार वस्तुओं को भी हमारे द्वारा अर्थ दिया जाता है नृजाति पद्धति शास्त्र की धारणा है कि जब तक किसी घटना का वैज्ञानिक तरीके से क्रमबद्ध वर्णन और विश्लेषण नहीं किया जाता सामाजिक यथार्थ को पूरी तरह जान पाना संभव नही इसलिए घटना का क्रमबद्ध समायोजन करना चाहिए।

11.08 नृजाति पद्धति के प्रकार

नृजाति पद्धति के प्रकार समाजशास्त्री डगलस ने अपनी कृति में दो प्रकार की नृजाति पद्धति की चर्चा की है ।

1. **पारिस्थतिक सम्बन्धी (Situational Ethonomethodology)** पारिस्थितिक सम्बन्धी जिसका आशय परिस्थितिक से होता है अर्थात किसी घटना को पारिस्थितिक संदर्भ में अर्थ दिया जाता है और इसमें भी कर्ता का यह प्रयास रहता है कि वह स्वंय इस परिस्थिति को क्या अर्थ और महत्व दे रहा है । इस शाखा के अर्न्तगत अर्थ निरूपण मे परिस्थिति को केन्द्र माना गया है विद्वानों की धारणा है कि सामाजिक प्रघटना को अर्थ परिस्थिति बन्धित होते है इसलिए एक ही शब्द संज्ञा का भिन्न -भिन्न परिस्थिति में भिन्न अर्थ हो जाता है ।

2. **भाषा सम्बन्धी (Linguistic Ethnomethodology)** भाषा जिसका प्रयोग किसी भी घटना को बताने में संचार या वार्तालाप आदि के रूप में किया जाता है का अपना महत्व है । सामाजिक घटनाओं की व्याख्या भी भाषा के माध्यम से सिसोरल व सैक्स ने तथा बार हिलेरी

ने सामाजिक भाषा शास्त्रीय पक्ष पर बल दिया है जिसे इस शास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है । इन विद्वानों के अनुसार भाषा के द्वारा किसी भी सामाजिक प्रघटना को मन चाहा स्वरूप दिया जा सकता है । किन्तु नृजाति पद्धति के अर्न्तगत हम भाषा के संदर्भ में ही समझ सकते है एक ही प्रकार के वाक्य के अर्न्तगत हम भाषा के संदर्भ में ही समझ सकते है । एक ही प्रकार के वाक्य अलग -अलग स्थितियों में अलग -अलग अर्थ रखते है । शब्दो के अर्थ सदर्भ द्वारा बंधे हुये होते है । अत: भाव की अभिव्यक्तियों का भी अध्ययन महत्वपूर्ण हो विटिगटन भाषा जो प्रयोग में लाते है वही भाषा है अर्थात जिसके माध्यम से संचार संभव हो सके ।

11.09 नृजाति पद्धति की अध्ययन पद्धतियाँ

नृजाति पद्धति में उन पद्धतियों का चयन व प्रयुक्त किया जाता है जो सत्यता के अत्यधिक निकट हो अर्थात् उपागम द्वारा हम जो भी प्रकट करना या दर्शाना चाहते है वह सामान्य से कुछ अलग या विशिष्ट होना चाहिए इसलिये यह आवश्यक है कि इसकी अध्ययन पद्धतियाँ अप्रत्यक्ष पद्धतियों से भिन्न होगी नृजाति पद्धति की प्रमुखता तीन अध्ययन पद्धतियाँ है।

1. **प्रायोगिक पद्धतियाँ (Experimental Method)** इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि हम किसी भी प्राकृतिक व्यवस्था' में कुछ परिवर्तन करते है या प्राकृतिक व्यवस्था को अनुव्यस्थित करते हे तो उसके क्या प्रभाव होंगे?

इसके अन्तर्गत गारफिन्कल ने कुछ प्रयोग किये और उसमे कहा गया कि अपने स्वयं के घर में मेहमान तुल्य व्यवहार करिये अर्थात प्राकृतिक व्यवस्था को असन्तुलित करके उसकी प्रतिक्रियाओं व परिणामों का अध्ययन कीजिये क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार निश्चित रूप से पारिवारिक सदस्यों की प्रतिक्रिया के विषय होगा । विभिन्न प्रयोगों द्वारा व्यवस्था को डगमगा कर उस अव्यवस्था के परिणामी प्रभावों व उनसे होने वाले प्रतिक्रियाओं का अध्ययन ही प्रायोगिक पद्धति में किया जाता है । विभिन्न प्रयोगो द्वारा सामाजिक यथार्थ का अध्ययन किया जाता हे ।

2. **लिखित अलोख प्रलेख (Documents)** नृजाति पद्धति उपागम के रूप में यथार्थ को प्रत्यक्षता देखना चाहती है वह सामाजिक यथार्थ को निरन्तर व सतत प्रक्रिया मानकर उसके निर्माण व पुर्ननिर्माण पर बल देती है । इसलिये इसको दूसरी पद्धति आलेख -प्रलेख को माना है। नृजाति पद्धति शास्त्र की धारणा है कि आलेख -प्रलेखों जैसे व्यक्तिगत पत्र व्यक्तिगत डायरी लेख व किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धी फिल्म भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माने गयें है।

इस पद्धति में जितनी भी व्यक्ति के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ है उनको समय के क्रम में रखकर उन सामाजिक घटनाओं के अर्थ को समझा जाना है जिससे हम परस्पर वस्तु या घटना की संपूर्णता का समय सापेक्ष में अवलोकन कर सके तथा यह भी जानकारी प्राप्त कर सके कि अमुक घटना के सम्बन्ध में किन -किन व्यक्तियों के अध्ययन हेतु दूरदर्शन पर किसी भीड़ समुदाय का चित्रण किया जाना ।

3. **अवलोकन सहभागीता (Particpatroy observation)** नृजाति पद्धति में उन तरीको का प्रयोग किये जाने पर बल दिया जाता है जो सामाजिक यथार्थ का प्रत्यक्षत: अवलोकन करने में सक्षम है क्योंकि इस उपागम द्वारा हम किसी सीमित सामाजिक यथार्थ का गहन अध्ययन कर सकते है । इसमें कुछ विद्वानों का मत है कि छुपकर सुनने कि क्रिया (over hearing) द्वारा व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार को जानकर सत्यता का पता लगाना । क्योंकि अनेक व्यक्ति दबाव में आकर या भयातुर होकर जबरन मुँह खोलने को मजबूर हो जाता है या कर दिया जाता है । मैक्स बेवर की वर्सटैहन पद्धति पर अधिक बल दिया जाता है । और अवलोकन सहभागिता के मध्यम से बोध पर अधिक बल दिया जाता है । नृजाति पद्धति गुणात्मक महत्ता रखती है ।

11.10 नृजाति पद्धति का महत्व

समाजशास्त्र नृजाति पद्धति में वास्तव में आलोचनाओं द्वारा तो किसी भी सामाजिक प्रघटनाओं या उपागम में निखार आता है जिस उपागम की जितनी अधिक आलोचनाएँ होती है उस उपागम में उतना ही अधिक परिष्करण व परिमार्जन होता है । साथ ही आलोचना इस बात को व्यक्त करती है कि नृजाति पद्धति ने इतने अधिक विद्वानों का ध्यान अपनी और आकर्षित किया है । इस उपागम की प्रमुख कमियाँ इस प्रकार है

1. सामान्यीकरण संभव नहीं इस प्रकार के उपागम से अध्ययन व्यष्टि स्तर पर होंगे तथा दिन -प्रतिदिन की क्रियाओं का समष्टि स्तर पर अध्ययन करना कठिन हो जायेगा । इसलिए सामान्यीकरण संभव नहीं हो सकेंगे जो सभी विज्ञान के लक्ष्य होते हे ।
2. उद्देश्यहीनता: लोक -विधि उपागम के आलोचको ने एक अन्य आलोचना इस आधार पर की है कि लोक विधि विज्ञानियों द्वारा चित्रित समाज के प्रकार के स्वंय सिद्ध मानने वाले सदस्यों का ऐसा प्रतीत होता है कि कोई लक्ष्य अथवा उद्देश्य नहीं है ।
3. अवैज्ञानिक: लोक विधि उपागम का आधार दर्शन शास्त्रीय है अत: यह अवैज्ञानिक है । यह उपागम समाजशास्त्र के केवल दार्शनिक या अवैज्ञानिक पक्ष को प्रस्तुत करता है अत: यह एकांगी है ।
4. अवधारणाएँ किलष्ट: अनेक विद्वानों ने लोक विधि उपागम की अवधारणाओं की आलोचना करते हुए कहा है कि इसकी उप कल्पनाएँ अर्थ निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त मुश्किल है जिनको समझा जाना आसान नहीं है ।
5. समय व श्रम का अपव्यय: कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि कर्ता के दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटताओं को अर्थ प्रदान करके सामाजिक यथार्थ का अवलोकन करने के कारण इस उपागम में एक ही घटना को भिन्न -भिन्न कर्ता अगर अलग -अलग अर्थ प्रदान करते है तो ऐसी सामाजिक घटनाओं के अर्थ निरूपण मे समय व श्रम का अपव्यय होता है ।

कुछ समाजशास्त्रियो ने इस उपागम की आलोचना की है तो इसकी अच्छाईयों को भी प्रस्तुत किया है जो निम्न है

1. इस उपागम द्वारा अवलोकन तथा सहभागी अवलोकन पद्धति को अपनाकर अध्ययन तथा अनुसंधान किये जाते है अत: इस उपागम द्वारा किये गये अध्ययन सतही ज्ञान के संधारक न होकर गहन अध्ययन व अनुसंधान होते है ।
2. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के जरूरत से अधिक प्रभाव ने सामाजिक यथार्थ को अत्यन्त स्थिर व दृढ बना दिया है । नृजाति पद्धति शास्त्री मानते है कि सामाजिक यथार्थ कभी भी स्थिर नहीं रहता । अपितु वह परिवर्तनशील है इस उपागम ने सामाजिक प्रघटना के रहस्यमय पक्ष को उजागर किया है ।
3. इस पद्धति ने सामाजिक प्रघटनाओं को निर्वचन प्रारूप द्वारा समझने पर बल दिया है अत: यह व्यक्तिपरक अध्ययन को बढावा देती हे ।
4. नृजाति पद्धति मौखिक व अमौखिक दोनों प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन करके प्रत्युतार देने या न देने के कारणों की व्यवस्था है ।
5. यह सांस्कृतिक मुखोटो की उपेक्षा करके सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए महत्वपूर्ण उपागम है ।
6. नृजाति पद्धति भाषा के समाजशास्त्रीय पक्ष के विशेष रूप से अध्ययन पर बल देती है ना कि भाषाविद या व्याकरण शास्त्रीय अर्थ पर ।
7. मूलर ने अपनी कृति (Sociological Theory) में बताया है कि नृजाति पद्धति में दिन - प्रतिदिन घटनाओं का अध्ययन उन्हे, समस्या मूलकर मानकर किया जाता है । उनका कार्य आवकरण को हटाकर सामाजिक यथार्थ का प्रत्यक्ष निरूपण करना है ।

अन्त में उपर्युक्त विवरण व धारण द्वारा यह स्पष्ट होता है कि नृजाति पद्धति सैद्धान्तिक दृष्टि से एक नवीन विकास है । इसकी उत्पत्ति वर्तमान समय में हुई हे और इस उपागम में समाजशास्त्र के परम्परागत विश्वासों को एक चुनौती दी है । यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से नृजाति पद्धति का स्वरूप बड़ा ही ढीला -ढाला है । लेकिन फिर भी इसमें प्राचीन पद्धतियों को नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

11.11 सारांश

इस महत्वपूर्ण इकाई में आपने यह जाना कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में नृजाति पद्धति का विकास हुआ? आपने यह समझ लिया होगा कि समाजशास्त्र में नृजाति पद्धति में सामाजिक वास्तविकता को जानने की इच्छा व्यक्त कि जा सके सामाजिक यथार्थ को जानने के अनेक तरीको का उल्लेखित किया है । समाजशास्त्र में एथनो पद्धति में व्यक्तियों के अध्ययन करने की पद्धतियों को सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन हेतु प्रयोग लाया जाता है एवं दिन -प्रतिदिन की घटनाओं को समझ कर सुलझाया जाता है । अत: इस उपागम का प्रयोग मनुष्य की दैनिक जीवन की गतिविधियों में किया जाता है । जिसके माध्यम से सामाजिक प्रघटनाओं को समझकर उनकी समस्याओं को दूर किया जा सके ।

11.12 शब्दावली

1. **उपागम:** सामाजिक यथार्थ को समझने की अनेक पद्धतियाँ विधियाँ या तरीके है प्रत्येक पद्धति सामाजिक यथार्थ को अपने -अपने प्रतिमानों द्वारा समझने पर बल देता है । ये पद्धति उपागम कहलाती है । समाजशास्त्र किसी एक उपागम पर केन्द्रित या आधारित नहीं है ।

2. **नृजाति:** पद्धति नृजाति पद्धति उपागम में व्यक्तियों के अध्ययन करने की पद्धतियों को सामाजिक प्रघटनाओ के अध्ययन हेतु प्रयोग मे लेते है एवं प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक क्रिया को अर्थ देता है । अत: अर्थ निकालने की प्रक्रिया का समाजशास्त्र में महत्व होता है ।

3. **क्रमबद्ध वर्गीकरण:** क्रमबद्ध वर्गीकरण में हम उस स्थिति वाक्यों के उपयोग करने वाले के जीवन संवाद के पूर्व संदर्भ को ठीक से नहीं समझ लेते जब तक बातचीत करने वाले लोगों की पृष्ठभूमि का हमे ठीक से पता न हो तब तक हम पूरे संवाद के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकते अत: शब्दों के अर्थ संदर्भ द्वारा बंधे होते है ।

4. **पुर्नचिन्तन:** घटनाओ की स्थितियों व परिस्थितियों के बारे में चिन्तन मनन व पुर्नविचार करना जरूरी है । जिससे उस घटना के बारे में ऐसी अनेकों जानकारी व ज्ञान मिलता है ।

5. **भाषा का सामाजिक पक्ष:** भाषा स्वंय एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आविष्कार है जो मानव द्वारा अविष्कृत किया गया है।

11.13 बोध प्रश्न

1. नृजाति पद्धति से आप क्या समझते है? संरचना प्रकार्यात्मक उपागम से यह किस प्रकार भिन्न है?
2. नृजाति पद्धति पर गारफिन्कल के योगदान की विवेचना कीजिये ।
3. नृजाति पद्धति की अवधारणाये बताइये ।
4. नृजाति पद्धति के प्रकार एवं अध्ययन पद्धति की विवेचना कीजिये ।

11.14 सन्दर्भ ग्रंथ:

1. गारफिन्कल हेरोल्ड: स्टडी इन एथनोमेथडोलॉजी, प्रेन्टिस हॉल, न्यू जरसी 1967 ।
2. फिलिप बनार्ड: सोशियोलॉजी फार कनसेप्ट दू प्रेक्टिस, मेकग्रा -हील बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1979 ।
3. बिन्न डिविड: बियोन्ड दी सोशियोलॉजी ऑफ कॉनफिल्टर मेक मिलन कम्पनी, लंदन 1970 ।
4. गोल्डनर एल्विन डब्लूय: दी कमिंग क्राइसेस ऑफ वेर्स्टन सोशियोलॉजी, 1971 ।
5. बर्जर पीटर: बायोग्राफिकल एर्पोच 1972 किंगसले डेविस हूमन सोसाइटी मेट मिलन न्यूयार्क, 1949।
6. बर्जर पीटर: इन्वीटेशन दु सोशियोलॉजी पेन्गुइन बुक्स, मिडिन्न सैक्स, 1963 ।

इकाई - 12

प्रघटनावादी उपागम या फिनोमिनोलॉजी

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.01 प्रस्तावना
12.02 प्रघटनावादी उपागम का अर्थ एवं परिभाषा
12.03 प्रघटनावादी उपागम के विकास की स्थितियाँ
12.04 प्रघटनावादी उपागम का दर्शन
12.4.1 चार्ल्स रेनोवियर
12.4.2 एडमण्ड हसरल
12.4.3 जॉर्ज सान्तायन
12.05 वीरकान्त का योगदान
12.06 मैक्स शैल की विचारधारा
12.07 गुरूविच का योगदान
12.08 प्रघटनावाद के प्रकार
12.09 प्रघटनावाद का महत्व
12.10 सारांश
12.11 शब्दावाली
12.12 बोध प्रश्न
12.13 संन्दर्भ ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात आप जानेगें कि -

1. समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति के चेतना विकसित होती है । इसी चेतना द्वारा हम संसार को अर्थ प्रदान करते है ।
2. चेतना द्वारा ही सांसारिक वस्तुओं को सम्मिलित अर्थ प्रदान किया जाना संभव है अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति के अपने निहित अनुभवों द्वारा पृथक ओर निराली दुनिया सृजित होती है ।
3. जहाँ प्रकार्यवादी समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखते है और समाज के विभिन्न अंगो में सामांजस्य पूर्ण सम्बन्धों की बातें करते है । वही संघर्षवादी विचारक सामाजिक संरचना के विभिन्न अंगो में संघर्ष पूर्व ओर शोषण पर आधारित सम्बन्धों की बातें करते है । इन विचारधाराओं की प्रक्रिया में अन्त: क्रियावादी विचारधारा उभर कर आई । जिसमें समाज के स्थान पर सामाजिक अन्त: क्रियाओं को एंव वृहत स्तरीय सिद्धान्त के स्थान पर लघुस्तरीय उपागम अस्तित्व में आए ।

12.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थ को समझने हेतु अनेक उपागम सत्य या सामाजिक यथार्थ की खोज करने का दावा करते है, किन्तु कोई भी उपागम वस्तु या सामाजिक घटना के वास्तविक यथार्थ को ज्ञात करने में अभी तक पूर्णत: सक्षम नहीं है । समाजशास्त्र किसी एक उपागम या पद्धति पर केन्द्रित या आधारित नहीं हो सकता । विज्ञान वादिता का वर्चस्व आंकडो की भारितता एवं व्यक्ति के महत्व की नगण्यता में समाज वैज्ञानिकों ने एक संकट पैदा कर दिया है । जैसे गोल्ड थॉप ने सभावित क्रान्ति तथा फायड रिचर्ने पैराडाइम शिफ्ट ने कहा ।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो बुनियादी विचारक सम्प्रदायक जन्म, चाहे वह किसी भी रूप में हो वे अपनी पृथक भूमिकाओ के अनुसार इस प्रश्न ' 'वे बुनियादी और आधारभूत परिस्थितियाँ कौन -कौन सी है, जिनके कारण समाज की सत्ता कायम रहती है? का उत्तर देने के लिए उन्मुख रहती या चेष्टा करती दिखाई देती है । जिससे इस सम्प्रदाय का बीजारोपण हुआ और समाज अस्तित्व में आया ।

12.02 प्रघटनवादी उपागम की विकास की स्थिति

बैरीस्मार्ट ने उन बातों का उल्लेख किया है जिसके कारण फिनोमिनोलॉजी का विकास हुआ । उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र में संकट का काल उमडता दिखाई दे रहा है क्योंकि अनेक उपागम सत्य सा सामाजिक यथार्थ की खोज करने का दावा करती है, किन्तु कोई उपागम वस्तु या सामाजिक प्रघटना के वास्तविक यथार्थ को ज्ञान करने में अभी तक सक्षम नहीं है जिससे समाजशास्त्र में वैचारिक क्रान्ति आई । बैरीस्मार्ट (Barry Smart) ने कहा है कि फिनोमिनालॉजी का विकास इसलिए हो रहा है कि समाजशास्त्र की दिन -प्रतिदिन की विश्वसनीयता कम होती जा रही है । जिसके कारण नये प्रकार के समाजशास्त्र के विकास की संभावनायें बढ़ गई हैं । विज्ञान के प्रति लोगों की आस्था घटती जा रही है । क्योंकि प्रकृति घटना व सामाजिक घटना समान नहीं है । प्राकृतिक घटना को समझने शैली पद्धतियों से ही सामाजिक प्रघटना को कैसे समझा जा सकता है । सामाजिक घटना को हम स्वयं अर्थ देते है इसलिये समाजशास्त्र में हमें चेतना को महत्व देना चाहिए ।

12.03 प्रघटनावादी उपागम का शब्दिक अर्थ एवं परिभाषा

प्रघटनावादी उपागम को अंग्रेजी में Phenomenology कहा जाता 'है जो एक ग्रीक शब्द फैनिन Phainin से बना है जिसका अर्थ है दिखना (To show) अर्थात वस्तु के सही अर्थ को दर्शाना ।

दूसरे शब्दों में चीजे जैसी चेतना मे दिखाई देती है वही उस वस्तु का सही अर्थ है । महान प्रघटनवादी चिन्तक शूटज, हसरल, पॉन्टी, सात्रे, मैक्स, वेबर, जॉर्ज, पास्थस आदि को शामिल किया जाता है जिन्होंने अपने -अपने शब्दों में प्रघटनावाद को परिभाषित किया है ।

जॉज पास्थस (Phenominalogical) ने प्रघटनवाद को एक पद्धति (Method) उपागम (Approach) तथा दर्शन का नाम दिया है ।

मैक्स वेबर तथा जॉर्ज सिमैल ने जॉर्ज पास्थस की परिभाषा को संशोधित अर्थ प्रदान करते हुये प्रघटनाशास्त्र को पद्धित के रूप में स्वीकारा है न कि उपागम के रूप में ।

प्रघटनावाद की आधारशिला रखने वाले समाजशास्त्रियों में हसरल का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने सामाजिक यथार्थ व प्राकृतिक यथार्थ में भेद करते हुए बताया कि दर्शन का सहारा लेकर ही सामाजिक यथार्थ को समझा जा सकता है । दर्शनशास्त्र में (Phenomena) प्रघटनावाद से अभिप्राय जो समय (Time) तथा स्थान (Space) से बंधी होती है । जो प्रघटना समय तथा स्थान से सम्बन्धित नहीं है, उनको नियोमैना (।Neomena) कहते है जैसे आत्मा जब चाहे जहाँ चाहे मन को दौड़ा से दोड़ सकती है ।

पीटर बिन्च (रचना आईडिया ऑफ सोशियल सांइस) में एक भाषागत परिप्रेक्ष्य विकसित किया है । समाज वैज्ञानिक प्रघटनावाद को दर्शन से विकसित हुआ मानते है । उनकी धारणा है कि कान्ट के समय से ही एक विशेष प्रकार की सामग्री के रूप में फिनोमिनालॉजी विकसित हो रही थी । कान्ट 'के बाद हीगल के दर्शनशास्त्र में प्रघटनाक्रम सिद्धान्त पर विस्तृत कार्य किये । इन्होंने घटना क्रम के दो स्वरूपों की चर्चा की है ।

1. वस्तुपरक (Objective): सामाजिक यथार्थ वस्तु जैसी दिखाई देती है वह वैसी ही है ।
2. विषयपरक (Subjective): सामाजिक यथार्थ या वस्तु जैसा हम देखते या समझते है और समझकर अर्थ प्रदान करते है वह उसका प्रातितिक या विषयदर्शक अर्थ है । कान्ट ने सामाजिक यथार्थ को समझने -हेतु दो विचार व्यक्त किये ।

1. मानव मस्तिष्क में विचार संरचना की कुछ कोटियाँ होती है ।
2. किसी भी घटना के बारे में हमारा ज्ञान इन्हीं कोटियों पर निर्भर रहता है ।

जॉन रेक्स ने प्रघटनावाद को परिभाषित करते हुये बताया कि यह एक विशेष प्रकार का अर्न्तज्ञान है जिसके द्वारा वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को तथा सामाजिक जीवन तथ्यों के बारे में सिद्धान्तों को निर्मित किया जाता है ।

एल्फ्रेड शुटज (Alfred Schutz) का विचार था कि प्राकृतिक विधियों द्वारा सामाजिक यथार्थ को समझा जाना मुश्किल है क्योंकि सामाजिक घटनायें प्रथमत: जटिल है । दूसरे सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के दौरान व्यक्ति द्वारा समाज को दिये गये अर्थ को हम अपनी इच्छानुसार घटा बढ़ा सकते हैं । अत: प्रत्येक स्थिति में हमारे अनुभवों का पुंज घटता बढ़ता रहता है ।

सिमैल: - प्रघटनावादी उपागम को ऐसी पद्धति माना है जो चेतना को महत्व देती है । कोई भी वस्तु या प्रघटना हमारी चेतना में जैसी लगती है वही उसका वास्तविक रूप है ।

लैंग ने कहा है कि अन्य लोगों के अनुभव का कोई प्रमाण नहीं है, आपका अनुभव मेरा अनुभव नहीं हो सकता किन्तु फिर भी मेरी इच्छा आपके अनुभवों को अनुभूत करने की होती है।मैं यह अनुभव करता हूँ कि आपको मेरे बारे में कुछ अनूभूति हो रही है । मैं यह भी समझता हूँ कि, आपको कैसा अनुभव हो रहा है और यह सब सम्मिलित अनुभवों के कारण ही होता है, जो हमारे सामाजिक वातावरण का परिणाम है । हसरल ने अन्तः वैषयिकता की बात की है और कहा इसी के द्वारा विश्व को समझा जा सकता हैं विशिष्ट तथा सामान्य अनुभव

को प्रघटनावाद के लिये महत्वपूर्ण विषय वस्तु माना है । इन्होने ' प्रघटनावाद को चेतना में प्रघटना का विकास कैसे होता हैं? प्रश्न के उत्तर मे बताया है समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही हमारी चेतना विकसित होती है । चेतना द्वारा ही हम संसार को अर्थ प्रदान करते हैं और सांसरिक वस्तुओं का अर्थ प्रदान कराते है अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व निराली दुनिया होती । अनुभव के स्तर पर कभी भी एक व्यक्ति के अनुभव दूसरे के समान नहीं होते । इसी प्रक्रिया को हसरल ने सम्मिलित अनुभव (Shared experience) बताया जिससे चेतना निर्मित होती है जो न केवल वस्तुओं को समझने में सहायता करती है अपितु जिनके द्वारा समूह व्यक्ति -व्यक्ति के मध्य, व्यक्ति व समाज के मध्य अन्तःक्रिया सम्भव होती है।

हसरल व शूट्ज ने (फिनोमिनोलॉजी एण्ड इन्टरेक्शन) नामक कृति में प्रघटनावाद को प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया के काफी नजदीक बताया । प्रघटनावाद को दर्शन से ग्रहण करके समाजशास्त्रीय अभिमुख प्रदान किया । इन्होंने सामाजिक यथार्थ को परती के अन्दर ढूँढ निकालने का प्रयास किया । इसलिए शूटज को प्रघटनावाद का जनक माना जाता है ।

पीटर बर्जर (होम लैस माइण्ड) मेरी कृति का प्रधान अध्ययन ही यह उल्लेखित करता हे वस्तु जैसी हमे दिखाई देती है वे वैसी नही है अन्त उनके अन्दर क्या है? कैसा? का अध्ययन करना आवश्यक है ।

बर्जर तथा लैकमैन (कन्सट्रक्शन ऑफ सोशियल रियलिटी) के अनुसार सामाजिक यथार्थ को समझने का तरीका विज्ञान या उनकी पद्धतियों में नहीं है । अपितु उनको इस आधार पर समझा जाना चाहिये कि कर्ता किसी परिस्थिति विशेष का क्या अर्थ दे रहा हैं ।

जॉन रैक्स प्रघटनावाद एक प्रकार का अर्न्तज्ञान है, जिसके द्वारा वस्तुओं के वास्तविक स्वरूपों व सामाजिक जीवन के तथ्यों के बारे में सिद्धान्त निर्मित किये जाते है ।

12.04 प्रघटनावादी उपागम का दर्शन

दसवीं शताब्दी में तार्किक व्याख्या की दो प्रकार की परिपाटियाँ दर्शन के क्षेत्र में प्रचलित थी।

1. प्रायर मोड ऑफ रिजनिंग (prior mode of Reasoning)
2. अप्रायर मोड ऑफ रिजनिंग (Aprior mode of Reasoning)

1. प्रायर मोड ऑफ रिजनिंग (Prior mode of Reasoning)

इस प्रक्रिया के द्वारा तर्कचिन्तन का बोध प्राप्त होता है । जो यह कहती है कि, तार्किक चिन्तन के समय तर्क का सीढ़ियो पर चढ़ते -चढ़ते जहाँ तक, तर्क की सीढ़ी हमें पहुँचाती है, हमे वहाँ तक अगे -आगे बढ़ना चाहिए । अत: तार्किक चिन्तन करते समय हमें तथ्य जगत से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । यह पद्धिति विशुद्ध तार्किक परम्परा व पद्धति परिपाटी पर आधारित है और तर्को के अलावा सामजिक तथ्यों से नाता नहीं होना चाहिए । यह पद्धति दर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली रही है ।

2. अप्रायर मोड ऑफ रिजनिंग (Aprior mide of Reasoning)

प्रथम विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में इस परम्परा का विकास हुआ है । यह पद्धति एक ऐसी पद्धति का बोध कराती है, जो तर्क से इन्कार और उपेक्षा नहीं करती, लेकिन तर्क को

प्रभाव संगत बनाने की चेष्टा करती है । इस विचार धारा की मान्यता है कि तर्क को तथ्यों के अधीन रखना चाहिए । तर्क ऐसा होना चाहिए जो तथ्यों और प्रमाणों से पुष्ट हो । सार हीन तर्क से काम नहीं चलता । प्रथम विचारधारा की तुलना में यह विचारधारा कम प्रभावी है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ और मध्य में दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण मोड प्रघटनावादी उपागम के कारण आया जिसका श्रेय प्रमुख दार्शनिको को रहा है ।

1. चार्ल्स रेनोवियर (Charls Renovier)
2. एडमण्ड हसरल (Edmund Husseral)
3. जार्ज सान्तायन (George Santayana)

ये तीनों दार्शनिक दर्शन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचारक रहे है जिन्होंने फ्रान्स तथा जर्मनी में दर्शन के क्षेत्र में फिनोमिनोलॉजी की शाखा को स्थापित किया ।

चार्ल्स रेनेवियर का योगदान: रेनावियर वह पहले दार्शनिक हुए है जिन्होंने फ्रान्स में तथ्यातीत जगत (Neomena) तथा तथ्य जगत (Phenomena) के मध्य अन्तर स्पष्ट किया ।

1. **तथ्यातीत जगत** : तथ्यातीत ऐसे तथ्यों से बनने वाला संसार है जो कि तथ्यों से अलग चला जाता है जिसे तथ्यों के रूप में साथ देखा नहीं जा सकता । ऐसे तथ्यों के योग से संसार बनता है । तथ्यातीतजगत अबोधगम्य व असीम (unlimited) है जिसकी गहराई को नापा जाना संभव नहीं है । यह ऐसा क्षेत्र है जो मानव की बुद्धि से परे माना जाता है ।

2. **तथ्य जगत:** तथ्य जगत ऐसे तथ्यों के योग से बनता है जिनमें तथ्यो के प्रभाव पाये जाते है जिसके अस्तित्व के प्रमाण देखने को मिलते है । जिन्हें हम अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ के द्वारा समझ सकते है । जिनकी गहराई तक पहुँच पाना संभव है । जिन्हें अनुभव किया जा सकता है तथा अन्य लोगों के भी अनुभवों का अनुभव हो सकता है । रेनोवियर की मान्यता है कि तथ्य जगत की व्याख्या तथ्य जगत के सन्दर्भ में ही की जा सकती है । ऐसा नहीं हो सकता कि तथ्य जगत की व्याख्या तथ्यातीत जगत में तथा तथ्यातीत जगत की व्याख्या तथ्य जगत में की जायें। इस प्रकार इन्होंने तथ्यातीत जगत व तथ्य जगत के मध्य खींचते हुए सम्बन्ध व्यक्त किये । इन्होंने स्पष्ट किया कि यथार्थ उन तथ्यों के योग से बनता है जो हमारी चेतना में विद्यमान पाये जाते हैं । यह यथार्थ विभिन्न प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों के योग से बनने वाली वस्तु हे । दर्शन के क्षेत्र में तथ्यातीत जगत प्रचलित है । जो यथार्थ को भिन्न तरीके से परिभाषित करता है । रेनावियर की मान्यता है कि असीम कुछ भी नहीं है कोई भी तथ्य ऐसा नहीं है जिसकी अपनी सीमा न हो । प्रत्येक तथ्य की अपनीं निश्चित सीमा होती है । ये मानते है कि यथार्थ काल से बंधा हुआ है । यद्यपि उस सीमा को मनुष्य माप -तौल नहीं सकता है । उसकी माप ऐसे तत्वों से की जा सकती है जो देश तथा काल से सम्बन्धित है ।

एडमण्ड हसरल (Husseral): जर्मन दार्शनिक हसरल ने रेनोवियर की धारणा को पुष्ट करने का प्रयास करते हुये बताया कि संसार में बाहय जगत की सत्ता पाई जाती है । उसकी सत्ता हमारे शरीर में बहुत गहरी व अन्दर तक प्रविष्ट है । इन्होंने बाह्य जगत की सत्ता को मान्यता प्रदान करते हुये बताया कि बाइय जगत का निर्माण दो तत्वों से होता है ।

1. **तत्व जगत या पदार्थ रूपी जगत द्वारा (World of Objects):** ये ऐसे तत्व हे जो इन्द्रीय ग्राही और स्पर्शशील होते है । चाहे सजीव हो अथवा निर्जीव । इन्द्रिय परक ज्ञान तत्व जगत है ।

2. **सारभूत तत्वों का जगत (World of essences) :** सारभूत तत्वों का जगत ऐसे तत्वों से बनता है, जिनका अस्तित्व अमूर्तता में विद्यमान रहता है । यह संसार का प्रतिनिधत्व करता है। यह पदार्थ को महत्व न देकर -उसके सार को महत्व प्रदान करता है ।

हसरल के अनुसार यदि प्रथम तत्व परिणाम का बोधक है तो दूसरा गुण का । जैसे चीनी का ढेर ज्ञान के माप का बोधक हे और उसकी मिठास सार तत्व या गुण का बोधक है जो ऊपर से देखने से पता नहीं चलती वह तो चीनी के अन्दर छिपी है । इस सार तत्व द्वारा ही यथार्थ का प्रतिनिधत्व होता है । जिसे हम फिनोमिना कहते है । संसार मे जो ज्ञान है वह अनुभव प्रसूत है कल्पना ज्ञान की पुष्टि नहीं करती । हसरल ने ज्ञान को अनुभव की पतवार माना है और ज्ञान अनुभूति की पैदावार है । हसरल की मान्यता है कि अनूभूति के दो रूप है:

1. प्राकृतिक अनुभव (Natural Experience)
2. अन्र्तगामी अनुभव (Indeotic Experience)

1. **प्राकृतिक अनुभव (Natural Experience) :** अनुभव का मूर्तरूप जो कि इस बारे में अन्य लोगों का ज्ञान, अन्य लोगों के बारे में स्वंय का ज्ञान तथा प्रकृति के बारे में ज्ञान का आभास कराता है प्राकृतिक अनुभव कहलाता है । हसरल की मान्यता है कि जिन अनुभवों की अनूभूति इन्द्रियों द्वारा संभव है वे अनुभव प्राकृतिक होते है । हरसल मानते है कि प्राकृतिक अनुभव सभी मनुष्य का समान होता है । जैसे सर्दी, गर्मी, धूप, उष्मा और मुख प्यास का एहसास सभी मनुष्यों को कमोबेश एक जैसा ही होता है । यदि धूप है तो सभी को उसका समान अनुभव होगा । ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य को धूप गर्म व दूसरे को धूप में शीतलता का आभास होगा ।

2. **अन्र्तगामी अनुभव (Indeotic Experience) :** जिस सार या गुण का आभास हमें तत्वों के मूल में मिलता है वह सार ही यथार्थ का सच्चा ज्ञान है जो अमूर्त अदृश्य व चेतना जगत की विषय वस्तु है । जिस प्रकार एक गुड़ के ढेले का स्पर्श क्रिया अनुभव का घोतक है जिसे हम दूर से देखकर नहीं बता सकते जिसके मिठास की जानकारी केवल चखने पर ही होती है ओर वही अन्र्तगामी अनुभव है ।

हसरल मानते है कि अन्र्तगामी अनुभव की प्राप्ति उस शक्ति से है, जिसका नाम सहज बुद्धि है, यह स्वंय बुद्धि का गुण है जिसके बल पर हम तत्काल हो किसी तथ्य की गहराई मे चले जाते है और बिना अधिक प्रयास किये अपने आप दिखने वाली तलहटी में पहुँच कर सामाजिक यथार्थ उसके मौलिक रूप मे समझ सकते है । हसरल मानते है कि जिन अनुभवों की अनूभूति हेतु ज्ञानेन्द्रियों से काम नहीं चलता उनकी अनुभूति केवल बुद्धि द्वारा ही संभव है वे अन्र्तगामी अनुभव कहलाते है । जिसे हसरल ने परिणति की प्रक्रिया माना है । परिणति की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होती रहती है । अन्र्तगामी अनुभव तक पहुचँने के लिए परिणति तक पहुँचना जरूरी है । तब ही प्रघटना की गहराई तक पहुँच सकते है और घटना को सही रूप में समझ सकते है । हसरल की

मान्यता है कि घटनाओं का अर्थ प्रत्येक अनुभव के आधार पर होता है । घटनाओं को समझने के लिए अनुभूतियों या अर्थ निरूपण की आवश्यकता होती है । सामाजिक घटनायें विशुद्ध चेतना कि निचोड है अर्थात घटना घटित होना एक बात है ओर उसको समझना या अर्थ प्रदान करना दूसरी बात है । यह अर्थ निरूपित किया जाना ही चेतना पर निर्भर करता है हसरल ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि मनुष्य के दिन -प्रतिदिन के अनुभव ही व्यक्ति की आन्तरिक चेतना को निर्धारित करते हे और उन्हीं अनुभवों के आधार पर परिस्थितियों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। हसरल के प्रघटना शास्त्र समाजशास्त्र का प्रभाव कम व दर्शनशास्त्र का संदर्भ अधिक देखा जा सकता है ।

अर्न्तगामी अनुभवों तथा बोध की अवधारणाओं द्वारा ही अर्न्तवैषतिकता (Inter Subjectivity) उत्पन्न होती है जिसमें दो बाते शामिल है ।

प्रथम, अन्त:वैषयिकता (Inter Subjectivety) - अन्तविषयिकता द्वारा समझ या बोध का परस्पर आदान -प्रदान होता है जिससे अनुभवों को समझा जाता है ।

द्वितीय, वस्तुओं की व्याख्या हेतु विशिष्ट संगतता (Consequevery of System of Relevences) को लिया जावें ।

बोध की पारस्परिकता के बारे में शूट्ज ने कहा है कि जिस स्थान पर होते हुये जो अनुभव कर रहा हूँ यदि मेरे स्थान को अन्य व्यक्ति द्वारा बदल दिया जावे तो वे भी यही अनुभव करेगा जो मैं कर रहा हूँ । समान अनुभूति का कारण दृष्टिकोण की पारस्परिकता (Recieprocity of Experiences) है जिसमें अद्वितीय अनुभवों (Unique Experiences) को 'छोड़कर सामान्य अनुभवों (Common Experiences) या सहगामी अनुभवों (Shared) को ध्यान में रखा जावें । अर्थात अगर हमे किसी सामाजिक यथार्थ का अध्ययन करना है तो वह समुद्र के रूप में है तो हमको उस समूह की सामान्य जानकारी या ज्ञान को अपनी चेतना का भाग बनाना है न कि प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट या अद्वितीय (Unique) ज्ञान को । प्रघटनावाद घटना को समझने हेतु चेतना के बोध को महत्व देती है न कि वस्तुपरक (Objective) बोध द्वारा वस्तु को समझने पर ।

हसरल ने अन्त:वैषयिकता (Inter subjectivity) के तीन आधार बताये ।

अ. दृष्टिकोण की पारस्परिकता (Reciprocity) : भिन्न -भिन्न व्यक्तियों के दृष्टिकोणों से भिन्नता होते हुये भी संसार का अस्तित्व श्रेणीकरण (Tipification) द्वारा संभव है क्योंकि लोगों के अनुभव व दृष्टिकोणों में पारस्परिकता पाई जाती है । संसार में हमारे द्वारा भाषा का, वस्तुओं का सम्बन्धों का, श्रेणीकरण किया जाता है, जिन्हें अनेक शब्द 'संज्ञाओं द्वारा अर्थ प्रदान किया जाता है । श्रेणीकरण दो प्रकार का होता है ।

प्रथम: सामाजिक श्रेणी में समाज के सदंर्भ में श्रैणीकरण का अर्थ प्रदान करना ।

द्वितीय: व्यक्तिगत श्रेणीकरण में व्यक्ति द्वारा भाषा संकेतो व वस्तुओं को पृथक अर्थ प्रदान किया जाना शामिल है । द्वितीयक श्रेणीकरण व्यक्ति विशेष से ही सम्बन्धित होते है । उनका समाज के परिप्रेक्ष्य में कोई समरूप अर्थ होना आवश्यक नहीं हैं ।

ज्ञान का सामाजिक उद्गम (Social Origin of Knowiedge): ज्ञान की उत्पत्ति का स्त्रोत समाज है । ज्ञान एक पीढ़ी द्वारा निर्मित हो जाने के बाद वह पीढ़ी दर हस्तान्तरित होता रहता है । व्यक्तियों का समूह ही मिलकर ज्ञान का सृजन करते है और समूह की सहायता से ही सृजित ज्ञान का संरक्षण करते है । जंगली मानव की कोई संस्कृति और ज्ञान नही होता क्योंकि अकेला व्यक्ति किसी भी प्रकार अपनी क्रियायें सम्पादित कर सकता है उसे अन्य व्यक्ति से अन्तक्रिया की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । लेकिन सामाजिक क्रिया एक अन्य सामाजिक व्यक्ति के संदर्भ में ही निर्वाहित होती है । अत: ज्ञान का उद्गम समाज को माना है।

ज्ञान का वितरण (Distribution of Knowledge) : ज्ञान का पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण तो होता है किन्तु आवश्यक नहीं कि ज्ञान का वितरण सभी सामाजिक प्रक्रिया में समान रूप से है । किसी व्यक्ति की दक्षता किसी अन्य क्षेत्र में अधिक होती है इसके बावजूद भी समाज के सभी व्यक्ति अलग -अलग लोगों के ज्ञान व अनुभव को समझ सकते है । उनको अर्थ प्रदान करते है यह केवल साझा अनुभवो (Shared Expreince) के आधार पर ही संभव है । सांझा अनुभवों द्वारा संचार (communication) की प्रक्रियायें चलती रहती है जो संसार को संभव बनाती है ।

3. **जार्ज सान्तायन (Gaorge Santayana):** इनकी मान्यता है कि साधारण जगत के तथ्य ऐसे तत्वों का योग है जिन्हें देखने पर उसके निष्कर्ष के स्वरूप को जाना और पहिचाना जा सकता है जिन्हें देखा और समझा जा सकता है । सान्तायन ने अस्तित्व को समझने हेतु 4 क्षेत्र बताये है :

(अ) सारभूत तत्व या स्तरीय सत्ता (Realm of essance)

(ब) पदार्थ स्तरीय सत्ता (Realm of matter)

(इ) अन्तिम मूर्त सत्य स्तरीय सत्य (Realm of Truth)

(ई) आत्मा की सत्ता

(अ) सारभूत तत्व या स्तरीय सत्ता (Real of essence) : ससांर की तमाम वस्तुओं में से प्रत्येक का पृथक -पृथक गुण होता है ये गुण या लक्षण ही इन सारभूत तत्वों का निर्माण करते है इसलिये इन्हें सारभूत तत्व कहा जाता है । इनमें वस्तुओं का नहीं गुणों का महत्व होता है ।

(ब) पदार्थ स्तरीय सत्ता (Realm of matter) : इस प्रक्रिया द्वारा गुणों का वर्णन नहीं होता अपितु वस्तु के बाहरी स्वरूप, रूप, रंग, आयतन और आकार का बोध होता है । अत: वस्तुओं के मूर्त स्वरूप और संसारिक क्रिया का माप इसी सत्ता पर कायम है ।

(इ) अन्तिम मूर्त सत्य स्तरीय सत्ता (Real of Truth) : यह सत्ता हमारे अस्तित्व के तीसरे जगत का निर्माण करती है । इनका एक भौतिक अस्तित्व होता है । इसका भौतिक अस्तित्व और होता है और किन्हीं मूर्त वस्तुओं के उक्त रूप का बोध कराती है । हिन्दू शास्त्रो की मान्यता के अनुसार प्रथम संसार की सभी वस्तुएँ पंचभूत या पंचतत्वों जल, वायु अग्नि और आकाश से मिलकर बनी है । ये संसार व मूर्त वस्तुएँ की अन्तिम मूर्त स्तरीय सत्ता है ।

(ई) आत्मा की सत्ता : वह सूक्ष्म स्तरीय सत्ता जिसका कोई भौतिक या मूर्त रूप नहीं है और स्वंय मूलभूत व अन्तिम सत्य है आत्मा की सत्ता कहलाती है क्योंकि इसके आगे अस्तित्व को देखने का कोई रास्ता नहीं है । यह सत्ता उपरोक्त तीन प्रकार के स्वरूपों की आत्मा भी कहते

है । आत्मा की सत्ता का कहना है कि उपरोक्त तीनों स्वरूप वास्तविक नहीं है यह वो संसार है जिसे देखने का प्रयास दार्शनिकों द्वारा किया जाना जरूरी है । काल्पनिक उड़ानों द्वारा हम अन्तिम सत्य के इस सूक्ष्म स्तरीय सत्ता तक पहुँच सकते है । इस स्तर को कल्पना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

दार्शनिकों से प्रभावित होकर ही कुछ समाज वैज्ञानिकों दर्शन के विषय को समाजशास्त्र के अन्तर्गत ले आये । दार्शनिको ने बताया कि दर्शन के क्षेत्र मे इस प्रकार के खोज के कुछ उद्देश्य है जिनका जवाब कुछ प्रश्नों के माध्यम से दिये गये ।

1. फिनोमिनोलॉजी का क्या उद्देश्य है? उत्तर सारभूत तत्वों की खोज करना ।
2. यह पूछे जाने पर कि व्याख्या और विश्लेषण का विषय क्या है? विषय वस्तु क्या है?
   उत्तर अनुभव ही इस पद्धथ्व के अध्ययन का आधार है । अनुभव के आधार पर ही हम तत्व के सार तक पहुँच सकते है ।
3. प्रघटना शास्त्र किन वस्तुओं व व्याख्याओं का विश्लेषण करती है?
   उत्तर. यह हमारे अनुभव की व्याख्या व विश्लेषण का निर्माण करते है सार तक पहुँचने के लिए अनुभवो को गहराई से देखना पड़ेगा और वस्तुओं को देखने, समझने व अनुभवों को प्राप्त करने के लिए परिणति तक पहुँचना होगा ।
4. प्रघटना शास्त्र के प्रयोग के लिए किस रीति का प्रयोग करेगे?
   उत्तर. प्रघटना शास्त्र के लिए अध्ययन की प्रक्रिया के रूप में अपयचन की प्रक्रिया (Pocess of Reduction) का सहारा लेना पड़ेगा । जिसकी सहायता से प्राकृतिक अनुभवों को प्रातीतिक अनुभव में बदलना होगा । सार तत्व के संदर्भ में ही तथ्य जगत की व्याख्या की जाती है । इसके लिये किसी पारलौकिक तत्व की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। अपचयन की प्रक्रिया से तात्पर्य किसी वस्तु की पहचान का वह आखिरी अंग या तत्व जिससे उस वस्तु की पहचान संभव है और उस अंग के न होने से उस वस्तु का अस्तित्व समझा जाना संभव नहीं । जैसे घड़ी का अस्तित्व डाल व सुयोग पर टिका हुआ है । इन दो अंगो के अभाव में घड़ी कहा जाना, समझा जाना निरर्थक ही होगा । वैसे तो समाजशास्त्र में प्रघटनावाद शास्त्र के कई चिन्तक हुये है वास्तव में प्रघटनाशास्त्र स्वरूप बाद (Soeioloical Foamology) की ही शाखा है । जिसका चिन्तन जर्मन समाजशास्त्री जॉर्ज सिमेल ने किया । जिनकी मान्यता है कि समाजशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक अन्त: क्रियाओं के स्वरूप का अध्ययन किया जाना चाहिये । सिमेल की विचारधारा से सबसे अधिक वीरकान्त ही प्रभावित हुई । समाजशास्त्र में मुख्य रूप से प्रघटना शास्त्र में वीरकान्त का योगदान अविश्वसनीय है ।

12.05 वीरकान्त का योगदान

वीरकान्त के सिद्धान्त की मुख्य विचारधारा

वीरकान्त की विचारधारा इस प्रकार है

1. वीरकान्त ने सामाजशास्त्रीय समस्याओं के अध्ययन में स्वरूपवाद के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण माना है । समाजशास्त्रीय घटनाओं के अध्ययन हेतु इसे एक महत्वपूर्ण उपागम के रूप में माना है।
2. अध्ययन का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के स्वरूप शक्तियों और सामाजिक जीवन के तथ्यो के अध्ययन को माना गया है जो समाज की विशेषताओं पर निर्भर करते है ।
3. वीरकान्त की आपत्ति है कि समाज शास्त्र की अवधारणायें सही नहीं है ।
4. वीरकान्त ने सिमेल के समान ही समाजशास्त्र में समूह और सामाजिक अन्त: क्रिया के अध्ययन पर बल दियां अन्त: क्रिया में बाहय स्वरूप का महत्व न होकर उनके पीछे छिपी आन्तरिक वास्तविकताओ को ज्ञात किया जाना जरूरी है ।
5. मानव तीन प्रकार के संसार में रहता है । प्रथम : पाणिशास्त्रीय, द्वितीय - सामाजिक तथा तृतीय सांस्कृतिक । सामाजिक सम्बन्ध प्रागिशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक सम्बन्धो से भिन्न होते है और उनके क्षेत्र भी अलग होते है । वीरकान्त ने बताया कि प्राणिशास्त्रीय जन्मजात प्राकृतियों और शारीरिक अस्तित्व के मौलिक अध्ययन को आधार मानता है । सांस्कृतिक - सम्बन्धों में विचारो के मूल्यों का महत्व है लेकिन सामाजिक सम्बन्धों में मनुष्य के मध्य अन्त: क्रियाओ का विशेष महत्व है जो समाज की व्यवस्था को वास्तविकता प्रदान करती है। हमें सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करते समय उनके पीछे छिपी मानसिक अवस्थायें, शक्तियों और सामूहिक जीवन के आधारो का भी अध्ययन करना चाहिये ।
6. वीरकान्त की मान्यता है कि स्वरूपात्मक समाजशास्त्र व्यवहारवादी न होकर सामाजिक घटनाओ की क्रमबद्ध व्यवस्था है । वीरकान्त मानते है कि सिमेल समाजशास्त्र के शुद्ध स्वरूप की श्रैणियाँ बनाने में सफल नहीं रह पाये क्योंकि उस समय इस प्रकार के सिद्धान्त विद्यमान नहीं थे । आज फिनोमिनोलॉजी की पध्दति 'के, आधार पर सामाजिक अन्त: क्रियाओं के स्वरूपो की श्रैणियाँ बनाना आसान है ।
7. प्रघटनवादी उपागम में मानव की चेतन अनुभूतियाँ का अध्ययन किया जाये न कि उसके बाहय स्वरूंपों की अनुभव के विश्लेषण के द्वारा हम उन आधारभूत सामाजिक प्राकृतियाँ का पता लगाने का प्रयास करते है. जो मानव के सामूहिक जीवन के आधार है ।

12.06 मैक्स शैलर (Max Sheller) की विचारधारा

ज्ञान के समाजशास्त्र के साथ -साथ जर्मन दार्शनिक मैक्स शैलर को समाजशास्त्रीय स्वरूपवाद का पोषक भी माना जाता है । इनकी मूल विचारधारा है कि जीवन के दो प्रमुख क्षेत्र है जिनमें स्पष्टत: भेद किया जाना चाहिये ।

1. आदर्श मूल्यों का जगत (Sphere of ideal values)
2. अस्तित्व मूलक तथ्य जगत (Sphere of existential facts)

आदर्श मूल्यों का जगत : लोगों के मानसिक और आध्यमिकता जगत से सम्बन्धित तत्वों के योग से निर्मित जगत ऐसे मूल्यो का बोध कराते है, जो शाश्वत प्रकृति के है और परिवर्तित होते है । जिनकी सत्ता भूत, भविष्य एवं वर्तमान में बनी रहती है । ये तत्व काल चक्र में बंधे

नहीं है, आदर्श मूलक जगत कहलाता है । इस जगत का सम्बन्ध ऐसे सांस्कृतिक क्षेत्र से है, जिसमें विचारों व मूल्यांकनो को सम्मिलित किया जाता है :

अस्तित्व मूलक तथ्य जगत मानव की भौतिक और शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित स्वंय मानव की चालनाओं (Drives) से जुड़ी दशा में दिखाई देती है । जैसे योन चालना (Sex Drive) व भूख चालना है (Hunger is drive) आदि सत्ता नियन्त्रित है । ये सभी चालनाये उन व्यवस्थाओं का निर्माण करती है जो हमारे अन्दर पाई जाती है और जिनकी पूर्ति भौतिक शरीर के लिये आवश्यक है । विभिन्न उपकरण' साधन, वेशभूषा सभी अस्तित्व मूलक जगत में सम्मिलित है । इन सबका अध्ययन वस्तुपरक समाजशास्त्र द्वारा ही संभव है ।

मैक्स शैलर ने इस बात पर बल दिया है कि एक जैसी भावनाओं में भी गुणात्मक विभिन्नता होती है जैसे सहानुभूति की भावना । इन्होंने बताया कि मानव की अन्त: क्रियाओं मे जो सहानुभूति दिखाई देती है, उसके भी विभिन्न अर्थ एवं स्वरूप हो सकते है । इस सहानुभूति के शैलर ने 5 दशाये अथवा 5 अर्थ बताये है ।

1. संवेदना या सहानुभूति
2. अनुकरणानुभूति (Miipathy)
3. हस्तान्तरणानुभूति (Propathy)
4. अन्तरानुभूति (Epathy)
5. तादात्मकयानुभूति (Umpalhy)

इस प्रकार सहानुभूति फिनोमिनोलॉजी की आधारशिला है जिसमें खोज करने के लिये प्रयोग में लाये गये ज्ञान कोष के रूप में सारभूत तत्वों को ही आधार माना है जिससे समाज की सत्ता निरन्तर बनी रहती है ।

शैलर ने इस बात पर जोर दिया कि जीवन के दो क्षेत्रों आदर्श क्षेत्र और अस्तित्व क्षेत्र का सम्मिलन आवश्यक है । यह सम्मिलन एक अभिजात वर्ग (Elite) द्वारा किया जाता है । जिसमें महापुरूष व नेता शामिल है । जो घटना के सार को समझने की क्षमता रखते है । अभिजात वर्ग के अर्थ निरूपण को समाज के अन्य लोग स्वीकार करते है और नकल की प्रक्रिया द्वारा यह अर्थ जन समूह तक पहुँच जाता है । मैक्स शैलर मानते है कि विचारों और संस्थात्मक स्वरूपों में सामाजिक सम्बन्ध है ।

12.07 गुरूविच का योगदान

जॉज गुरूविच (George guruwitch) की विचारधारा ज्ञान के समाजशास्त्र के सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले गुरूविच ने सारभूत तत्वो की मौलिक विवेचना करते हुये बताया कि समाजशास्त्र का यह कर्तव्य ओर उद्देश्य है कि सामाजिक यथार्थ के उस रूप को समझने का प्रयास करे, जो कि हमारे द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जाता है । समाजशास्त्री के नाते अन्तिम सामाजिक यथार्थ का अवलोकन करते समय अन्तिम सत्य तक पहुँचने के दौरान बीच मे आने वाली परतों को हटाकर सामाजिक यथार्थ की विवेचना करे । उपरी तौर पर सामाजिक यथार्थ कई आवरणो से ढका है जिसे खोजना है और वही अन्तिम सत्य है जिसे नियोटिक माइण्ड कहते है ।

1. सामाजिक यथार्थ की पहली परत के रूप में व्यक्ति जनंसख्या व भौतिक स्थूल तत्व है जिन्हें हम छू सकते है देख सकते है और अनुभव कर सकते है । यह वास्तविक सत्य नहीं है । सत्य की खोज हेतु हमे आवरण ध्यान पडेगा ।
2. सामाजिक यथार्थ में तरह -तरह के सामाजिक संगठन और सामूहिक व्यवहार पाये जाते है । सामाजिक व्यवहा२ का वह स्वरूप जो सुगठित होता है सामाजिक यथार्थ की दूसरी परत है । लेकिन सामाजिक यथार्थ यहाँ भी विद्यमान नहीं है तथा हमें इसके नीचे जाना पड़ेगा ।
3. दूसरी परत के नीचे सामाजिक मानदण्डो का बिम्ब पाया जाता है जिसमें सामाजिक व्यवहार की मूलक मिलता है जिन्हें हम देख नहीं सकते है, छू नहीं सकते सिर्फ अनुभव कर सकते है । इसे भी अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता ।
4. चौथे स्तर पर हमें अंसगठित प्रवृति का व्यवहार दृष्टव्य होता है जो लोगों की आदतो के रूप में परिलाक्षित होता है किन्तु यह भी यथार्थ का स्तर नही है ।
5. प्रतीकात्मक व्यवस्था के रूप 5वी परत दिखाइ देती है । प्रत्येक समाज प्रतीकों या चिन्हों के आधार पर संचालित होता है । संकेता की व्यवस्था एक आध्यात्मिक आधार द्वारा प्रेरित होती है । मूल यथार्थ अभी प्राप्त होना शेष है जिसे हेतु आगे बढना जरूरी है ।
6. प्रयोगात्मक यथार्थ पुरानी व्यवस्था को समाप्त करके समाज का नया आदर्श प्रस्तुत करता है इसमें आविष्कार, नव सृजन शामिल है लेकिन यह भी अन्तिम स्तर नहीं है । अन्तिम सत्य को ढूँढने हेतु हमें आगे बढ़ना चाहिये ।
7. सातवें स्तर पर सामाजिक मूल्यो, द्वारा निर्मित आध्यात्मिक आधार के दर्शन होंगे जो समूह के आदर्श और मूल्यों को प्रभावित करता हैं । यह भी अन्तिम आधार और सत्य नहीं है ।
8. अन्तिम और आखिरी परत नियोटिक माइण्ड ही है । यही अन्तिम सत्य भी है । और समाज की वास्तविकता भी है । नियोटिक मांइड संकेतो और आध्यात्मिक स्तरों - को प्रभावित करता है । अत: उपरी परतों को हटाकर ही अन्तिम यथार्थ या सामाजिक यथार्थ को पहिचाना जा सकता है ।

गुरूविच के अनुसार परतों को हटाकर सामाजिक यथार्थ को खोजा जाना सेडीमेन्टेशन की प्रक्रिया (Process of sedimentation) कहा जाता है जो एक धीमी प्रक्रिया है । प्रघटनवादी विचारको की मान्यता है कि वस्तु जैसी हमे दिखाई देती है वास्तव मे वह वैसी ही है, यह जरूरी नहीं है अत: उसकी यथार्थता का पता लगाने हेतु रहस्यो का अनावरण (Demistification) किया जरूरी हे । ये कहते है कि वस्तुओं के अस्तित्व के बारे में मोलिक सन्देह (Redical Doubls) को लेकर चलना होगा । सन्देह के द्वारा ही यथार्थ का ज्ञान किया जाना संभव है ।

(Redical Doubls) को लेकर चलना होगा । सन्देह के द्वारा ही यथार्थ का ज्ञान किया जाना संभव है ।

12.08 अघटनावादी उपागम के प्रकार

प्रघटनावदद उपागम के प्रकार Types of Phenomenology हीप (Heep) तथा रूथ (Ruth) ने प्रघटनावाद के प्रकार बताये है!

1. **अव्यवस्थित प्रघटना शास्त्र (Losse pehnomenology) :** थॉमस, कूले, वेबर, सी.डब्लू मिल्स, जीएच, मीड ने प्रघटना शास्त्र के इस स्वरूप में पाया कि समाजशास्त्र के विश्लेषण हेतु पात्रस्तुपरक आधार सही नहीं है इसके लिए प्रतितिक अर्थ (Subjective Meaning) को स्वीकार जाना जरूरी है । श्रैष्ठ चिन्तन सम्प्रदाय के रूप में विचारको ने इस प्रकार को स्वीकार नहीं किया।

2. **प्रघटनाशास्त्रीय प्रघटना शास्त्र (Phenomenological phenomenology)** हसरल, लूटज, बर्जर, लुकमैन, आदि फिनोमिनोलॉजी की इस शाखा से सम्बन्धित है । जो दर्शन से प्रभावित ही नहीं थे अपितु इन विचारको की फिनोमिनोलॉजी भी दर्शन से जुड़ी हुई थी ।

3. **पुर्नचिन्तन शील फिनोमिनालाजी (Reflexive Phenominology) :** तीसरे प्रकार की शाखा चिन्तन शील प्रघटना शास्त्र के प्रवर्तक के रूप में गोल्डनर को माना जाता है । इन्होंने बताया कि अल्पसंख्यक, गरीब, असहाय, निम्न व दबे वर्ग की जो पीड़ा है उसका सशक्त अध्ययन किया जाना जरूरी है । उनके प्रति संवेदना केवल चेतना द्वारा ही संभव है ।

4. **नृजाति पद्धति शास्त्रीय प्रघटनाशास्त्र (Ethnomethodoloegical phenomenology):** इस शाखा के प्रमुख प्रवर्तक पीटर बर्जर, टर्नर, बार, हिलैरी, सिसोरल तथा हसरल को माना जाता है जिन्होंने सामाजिक प्रधटना को निव प्रारूप (Interpretive paradigm) के द्वारा समझे जाने पर बल दिया । इनकी मान्यता है कि दिन प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं को समाजशास्त्रीय विषय वस्तु के रूप में स्वीकारा जाना जरूरी है ।

प्रघटनाशास्त्र का महत्व (Impotance of phenomenology) : प्रघटनाशास्त्र का महत्व जानने हेतु इसकी उपयोगिता तथा उपगम में पाई जाने वाली कमियों का जिक्र किया जाना आवश्यक है ।

12.09 गारफिनकल का योगदान

प्रघटना शास्त्र की उपयोगिता (Utility of Phenominology) :

प्रघटना के द्वारा समाजशास्त्र के क्षेत्र जो लाभ हुये है, वे इस प्रकार है.

1. प्रघटनाशास्त्र ने प्रत्यक्षवाद के चंगुल में फंसे समाजशास्त्र को बाहर निकाल कर प्रत्यक्षवाद व विज्ञानवादिता के अनावश्यक बोझ से मुक्ति दिलाई है ।
2. प्रघटनाशास्त्र ने स्पष्ट किया है सामाजिक यथार्थ व प्राकृतिक यथार्थ एक ही नहीं है, इन दोनों में भिन्नता है इसलिये इस विधि ने भिन्न -भिन्न स्वरूपों का परिचय कराया ।
3. प्रघटनावाद शास्त्र ने मनोविज्ञान व्यक्तिगत पद्धतियाँ व्यक्तिगत अर्थ को महत्व प्रदान करते हुए बताया कि समाज के साथ व्यक्ति के महत्व को स्वीकारा जाना जरूरी है ।
4. प्रघटनाशास्त्र ने चेतना को महत्व प्रदान करते हुए प्रघटना को समझाने पर जोर दिया ।

5. प्रघटना शास्त्र क्रियात्मक पक्ष (Rpisitemology) का मूल्यांकन करके प्रघटना को समझने मे सहायक है ।
6. समाज को एक परिवर्तित प्रक्रिया के रूप में समझे जाने पर जोर दिया गया क्योंकि इस उपागम ने समाज को एक बहाव (Fludity) माना है । समाज स्थिर नहीं ह :

प्रघटना शास्त्र की आलोचना (Short comings of phenomenology)

हसरल ने प्रघटना शास्त्र की आलोचना करते हुये बेगनर ने बताया कि यह पद्धति अत्यंत व्यक्तिवादी व सोलिप्सिस्टिक है । यह उपागम अत्यधिक प्रीतितिक (subjective method) होने के कारण वस्तुओं व प्रघटनाओं का सर्वाभौमिक अर्थ प्रदान करने में असमर्थ है।

1. जैटलिन ने बताया कि प्रघटनाशास्त्र एक गढ़ शब्द है जिसके अनेक अर्थ हे । इस उपागम मे ऐसे अनेक शब्द छिपे हुये हे जिनका यदि हम अर्थ पता लगाये तो अत्यन्त आश्चर्यजनक लगेंगे । जैटलिन ने माना कि मारक्यू पॉन्दी ने प्रघटनाशास्त्र की चर्चा ही इस प्रश्न से प्रारम्भ की है कि प्रघटनाशास्त्र क्या है ' किन्तु इस प्रश्न का उत्तर वे आज तक खोज पाने में असमर्थ रहे है ।
2. हसरल का दृष्टिकोण इतना प्रभावी नहीं है जिसके द्वारा समाज विज्ञान में महत्वपूर्ण योगदान मिला है? इस उपागम द्वारा तार्किक परिणामों को मापा नहीं जा सकता । इस उपागम ने प्रत्यक्षवादी विचारधारा के समर्पितो को हतोत्साहित किया है । वस्तुपरकता के स्थान पर व्यक्ति परकता को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है ।
3. यद्यपि प्रघटनाशास्त्र के तर्क पैन व तीखे है, लेकिन तर्को द्वारा समर्थित न होने के कारण केवल व्यक्ति परक काल्पनिक चिन्तन तक सिमटकर रह गयी ।
4. प्रघटनाशास्त्र ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रक्षय दिया हैं। आलोचकों की मान्यता है कि प्रघटनाशास्त्र दर्शन से जुड़ी पद्धति है । अत: उसका स्थान सामाजिक दर्शनशास्त्र में होना चाहिये न कि समाजशास्त्र में इस प्रकार प्रघटना शास्त्र समाज को 21 वी सदी में ले जाने के स्थान पर 19वीं सदी की ओर ले जा रही है ।
5. प्रघटनाशास्त्र में प्रयोगात्मक अनुभव का अभाव होने के कारण यह उपागम केवल सैद्धतिक दृष्टिकोण ही रखती है । अध्ययन के दौरान प्रघटनाशास्त्री कहाँ तक पहुँचेगे कहा नहीं जा सकता?
6. इस पद्धति द्वारा लघु अध्ययन (micro level study) ही संभव है वृहत (macro) अध्ययन नहीं ।

12.10 सारांश

इस महत्वपूर्ण इकाई में आपने यह. जाना कि प्रघटनाशास्त्र क्या है? किन कारण व परिस्थितियों में समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रघटनाशास्त्र का अवतरण हुआ । आपने यह भी समझ लिया होगा कि विज्ञानवदिता वस्तुपरक एवं इन्द्रिहग्राहम की वैज्ञानिक पद्धति के अतिवर्चस्व से परेशान लोग व्यक्ति निष्ठ व प्रातितिक उपागम की खोज आवश्यकता महसूस कर रहे थे प्रघटनाशास्त्र ने उस कमी को पूरा करके मानव मनोविज्ञान व क्रियात्मक पक्ष को समझने पर जोर दिया और व्यक्ति की चेतना द्वारा संवेदनशीलता के माध्यम से परतो को हटाकर

सामाजिक यथार्थ को खोजने की बात की । प्रधटनाशास्त्री मानते है कि वस्तु हमें जैसी दिखती है वास्तव में वैसी होती नहीं है अत: सामाजिक यथार्थ को प्राकृतिक यथार्थ से पृथक करके समाज को एक बहाव मानकर समझा जाना जरूरी है न कि समाज को स्थिर मानकर । अत: इस उपागम द्वारा एक दूसरे प्रकार के सामाजिक यथार्थ को समझा जाना आवश्यक है ।

12.11 बोध प्रश्न

1. प्रघटनाशास्त्र का अर्थ बताते हुए इसकी विकास की स्थियतियाँ बताइये?
2. प्रघटनावादी उपागम का दर्शन बताते हुए प्रमुख प्रघटनाशास्त्रियों का योगदान बताइये ।
3. प्रघटनावादी उपागम विज्ञानवादी उपागम से किस प्रकार भिन्न है? समझाइये ।
4. प्रघटनावादी उपागम की विभिन्न प्रकार बताते हुये समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थ को समझाने मे प्रघटनाशास्त्र का महत्व बताइये ।

12.12 शब्दावली

उपागम : सामाजिक यथार्थ को समझने की अनेक पद्धतियाँ विधियाँ या तरीके है प्रत्येक पद्धति सामाजिक यथार्थ को अपने -अपने प्रतिमानों द्वारा समझने पर बल देता है । ये प्रत्येक पद्धति उपागम (approach) कहलाती है । समाजशास्त्र किसी एक उपागम एक केन्द्रित या आधारित नहीं है ।

प्रघटनाशास्त्र : सामाजिक यथार्थ को विज्ञान वादिता को वर्चस्व आकडो की भारिता एवं व्यक्ति के महत्व को नकार कर समझने के स्थान पर दिन प्रतिदिन की घटनाओं में व्यक्ति के प्रातितिक अर्थ व संवेदनाओं को महत्व देते हुये सामाजिक यथार्थ का पता लगाना जो स्थिर न होकर बदलता रहता है ।

फैनिन : दिखाना (To show) के वस्तु के सही अर्थ को दिखाना दर्शाना । चीजे जैसी चेतना में दिखाई देती है वही उस वस्तु का सही अर्थ है ।

प्रघटना : समय और स्थान सापेक्ष घटनायें प्रघटना कहलाती है । इसे चेतना में प्रघटना की प्रविष्टि भी कहा जा सकता है ।

अन्त : वैषयिकता : सम्मिलित अनुभवों से समाज मे चेतना निर्मित होती है जो न केवल वस्तुओ को समझने में सहायता करती है अपितु जिनके द्वारा व्यक्ति के मध्य वरूकित ओर समूह तथा व्यक्ति -और समाज के माध्य अन्त: क्रिया संभव है । तभी सभी व्यक्ति वस्तुओं का एक समान अर्थ प्रदान करते है जैसे घड़ी, कम्प्यूटर आदि ।

प्रायर मोड ऑफ रिजनिंग : तार्किक चिन्तन द्वारा सामाजिक यथार्थ को समझना । तथ्य चिन्तन व तथ्य जगत से सम्बन्ध को नकारना ।

अप्रायर मोड ऑफ रीजनिंग : तर्को को मानते समय तथ्यों के महत्व को नकारा नहीं जावे । तर्को को तथ्यों के अधीन रखना चाहिये ।

अन्त : विषयिकता : समझ या बोध का आदान -प्रदान का धरातल एक व्यक्ति जिस पद व स्थान पर रहते हुये जैसा अनुभव कर रहा है यदि उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को पदासीन कर दिया जावे तो उसके अनुभव भी उस प्रकार के होंगे ।

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिमैल जॉर्ज, 1950 दो सोशियोलॉजी ऑफ जार्ज सिमैल फ्री प्रेस प्रकाशित जर्मन पॉन्टी मैल्यु 1964, फिनोमिनोलॉजी एण्ड दी साइन्स ऑफ मैन ।
2. शूट्ज एलफ्रेड, 1962 कलेक्टेड पेपर्स दी हॉज वोल्यूम । । ।, डॉन, क्विकॉक्सर, एण्ड प्राबलम्स ऑफ रिएलिटी ।
3. बर्जर पीटर, 1963 इन्वीटेशन टू सोशियोलॉजी पेन्तुईन बुक्स, मिडिल सैक्स मीड जी.एच. 1934
4. मीक जी.एच. 1934 माइन्ड सेल्फ एण्ड सोसायटी, शिकागो ।
5. लेवी स्ट्रास क्लाउड 1954. फ्रेन्च सोशियोलाजी इनट्रवन्टिथ सेन्चुर सौशियोलाजी एडिट द्वारा गुरूविच च. मूर, न्यायार्क ।
6. बिन्स डेविड 1970. बियोन्ड द सौशियोलाजी ऑफ कन्फिलक्ट, मैक मिलन कम्पनी, लन्दन।

इकाई-13

आलोचनात्मक उपागम

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.01 प्रस्तावना

13.02 प्रत्यक्षवाद की आलोचना

13.03 वैबर एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त

13.04 हरबर्ट मार्कोस (1898 -1979)

13.05 जे.हैबरमा (1929)

13.06 सारांश

13.07 बोध प्रश्न

13.06 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के पश्चात् आप

- आलोचनात्मक सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करेंगे ।
- इस सिद्धान्त के विकास क्रम से परिचित होंगे ।
- प्रत्यक्षवाद की आलोचना बिन्दु जानेंगे ।
- वैबर का योगदान इस सिद्धान्त में जानेंगे ।
- मार्कोस व हैबरमास के विचारों से परिचित होंगे तथा आलोचनात्मक सिद्धान्त की विशेषताएँ व सीमाऐं जानेंगे ।

13.01 प्रस्तावना

फ्रैंकफर्ट विश्वविद्यालय से सम्बद्ध सामाजिक शोध संस्थान से जुड़े हुए विद्वानों के एक समूह के सामाजिक -राजनैतिक सिद्धान्त को आलोचनात्मक सिद्धान्त का नाम दिया गया है । इस संस्थान की स्थापना 1923 में हुई थी और इसकी स्थापना का विशेष ऐतिहासिक संदर्भ था। 1917 में बालशैविक क्रांति की विजय एवं प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी एवं अन्य योरोपियन देशों की पराजय । ऐसे समय में इन परिवर्तनों को सामने के उद्देश्य से मार्क्सवादी दर्शन एवं पद्धति का मूल्यांकन करने की आवश्यकता महसूस की गई । इस प्रकार से यह संस्थान पश्चिमी मार्क्सवादी की संस्थानीकरण प्रक्रिया का एक हिस्सा था । इस संस्थान में हीगलवादी विचारधारा की प्रधानता में विविध दार्शनिक प्रवृत्तियों द्वारा एक पूंजीवादी देशों का एवं दूसरी और तालिनी रूस और इसके सर्वसत्तात्मक रूख के प्रति बढ़ती हुई मोहभंग की स्थिति का विश्लेषण करने की परम्परा रही । अपने प्रारम्भिक चरण में संस्थान का कोई विशिष्ट मत अथवा विचारधारा नहीं थी । 1950 के दशक में फ्रैंकफर्ट विचारधारा का उदय हुआ । संस्थान के इतिहास में चार विभिन्न कालों को श्रेणीबद्ध किया जा सकता है । प्रथम काल 1923 से 1933 के मध्य का है

जब संस्थान में प्रारम्भिक शोध कार्य किया गया संस्थान के पहले निदेशक, अर्थशास्त्री कार्ल वर्ग के नेतृत्व में विशेषकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे पूंजीवाद का अध्ययन, उत्पादकता शक्तियाँ उत्पादन का सम्बन्ध आदि विषयों पर अनुभववादी शोध संपादित हुआ । दूसरा काल संयुक्त राज्य अमेरिका के दिनों वाला 1933 से 1950 तक का रहा । इस काल के दौरान हॉर्किमर के निर्देशन में संस्थान में आलोचनात्मक सिद्धान्त के नव -हीगलवालदी चरित्र का उदय हुआ और आर्थिक शोध के स्थान पर दार्शनिक प्रबन्ध पर बली दिया जाने लगा । एडोर्नो और मार्क्स ने हॉर्किमर का सहयोग किया एवं संस्थान ने एक शक्तिशाली मनोविश्लेषक अभिविन्यास विकसित कर लिया जो आने वाले समय में भी जारी रहा । तृतीय चरण 1950 में संस्थान के फ्रैंकफर्ट प्रत्यागमन के साथ प्रारम्भ हुआ। नव -वाम के उदय, विशेषकर 1956 में हंगरी की क्रांति के बाद, आलोचनात्मक सिद्धान्त का यूरोप की सामाजिक विचारधारा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला । 1960 के देशक के बाद के वर्षो में मार्क्स के नेतृत्व में संस्थान का प्रभाव चरमोत्कर्ष पर पहुंचा।

मार्क्यूस ने दृढता से आलोचनात्मक सिद्धान्त को समाज विज्ञान की महत्वपूर्ण विचारधारा के रूप में स्थापित किया । 1970 के चौथे चरण में आलोचनात्मक सिद्धान्त का महत्व क्षीण हो गया क्योंकि दर्शन शास्त्र के नवीन मार्गो की संरचना के उत्साह में नए क्षेत्रों में जोखिम उठाने एवं नई धारणाओं व प्रणालियों को प्रयोग में लाने के कारण यह अपने मार्ग से भटक गया था । यह मार्क्सवाद से भी इतना दूर हो गया कि यह इसकी विभिन्न शाखाओं में सम्मिलित किए जाने के अधिकार से वंचित हो गया । आलोचनात्मक सिद्धान्त के अन्तिम महान प्रस्तावक हेबरमास हैं जिन्होंने अपनी मौलिक धारणाओं एवं प्रणालियों से आधुनिक समाज के कार्यसंचालन के विषय में अभिनव अन्तर्दृष्टि प्रदान की ।

1931 में संस्थान का निदेशक पद प्राप्त करने के पश्चात् अपने पहले उद्घाटन भाषण में हॉर्किमर ने सामाजिक दर्शन के उन नए निर्देशों की ओर इंगित किया जिनका पालन भविष्य में संस्थान के शोध कार्यो में किया जाएगा । मूल विचार था प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद, विशेषकर वियना वलय का दर्शनिक विकल्प खोजना । हॉर्किमर ने ज्ञान के सिद्धान्त के रूप में प्रत्यक्षवादी की आलोचना तीन आधारों पर की प्रथम, कि यह यांत्रिक नियतिवाद की पद्धति के अन्तर्गत सक्रिय मनुष्यों को मात्र तथ्यों एवं वस्तुओं के समान प्रस्तुत करता है द्वितीय, कि यह विश्व की कल्पना केवल तात्कालिक अनुभव के आधार पर करता है और सत्व एवं प्रतीति में कोई भेद नहीं करता और तृतीय कि यह तथ्य एवं मूल्य में अप्रतिबद्ध भेद स्थापित करता है और इस प्रकार ज्ञान को मानवीय हित से पृथक करता है ।) हॉर्किमर ने प्रत्यक्षवाद से विषम एक तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त का समर्थन किया । अपने सर्वाधिक चर्चित लेख 'परम्परा एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त, 1937, में हॉर्किमरे ने परम्परागत सिद्धान्त का प्रत्यक्षवाद के रूप में अवलोकन किया है । उसने दावा किया कि जहां प्रत्यक्षवाद तथ्यों का वैसे ही वर्णन करता है जैसे कि वे यथार्थ में प्रकट होते हैं ओर बाह्य दृष्टिकोण से उन्हें इन्द्रियग्राही बनाता हैं वह प्रत्यक्षवाद आलोचनात्मक सिद्धान्त तथ्यों का प्रत्यायात्मक ढाचें मे विश्लेषण करता हे जिसमें विशिष्ट शोधाथ्री को तथ्यों में परिवर्तन कर उनको सिद्धान्त रूप में आकार देने की प्रेरणा

मिलती है । सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए हॉकिमर तर्क देता है कि सिद्धान्त किसी विषय के बारे में पूर्वसर्ग का कुलयोग है) और प्राथमिक सिद्धान्त को प्राप्त करने के निगमन, अंत: प्रशा आदि विभिन्न तरीके होते हैं । पारस्परिक सिद्धान्त में, ' 'विशिष्ट वस्तुगत तथ्यों की उत्पत्ति, प्रत्यात्मक प्रणालियों का व्यावहारिक प्रयोग जिसके द्वारा तथ्यों को समझता है, और कर्म में ऐसी प्रणालियों की भूमिका यह सभी सैद्धान्तिक चिन्तन के लिए बाह्य माने जाते हैं ।"

दूसरी और आलोचनात्मक सिद्धान्त विश्वास करता हे कि विचारक सदेव अपने अध्ययन के विषय का हिस्सा होता है । उदाहरण स्वरूप, मार्क्स एवं एन्जल्स ने अपने अलोचनात्मक सिद्धान्त की रचना सर्वहारा वर्ग पर की जिनकी अपनी परिवेश से विद्रोह करने के लिए कटु आलोचना हुई । ल्यूकाक्स के समान हॉर्किमरे भी यह विश्वास नहीं करता कि किसी शोषणात्मक परिस्थिति में भी सर्वहारा वर्ग विश्व को सतही रूप में वास्तविकता से सर्वथा भिन्न देखेगा और इस कारणवश उसमें यथोचित ज्ञान की कमी होगी । श्रमजीवी वर्ग को चेतना एंव उचित ज्ञान का सम्प्रेषण करने का कार्य एक बाह्य कर्ता, एक आलोचनात्मक विचारक अथवा आलोचनात्मक विचारधारा का है ।

टीम बॉटमोर हॉर्किमर के विचार के दो पक्षों पर टिप्पणी करता है -

"प्रथम उसके द्वारा किए गए श्रमिक वर्ग के अनिश्चित और किंचित संशयवादी मूल्यांकन में, आधुनिक समाज मे वास्तविक उद्वारक शक्ति के विषय में उसके गहरे निराशावाद का सकेत मिलता है जो कि बाद में आया दूसरा यह कि उसने आलोचनात्मक बुद्धिजीवियों के कार्य को जो महत्व दिया वह सामाजिक परिवर्तन की पूर्व मार्क्सवादी धारणा का विपर्यय है यह 1830 एवं 1840 के दशक के युवा हीगलवादियो अथवा 'आलोचनात्मक समालोचकों के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है जिसका मार्क्स ने 'द होली फैमिली' में उपहास किया है ।

"हरबर्ट माक्यूर्स ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन किया और अपने ग्रंथों में श्रमिक वर्ग को चेतना प्रदान करने में बुद्धिजीवियों की भूमिका को महत्व दिया. है । अपनी पुस्तक रीन एण्ड रिवोल्यूशन 1941 में उसने एक तर्कशास्त्रीय सामाजिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उसका सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से हीगल के दर्शन पर आधारित है । वही दूसरी ओर अडोर्नो को तर्कशास्त्रीय सामाजिक सिद्धान्त के स्थान पर, जैसा कि वह स्वयं नाम देता है, 'नकारात्मक तर्कशास्त्र' का विकास करने का श्रेय दिया जाता है । वह समस्त दार्शनिक दृष्टिकोणों को अस्वीकार करने का प्रयत्न करता है और मानवीय विचारधारा के किसी सुनिश्चित प्रारम्भ बिन्दु अथवा परम आधार की संभावना का खण्डन करता हे । जहां हॉर्किमर और मार्क्यूस ने क्रमश: श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारी अन्त: शक्ति में विश्वास को त्याग दिया था इसके विपरीत अडोर्नो कभी भी मार्क्सवादी वर्ग सिद्धान्त एवं इतिहास के विज्ञान को स्वीकार करता हुआ प्रतीत नहीं होता है । आलोचनात्मक सिद्धान्त के क्षेत्र में अडार्नो का योगदान था सांस्कृतिक समालोचना । उसने अपनी पुस्तक 'डायलैक्टिक्स ऑफ एनलाइटैनमैन्ट व 1944 जो उसने हॉर्किमर के साथ मिल कर लिखी थी, में उसने यही विषयुक्त रखी है । पुस्तक के परिचय में अपने विषय को वह "प्रबोधन का स्व -विनाश ' शब्दों में परिभाषित करता है और दो प्रकार की विवेक बुद्धि में

प्रभेद करता है पहली बाह्य नियन्त्रणों से मनुष्यों की मुक्ति के साधन उपलब्ध करवाने वाली एवं दूसरी सहायक बुद्धि जो कि प्रकृति के नियंत्रण के लिये है और जिस पर 18वीं सदी के प्रबोधन द्वारा बल दिया गया है । यह दूसरे प्रकार की बुद्धि प्रथम विश्व युद्ध के बाद प्रचलित सर्वसत्तात्मक विचारधाराओं के लिए उत्तरदायी है । मिथक में इस प्रकार की विवेक बुद्धि का उद्गम ढूंढते हुए अडोर्नो इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सामाजिक जीवन के यौक्तिकीकरण के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता का पूर्ण नकार हुआ और सर्वसत्तात्मक का उदय हुआ । अडोर्नो इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ' 'प्रबोधन सर्वसत्तावाद है । " निहितार्थ के आधार पर मार्क्स के विचारों में भी सहायक बुद्धि के तत्व देखे जा सकते है । मार्क्स द्वारा श्रम पर एवं प्रकृति को मानवीय शोषण की वस्तु माने जाने पर बल दिए जाने के कारण उसे प्रबोधन परम्परा में स्थापित किया गया । इस प्रकार वर्ग संघर्ष एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था लेंकफर्ट विचारधारा में द्वितीयक स्थान पर रहे । यह आधुनिक वैज्ञानिक चेतना सांस्कृतिक अपकर्ष के लिए उत्तरदायी है और इसने मनुष्यों के उद्वारा करने के स्थान पर मानवता को बर्बरता में ढकेल दिया है । विज्ञान का वैषम्य कला में है जो कि मनुष्य में उपस्थित मानवता की अभिव्यक्ति है । ' 'सांस्कृतिक उद्योग' ' अथवा ' 'जनसमूह के वंचन के रूप में प्रबोधन' ' वह दूसरा विषय था जिसे अडोर्नो ने विस्तार दिया । मार्क्सवादी दावे, कि किसी युग के प्रभावी विचार शासक वर्ग द्वारा प्रस्तुत किए जाते है' जो स्वंय ही उत्पादन के सम्बन्धों का फल है, के विपरीत अडार्नो तर्क देता हे कि प्रौद्योगिकी ने एक भ्रष्ट व अचर जनसंस्कृति को जन्म दिया हे जो मनुष्यों के परिष्कृत तत्वों का विरोध करती है । हॉर्किमर एवं अडोर्नो की मनोविज्ञान में भी रूचि थी विशेषकर वैयक्तिक मनोविज्ञान में । जर्मनी में फासीवाद के उदय के साथ संस्थान की सत्ता व प्रतिसामीवाद के संबंध में वैयक्तिक विशेषताओं में रूचि उत्पन्न हुई । वे जर्मनी. के फासीवदी को बद्धमूल प्रति - सामीवाद पर आधारित मानते थे और उनकी व्याख्या आर्थिक नियतिवाद अथवा रूढ़िवाद मार्क्सवादी पर आधारित नहीं थी । बाद के वर्षो में अडोर्नो ने दो प्रमुख दार्शनिक ग्रंथ प्रकाशित किए, ' नैगेटिव डायलैक्टिक्स एवं ' 'एस्थैटिक थ्यौरी । प्रथम ग्रंथ में अडोर्नो ने तर्क प्रस्तुत किया कि दार्शनिक मूल -पाठ अपने सैद्धान्तिक स्थिति -निर्धारण के माध्यम से यथार्थ को विशुद्ध भाव में नहीं, अभिव्यक्त करते । इसलिए किसी भी विचारक का कार्य, बिना वैकल्पिक प्रत्ययात्मक ढांचा उपलब्ध करवाए विद्यमान विचारधाराओं की आलोचना करना हे । 1969 में अपनी मृत्यु के समय अडोर्नो दूसरी पुस्तक पर कार्य कर रहा था और इस पुस्तक में वह तर्क प्रस्तुत करता है कि कला एवं साहित्य के द्वारा मुक्ति एक सौन्दर्यशास्त्रीय अनुभव बन जाती है । अडोर्नो के कार्य का विस्तार आश्चर्यजनक है । इसमें दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संगीत -शास्त्र एवं सांस्कृतिक आलोचना सम्मिलित हैं । समस्त दार्शनिक प्रथम सिद्धान्तों की समीक्षा सहयोगी बुद्धि की उत्पत्ति एवं प्रकृति का प्रमुख विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्र का दर्शन एवं संस्कृति का अध्ययन उसका योगदान है ।

यद्यपि आलोचनात्मक सिद्धान्त कई मार्क्सवादी पूर्वधारणाओ के साथ प्रारम्भ होता है, इसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष रूढ़िवादी मार्क्सवादी से मतभेद रखते हैं । समकालीन पूंजीवाद में परिवर्द्धन के विषय में इसके द्वारा निकाले गए कुछ निष्कर्ष इस प्रकार है -

अ. आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों ने आर्थिक एवं राजनीतिक के बढते हुए एकीकरण की प्रवृत्ति को पहचाना । आर्थिक एकाधिकारों का उदय होता है और वे राज्य में हस्तक्षेप करते हे, जबकि राज्य आर्थिक प्रक्रियाओं को सहारा व सुरक्षा प्रदान करता है ।

ब. अर्थनीति एवं राज्यतन्त्र में बढ़ता अन्तःपाशन स्थानीय नेतृत्व की नौकरशाही विमर्श के प्रति एवं संसाधनों के बाजार विनियोजन की केन्द्रीयकृत नियोजन के प्रति अधीनता सुनिश्चत करता है । समाज शक्तिशाली (निजी एवं सार्वजनिक) प्रशासनों द्वारा समन्वित होता है जो कि आत्मनिर्भर हैं परन्तु एकनिष्ठता से उत्पादन की ओर अवस्थित है ।

स. नौकरशाही एवं संगठन के प्रसार के साथ सहयोगी विवेक बुद्धि के प्रसार के माध्यम से एवं पूर्व निर्धारित लक्ष्यों हेतु साधनों की क्षमता के प्रति चिन्ता के द्वारा सामाजिक जीवन के यौक्तिकीकरण का विस्तार हुआ ।

द. श्रम विभाजन का सतत विस्तार काम को खण्डित करता है । जैसे जैस काम अधिक यांत्रिक बनता है श्रमिकों के पास विचार करने एवं अपने श्रम को संगठित करने के कम अवसर रह जाते है । संपूर्ण कार्य प्रणाली का ज्ञान कम प्राप्य हो जाता है । अधिकांश व्यवसाय गणित, विलग इकाइयों में बंट जाते हैं ।

य. कार्यो एवं ज्ञान के विखंडन के साथ वर्ग का अनुभव कम हो जाता है । शासन हमेशा से अधिक अवैयक्तिक बन जाता है । लोग उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बन जाते हैं और उद्देश्य अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हुए प्रतीत होते हैं । सामाजिक सम्बन्धों का विशिष्ट प्रतिमान जो इन प्रक्रियाओं का अनुकलन ' - करता है -उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्ध - मूर्त रूप में दिखाई देता है । जैसे -जैसे सामाजिक जीवन के अधिकाधिक क्षेत्र मात्र उपयोगी वस्तु के लक्षण धारण करने लगते हैं मूर्त रूप में देखना प्रबल होता जाता है। एवं सामाजिक सम्बन्ध कम बोधगम्य हो जाते हैं । द्वन्द्व अधिकाधिक पार्श्ववर्ती मुद्दों पर केन्द्रित हो जाता है जो समाज की नीवं का परीक्षण नहीं करते ।

13.02 प्रत्यक्षवाद की आलोचना

प्रत्यक्षवाद की आलोचना एवं समाज को समझने के लिए वैकल्पिक ज्ञानशास्त्र व पद्धति उपलब्ध करवाने का प्रयास, तीन दशकों से अधिक समय तक, आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों का मुख्य केंद्रबिन्दु रहा । उनकी आलोचना के तीन पक्ष थे प्रथम यह कि, प्रत्यक्षवाद एक अपर्याप्त एवं भ्रामक उपागम है जिसने सामाजिक जीवन की यथातथ्य समझ व अवधारणा को न तो प्राप्त किया है और न कर सकता है दूसरा यह कि केवल जो विद्यमान है उस पर ध्यान देकर यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को स्वीकृति देता है, किसी आमूल परिवर्तन में बाधा डालता है और राजनीतिक निवृजिवाद की ओर ले जाता है । तृतीय यह कि, ये प्रभुत्व के एक नए रूप ' 'प्रौद्योगिकीय प्रभुत्व की रचना एवं संपोषण से न केवल घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा हुआ है अपितु वस्तुतः इसका एक प्रमुख कारक है । हॉर्किमर ने अपना आक्रमण तार्किक प्रत्यक्षवाद अथवा विएना वलय पर संकेन्द्रित रखा जो विज्ञानवाद पर विश्वास रखता था जिसका तात्पर्य है प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों के लिए सर्वप्रयोज्य सामान्य वैज्ञानिक विधि के विषय में विचार । उसने विशेषकर तर्कशास्त्रीय प्रत्यक्षवादियों के उस प्रयास की आलोचना की जो दावा

करता है कि विज्ञान बोध एवं सिद्धान्त है एवं विज्ञान का दर्शन से पृथक्करण है । वह कहता है कि,

'यह सही है कि कोई भी दृष्टिकोण जो प्रत्यक्ष रूप से निश्चित वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ असंगत है, मिथग माना जाना चाहिए परन्तु रचनात्मक विचारधारा विभिन्न विद्याओं की अवधारणाओं को समीप लाता है और उनको विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार उपयुका बनावट में बुनता है । विज्ञान के साथ इस सकारात्मक संबंध का अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान की भाषा ज्ञान का सच्चा एवं उपयुक्त प्रारूप है । केवल विज्ञान की ही भाषा में सोचना और बोलना सहज एवं मताग्रही होना होगा । "

प्रमाणन नियम को सिद्धान्त निर्माण हेतु स्वीकार करने के लिए उसने प्रत्यक्षवाद की आलोचना की क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रस्तुत किए गए असंख्य तथ्यों में से तथ्यों का चुनाव निरंकुश विधि से किया जाता है और यह तात्विक एवं परिधीय तथ्यों में भेद करने में असफल है । बाद में प्रत्यक्षवाद के विरूद्ध तर्क हैबरमां ने प्रचलित किए एवं उन सभी के द्वारा प्रयोग किए गए जो प्रत्यक्षवाद का विरोध करते थे । (आलोचनात्मक सिद्धान्तवादी व अन्य) । कार्ल पॉपर ने विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए अडोर्नो ने विज्ञानवाद की प्रणाली के स्थान पर उसके ज्ञानशास्त्र पर अधिक ध्यान दिया । उसने नकारात्मक तर्कशास्त्र का समर्थन करते हुए आलोचनात्मक सिद्धान्त में नवीन विचारधाराएँ प्रारम्भ की । प्रथम, उसने आलोचनात्मक सिद्धान्त की प्रकृति विशुद्ध रूप से आलोचनात्मक बताई और वैकल्पिक) दार्शनिक प्रणाली उपलब्ध करवाना अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसके लिए दर्शनशास्त्रों के प्रथम सिद्धान्तों का निमार्ण करना होता हैं । यह कार्य संकलित अनुभावादी तथ्यों के समुचित धारणाओं वाले निश्चित विश्लेषणात्मक उपकरणों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणों पर आधारित होगा जो कि आलोचनात्मक सिद्धान्त के मूलाधार के विरूद्ध होगा । दूसरा यह कि 'समग्रता की धारणा, जो कि हॉर्किमर के विचारों मे निर्णायक स्थान -रखती थी, अडोर्नो द्वारा असत्य घोषित कर अस्वीकार कर दी गई । समग्रता भी सारूप्यता -विचार ही है (दर्शन शास्त्र के एक प्रारम्भ बिन्दु का दावा) जो कि अडोर्नो के अनुसार आलोचनात्मक सिद्धान्त के लिए एक अभिशाप है; आलोचनात्मक सिद्धान्तवादी प्रत्ययवाद एव यथास्थितिवाद के मध्य तार्किक सम्बन्ध के विषय में भी चिन्तित थे यद्यपि इन सम्बन्धों एवं इसके परिणामो की कभी सविस्तार व्याख्या नहीं की गई, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि आलोचनात्मक सिद्धान्तवादी प्रत्यक्षवाद तथा राजनीति के प्रति रूढ़िवादी रूख जिसकी बाद में वैज्ञानिक राजनीति के रूप में संकल्पना की गई, के प्रति चिन्तित थे । हैबरमां ने इसके निहितार्थो का परीक्षण अपने कई निबंधों मैं किया है । ब्रायन फ्राय ने भी आलोचनात्मक सिद्धान्त की मान्यताओं का पुन: प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया एवं सामाजिक विशान के लिए नए सिद्धान्त की संरचना करनी चाही हो प्रत्यक्षवादी तत्व व आलोचनात्मक सिद्धान्त के ढांचे को समाविष्ट करेगा ।

13.03 वैबर एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त

आलोचनात्मक सिद्धान्त में ' 'प्रौद्योगिकीय यौक्तिकता ' का प्रमुख विचार, जो कि मार्कोस की पुस्तक 'वन डायमैन्शनल मैन' में पूर्ण रूप से घोषित किया गया दावा करता है कि

प्रकृति पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिक के प्रभुत्व के कारण मुनष्यों पर एक नए प्रकार के प्रभुत्व का उदय होता है यह विचार मैक्स वेबर के आधुनिक विश्व के ' 'यौक्तिकीकरण ' की प्रक्रिया के विचार से समानता रखता है । यह आरोप लगाया गया कि आलोचनात्मक सिद्धान्तवादी 1950 के दशक के बाद वाले वर्षो एवं 1960 के दशक में शनै: शनै: मार्क्स से वेबर की ओर स्थानान्तरित हो रहे थे । वैबर की प्रत्ययात्मकता एव आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों के मध्य समानताओं के दो पक्ष हैं । प्रथम, प्रौद्योगिकीय यौक्तिता अथवा यौक्तिकीकरण को समाज को आकार देने वाली अमूर्त शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो मानवीय नियन्त्रण से परे है और यह 'कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी द्वारा रचित व्यवस्था विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना एक विशिष्ट तरीके से कार्य करती है । इस अर्थ में समाज की पूंजीवादी समाज के स्थान पर ' 'औद्योगिक समाज' ' के रूप में चित्रित करना सही होगा । मार्कोस ने आगे स्पष्ट किया किए प्रौद्योगिकी का प्रयोग नहीं अपितु प्रौद्योगिकी स्वयं प्रकृति एवं मनुष्य पर एक समान शासन करती है । दूसरा यह कि वैब व मार्कोस दोनों की आधुनिक ओद्योगिक समाज के अध्ययन के माध्यम से निराशावादी का प्रक्षेपण करते है । वैबर ने देखा कि तीव्र गति के यौक्तिकीकरण की परिणति विशुद्ध यांत्रिक सामाजिक संबंधो में होगो और वैयक्तिक मूल्यों का दम घुट जाएगा । मुक्ति का इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है कि कोई करिश्माई नेता आकर सामाजिक जीवन को एक नए रास्ते पर प्रेरित करे । मार्कोस का यह भी विश्वास था कि समाज में प्रोद्योगिकीय आधिपत्य का विरोध करने के लिए शायद ही कोई शक्तियां है । केवल जो बहिष्कृत अथवा हाशिए पर हैं वे कभी -कभी इसके विरूद्ध विद्रोह कर सकते है परन्तु यह प्रौद्योगिकीय योक्तिकता को छलने का एक क्षीण प्रयास मात्र होगा । बाद में 1960 के दशक में अतिवादी आन्दोलनों। विशेषकर विद्यार्थियों के उदय ने मार्कोस को आशा की एक नई किरण प्रदान की ।

13.04 हरबर्ट मार्कोस (1898 -1979)

हरबर्ट मार्कोस आलोचनात्मक सिद्धान्त के स्वर्ण काल में इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं विशिष्ट चेहरा था । संस्थान के जर्मनी में पुन: स्थानान्तरित हो जाने के बाद भी वह संयुक्त राज्य अमरीका में ही रहा । पश्चिमी समाज की उसके द्वारा की गई आलोचना, डेनियल बिल, मार्टिन लिपसैट एवं अन्य बुद्धिजीवियों के समाज की दिशा लेकर सामान्य मोहभंग. का हिस्सा है। मार्कोस ने उस समय के जाने माने दार्शनिक मार्टिन हैदगर के विचारों का अध्ययन किया था । मार्कोस व्यक्ति के जीवन की दुर्दशा को लेकर चिन्तित था । उसने यांत्रिक समाज में व्यक्ति के भाग्य एवं प्रमुख विचारधाराओं मे व्यक्ति के उद्धार को लेकर चिन्ता के अभाव के विषय में लिखा है । मार्कोस ने 1932 में मार्क्स के प्रारम्भिक लेखन विशेषकर इकानामिक एण्ड फिलॉसॉफिकल मैन्युस्किप्ट का स्वागत किया जो कि मार्कोस के लिए प्रेरणा बनी रही । मार्कोस के योगदान को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है । प्रथम, आलोचनात्मक विचारक के रूप में हीगल की व्याख्या करना, दूसरा आदर्श समाज यूटोपियन आदर्श समाज की संरचना हेतु मार्क्स एवं वेबर का संश्लेषण करना : और उत्तर 1945 के पश्चिमी समाज एवं उसमें व्यक्ति की दुर्दशा का विश्लेषण करना । 1943 में एक जर्मन यहूदी मार्कोस सुयक्त राज्य अमरीका भाग गया और शेष जीवन वहीं व्यतीत किया । 1941 में उसने कुछ वर्षो तक

गुप्तचर सेवा में ओर बाद में स्टेट विभाग में काम किया । अंग्रेजी में उसका प्रथम प्रमुख ग्रंथ 1941 का रीजन एण्ड रिवोल्युशन था । इसमें उसने मार्क्स एवं हीगल के विचारो की उत्पत्ति एवं उनके तर्कशास्त्रीय विचार एवं सामाजिक दर्शन अनुरेखण किया । उसने हिगल के कार्य मे यौक्तिक तत्व पर बल दिया और उसको फासीवादियों जिन्होंने उसको मूलभूत स्थिति के अविवेकी स्वच्छन्दतावाद का समर्थक माना एवं स्तालिनवादियो जिन्होनें उसे एक अभिजात वर्गीय प्रतिक्रियावादी विचारक माना' दोनों से पृथक ढांचे में प्रस्तुत कियग़ । मार्कोस ने ऑगस्टेट कॉम्टे एवं अन्य के द्वारा बल दिए गए हीगल के विचारों के रूढ़िवादी तत्व विपरीत उनके उग्र सुधारवादी तत्वों को उभारा । उसने माना कि हीगल से मार्क्स का परिवर्तन दर्शनशास्त्रीय शब्दावली में अबोध्य है, क्योंकि ' मार्क्स के सिद्धान्त की समस्त धारणाएँ सामाजिक एवं आर्थिक प्रवग है जबकि हीगल के सामाजिक व आर्थिक प्रवर्ग समसत दार्शिनक धारणाएँ है । " हीगल ने श्रम के प्रवर्ग को निरन्तर प्रयुक्त किया परन्तु मार्क्स ने हीगल के दार्शनिक श्रम को स्वयं के हस्तान्तरित श्रम में परिवर्तित कर दिया । मार्कोस के अनुसार, हीगल मानता था कि क्योंकि मनुष्य विवेकपुर्ण है वह प्रतिवेशी तथ्यों से सीमित नहीं हो सकता। मनुष्य के पास विद्यमान तथ्यो के विश्लेशण की क्षमता होती है इसलिए वह तथ्यों को उस रूप में स्वीकार नहीं करेगा जैसा कि उन्हें प्रस्तुत किया गया हो । वह विवेक बुद्धि के मापदण्ड पर उनका परीक्षण कर उनका विश्लेषण करेगा जो कि मात्र दृष्टिगोचर तथ्यों से उच्चतर हैं । यह बाइय संदर्भ का ढांचा मार्क्स द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया था जिसने विद्यमान तथ्यों को ऐतिहासिक रूप से विकसित तथ्यों के रूप में परिलक्षित किया और मानवीय क्रियाओं को सत्य के ऐसे मानदण्ड से परीक्षण करने का आग्रह किया जो यथास्थिति के परे हो । हीगल के यौक्तिक दर्शन को नकारात्मक माना गया क्योंकि यह उपलब्ध तथ्यों की आलोचना करता है और नियामक आदर्शो की प्रशंसा करता है । हीगल व मार्क्स के तर्को के अनुसार मनुष्य विशेषकर बुद्धिमान मनुष्य, की तर्कबुद्धि उसे विचार करने और यथार्थ विश्व के परे देखने के लिए व भविष्य के विषय में संकल्पना एवं कार्य करने के लिए मजबूर करती है । वह भविष्य जो कि वास्तविक है और विवेक बुद्धि के मानदण्डों के अनुरूप है । मार्कोस मार्क्स से भी आगे जाता है और व्याख्या करता है कि दर्शन से क्रिया में परिवर्तन में ' 'विवेक बुद्धि के विचार का स्थान प्रसन्नता के विचार ने ले लिया है । " प्रसन्नता का यह अनुधावन और इसमें इसकी प्राप्ति में आने वाली बाधाएँ मनुष्यों को कुंठित कर देती हैं - यही मार्कोस के अगले प्रमुख प्रकाशन इरोस एण्ड सिविलाईजेशन (1955) की विषय वस्तु है । इसमें उसने मार्क्स एवं फ्रायड को सम्मिलित करने का प्रयास किया है इस पुस्तक में मार्कोस ने गेर -दमनवादी समाज के सारांश को सविस्तार प्रतिपादित किया है । प्रसन्नता का यह अनुधावन केवल विवेक बुद्धि के माध्यम से संभव नहीं है, फ्रायड का अनुसरण करता हुआ वह सुझाव देता है कि मनुष्य का अवचेतन कला' दर्शन एवं विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से स्वंय को अभिव्यक्त करता है । गैर -दमनवादी समाज वह है जिसमें गैर -संक्रामित श्रम, गैर -परम्परावादी मूल्यों व्यवहार को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता मुक्त यौनाचारण एवं खिलदडापन आदि का अस्तित्व होता है और. इन्हे प्रोत्साहन मिलता है । स्वतंत्रता एवं मुक्ति के इस चित्रण ने

1960 की प्रति संस्कृति के कई मूल्यों का मार्ग प्रशस्त किया और मार्कोस को 1960 के दशक का प्रमुख बुद्धिजीवी बनाने में सहायता की । गैर -दमनकारी समाज के लिए उसकी दलील एव विद्यमान समाज की कटु आलोचना ने मार्कोस के पूर्व सहयोगी एरिक फ्रॉम से उसके विवाद को जन्म दिया । फ्रॉम ने उस पर शुन्यवाद व अनुतरदायी सुखवाद का आरोप लगाया और मार्कोस ने उसे अतिशय "अनुरूपता ' एवं ' 'आदर्शवाद' ' का दोषी करार दिया । मार्कोस मानता है कि एक प्रजातांत्रिक समाज की संरचना करना सस्काव है । जिसमें आवश्यक श्रम भी वैयक्तिक आवश्यकता के अनुरूप एवं एक प्रमुदित वातावरण में संघटित किया जा सकता है । इस प्रकार का समाज अधिशेष दमन की संभावना को दूर कर मनुष्य को संक्रामित श्रम से मुक्ति दिलवा सकता है । मार्कोस ने माना कि प्रसन्नता गैर -दमनकारी समाज का आवश्यक आदर्श होना चाहिए । -उसने आलोचनात्मक राजनीतिक सिद्धान्त में व्यक्ति के महत्व पर बल दिया और मानव प्राधानिक नए सिद्धान्त का प्रचार किया जो अधिशेष दमन से मुक्त है, प्रकृति से विद्रोही है और सफलतापूर्वक एक नए समाज की संरचना करता है जिसमें विवेक बुद्धि युक्ति प्राणी भी प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं । सभ्यता के विषय पर लिखी गई इस पुस्तक का उद्देश्य विशुद्ध राजनीतिक है ।

इस निबन्ध में मनौवैज्ञानिक प्रवर्ग हैं क्योंकि वे राजनीतिक प्रवर्ग बन गए है । एक ओर मनोविज्ञान एवं दूसरी ओर राजनीतिक व सामाजिक दर्शन के मध्यम सीमाएं वर्तमान युग में मानव की स्थिति द्वारा लुप। की जा चुकी हैं पूर्व में स्वाधीन एवं अभिज्ञेय रही अतींद्रिय प्रक्रियाएँ व्यक्ति के राज्य के कार्य के द्वारा आत्मसात् की जा रही हैं -उसके सार्वजनिक अस्तित्व द्वारा।

मार्कोस मानता था कि प्रौद्योगिकी की प्रगति के साथ दमन अधिशेष हो जाता है और व्यक्ति को संक्रमित श्रम सहन करना पड़ता है । गैर -दमनकारी समाज पाने के लिए व्यक्तियों द्वारा संकल्प ले कर किए गए प्रयासों से इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

1958 में मार्कोस ने ' 'सोवियत मार्क्सिज्म' ' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने सोवियत नौकरशाही, संस्कृति एवं मार्क्सवाद के स्तालिनी रूपान्तर की समालोचना प्रस्तुत की । उस समय उसने संभावित उदारवादी प्रवृत्तियों के संकेत दिए जो बाद में गोर्बाचोव के अधीन प्रकट हुए । ' 'वन डायमैन्शनल मैन' (एक आयामी मानव), 1964, के प्रकाशन के पश्चात् मार्कोस प्रसिद्ध हो गया और विश्व के बुद्धिजीव समुदाय में प्रभावशाली माना जाने लगा । इस पुस्तक की प्रमुख दलील इस प्रकार है - तकनीकी प्रगति ने समाज को एक आयामी बना दिया और जैसा कि आशा की गई थी, विवेक बुद्धि पर आधारित होने के स्थान पर समाज एक आयामी बन गया है जिसमें पूंजीवादी आधिपत्य बना हुआ है । एकाधिकारवादी पूंजीवाद उत्पादन, वितरण, यहां तक कि व्यक्तियों में इच्छा के सूत्रपात पर भी नियंत्रण रखता है । व्यक्तियों में मिथ्या आवश्यकताओं को बनाया जाता है तत्पश्चात बढ़े हुए पूजोवादी उत्पादन द्वारा उनको संतुष्ट किया जाता है । जन संचार माध्यम, उपभोक्तावाद एवं भौतिकवादी विचार विद्यमान प्रणाली को बल देते हैं और आलोचना व वैकल्पिक विचारधारा को दूर करते हैं ।

इसका परिणाम होता है एक आयामी विचार व व्यक्ति जिससे मनुष्यों द्वारा उनकी समस्त संभावनाओं को व्यय करने एवं एक पूर्ण जीवन जीने के अवसर कम हो जाते हैं ।

'विश्लेषण अग्रवर्ती औद्योगिक समाज पर केन्द्रित है, जिसमें उत्पादन एवं वितरण का तकनीकी उपकरण (बढ़ते हुए स्वचलन के क्षेत्र के साथ) क्रियाशील होता है, मात्र यंत्रो के योग के रूप में नही जो कि सामाजिक व राजनीतिक प्रभावों से पृथक किए जा सकें, अपितु एक प्रनाली के रूप में जो न केवल उपकरण का उत्पादन बल्कि सेवा एवं विस्तार देने के प्रचालन की प्राथमिकता का निर्धारण करती हे । इस समाज में उत्पादन के उपकरण की प्रवृति इस सीमा तक सर्वसत्तात्मक हो जाती है कि वह न केवल सामाजिक आवश्यकता वाले व्यवसायों' कौशलों एवं अभिवृत्तियों को अपितु वैयक्तिक आवश्यकताओ एवं आकांक्षाओं को भी निर्धारित करती है । इस प्रकार यह निजी एवं सार्वजनिक अस्तित्व वैयक्तिक एव सामाजिक आवश्यकताओं के माध्य विरोध को मिटा देती है । प्रौद्योगिकी सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक संसक्ति को नवीन एवं अधिक प्रभावी, अधिक सुखद प्रारूप स्थापित करने का कार्य करती है ।"

यद्यपि मार्कोस ने यह स्वीकार किया कि पूंजीवादी व सर्वहारा औद्योगिक समाज के दो वर्ग हे परन्तु वह मानता था कि पूंजीवादी विकास ने इन वर्गो के चरित्र को ऐसे परिवर्तित कर दिया है कि अब वे ऐतिहासिक परिवर्तन के कर्ता प्रतीत नहीं होते । अपने सदस्यों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करके औद्योगिक समाज प्रतिवादी के लिए कोई अवसर नहीं छोड़ता । यथार्थ व मिथ्या आवश्यकता के मध्य भेद धूमिल हो जाता है और व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता की कमी से उसकी निर्णय लेने की क्षमता बाधित होती है । 'इस प्रकार समाज एक सर्वसत्तात्मक समाज बन जाता हे । यह सर्वसत्तावाद आतककारी प्रकार का समाज नहीं है अपितु एक आर्थिक -तकनीकी समन्वय है जो आवश्यकताओं के परिचालन के माध्यम से कार्य करता है । सामाजिक नियन्त्रण के नवीन रूप (मार्कोस ने इस पर संपूर्ण अध्याय लिखा है) एंव श्रमजीवियों का समाकलन उन्हें विद्रोही बनाते हैं और इस प्रकार राज्य को अपने प्रभुत्व के विरूद्ध कोइ संभाय धमकी नहीं दिखाई देती । इस प्रकार मार्कोस रूढ़िवादी मार्क्सवाद की दो आधारभूत मान्यताओं पर आपत्ति करता है सर्वहारा का विद्रोही चरित्र और पूंजीवादी संकट की अपरिहार्यता । ऐसी निराशाजनक स्थिति में मार्कोस ने समाज के उपान्तीय वर्गो पर संकेन्द्रन किया (वर्ग के मानदण्ड से भिन्न उपान्तीयता) जैसे अल्पसंख्यक, बुद्धिजीवी, बाहरी लोग इत्यादि और उनमें आलोचनात्मक विचार प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया । मार्कोस, लिंग, पर्यावरण नृजातीयता जैसे उत्तर -आधुनिक विशिष्टताओ का अग्रदूत था ।

'वन डायमैन्शनल मैन" के पश्चात पुस्तकों और लेखों की एक पूरी श्रृंखला आई जिसने नव वामपंथी राजनीतिक विचारधारा एवं पूंजीवादी समाज, विशेषकर इसका आधुनिक चरित्र, की आलोचना को वाणी दी । रिप्रेसिव टॉलरैन्स (1965), एन एस्से ऑन लिबरेशन (1969) एव काउन्टर रैवल्यूशन एण्ड रिवोल्ट (1972) के द्वारा उसने यह कार्य किया । मार्कोस ने हिपी, वियत कॉना, एवं अन्य अतिवादी जैसे मुक्ति आन्दालेनों का समर्थन किया ।

उसकी समापक पुस्तक 'एस्थेटिक डायमैश्न (1979) संस्कृति में सौन्दर्यशास्त्रीय रूप की उद्धारक संभावनाओं का समर्थन करती है ।

हरबर्ट मार्कोस की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है । उसके द्वारा फासीवाद का उदार पूंजीवाद के रूप में चित्रण किया जाना दार्शनिक शब्दावली में अत्यधिक एकपक्षीय माना गया । समुचित मात्रा में अनुवादी कार्य एवं परिष्कृत ज्ञानशास्त्र के अभाव में उसके विचारों को कई आलोचकों द्वारा प्रथम श्रेणी का नहीं माना गया । मार्कोस का ऐसा 'समाज की संभावना के विषय में दृष्टिकोण जिसमें समस्त वासनाओं का परितोषण सम्भव हैं । फ्रायड की मान्यता के विपरीत है कि ऐसा समाज यदि संभव हुआ तो वह सभ्यता को नष्ट कर देगा उस पर सामान्यतया पूर्व -मार्क्सवादियों जर्मनी के वाम हीगलवादियो के विषय में सीमित दृष्टि रखने का आरोप भी लगाया जाता है । सर्वहारा के विद्रोह चरित्र में उसका विश्वास खो देना भी मार्क्सवादी होने के उसके दावे को चुनोती देता है ।

1979 में उसकी मृत्यु के साथ ही उसका विचारक के रूप में महत्व कम हो गया । यद्यपि वह 1960 के दशक का विख्यात विचारक था पर 1960 के दशक में अनेक कारणों से उसका महत्व तेजी से कम हुआ । 1960 के दशक के अतिवादी आन्दोलन, जिनके साथ मार्कोस बौद्धिक स्तर पर जुड़ा हुआ था के पतन ने विचारक के रूप में स्वयं उसके पतन में योगदान दिया । 1980 से प्रचलित आधुनिक उत्तर -आधुनिक वाद विवाद में विवेक, बुद्धि एवं प्रबोधन जैसे प्रबन्धों के सही चरित्र का पुर्वानुमान करने में उसकी असफलता के कारण उसकी पूर्ण उपेक्षा की गई । उसके तर्कशास्त्रीय प्रक्रिया एवं वासनाओं के तुष्टीकरण के विचित्र मिश्रण पर आधारित आदर्श समाज के स्वप्न के बहुत ग्रहीता नहीं थे । परन्तु वर्तमान में उसमें रूचि का अभाव वामपंथी विचारक के रूप में उसके योगदान को कम नहीं करता । उसके एक सारगर्भित सामाजिक सिद्धान्त व अपने समय के औद्योगिक पूंजीवाद की भली प्रकार सोची - समझी समालोचना प्रस्तुत की । मार्क्सवादी सिद्धान्त का पुनप्रतिपादन करने का उसका आग्रह समाज का विश्लेषण करने का एक स्वतंत्र उपकरण था जिसका व्यापक रूप से समादार किया गया क्योंकि यह सोवियत ब्लॉक के विध्वंस के बाद भी मार्क्सवाद के जीवित रहने में सहायक सिद्ध हुआ । प्रौद्योगिकी को सर्वसत्तावादी रूप में निरूपण भी ध्यान करने योग्य है । उसके द्वारा मुक्ति के साधन के रूप में संस्कृति पर बल दिया जाना सामाजिक सिद्धान्त में एक स्वागतयोग्य पहल है । हरबर्ट मार्कोस आलोचनात्मक सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रसिद्ध चेहरा है और संस्कृति, अतिवादी राजनीति एवं प्रौद्योगिकी को सम्बद्ध करने के उसके सतत प्रयास सदैव याद किए जाएंगे ।

13.05 जे.हैबरमां (1929)

जे. हैबरमां आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों की दूसरी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है । वह फ्रैंकफर्ट स्कूल के अन्य सदस्यों का समकालीन नहीं था परन्तु उसने विस्तृत ग्रंथो के माध्यम से किसी भी समकालीन विचारक की तुलना में मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रति अधिक योगदान किया है । मार्कोस के पश्चात आलोचनात्मक सिद्धान्त अपने विशुद्ध रूप में जीवित नही रह सका (आलोचनात्मक सिद्धान्त का अन्तिम शास्त्रीय विचारक हरबर्ट मार्कोस था) और उसकी

प्रमुख चिन्ताएँ विभिन्न विचारकों द्वारा अपने विचारों के साथ मिश्रित कर अपना ली गई । हैबरमां, जिसे नव -आलोचनावादो सिद्धान्त का प्रमुख निर्माता माना जा सकता है, के पास प्राथमिक रूप से तीन क्रार्यक्रम थे -पहला, आलोचनात्मक सिद्धान्तवादियों के प्रत्यक्षवाद के विरूद्ध निन्दा भाषण को जारी रखना, दूसरा समाकालीन दृश्यलेख में मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं धारणाओ को व्यवाहारिक बनाने के लिए उसका पुन: प्रतिपादन करना तीसरा, यह देखना कि 'प्रबोधन परियोजना पूर्ण हो और आधुनिकता का समर्थन हो । बाद में उसने प्रजातंत्र में संविधानवाद की श्रेष्ठता के विरूद्ध अधिक विचार विमर्श के समर्थन में भी संघर्ष किया जिसके पक्ष में रॉल्स जैसे उदारवादी थे ।

हैबरमा ने आलोचनात्मक सिद्धान्तवासियों द्वारा प्रस्तुत की गई प्रत्यक्षवाद की आलोचना को अतिरिक्त तर्को द्वारा विस्तार दिया और प्रत्यक्षवाद के भिन्न रूपों जैसे विएना वलय का प्रत्यक्षवाद और पॉपर की आलोचनात्मक यौक्तिकता में भेद नहीं किया । उसने तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रत्यक्षवाद का विकल्प प्रस्तुत किया । उसने तथ्य व मूल्य के प्रत्यक्षवादी पृथक्तरण की आलोचना की । वह तर्क देता है कि ज्ञान प्राप्ति की वैज्ञानिक प्रणाली एक मूल्य आधारित निर्णय भी है इसलिए तथ्य / निर्णय द्वैतवाद अनावश्यक है और वैज्ञानिक निर्णय एवं मानकों का निर्णय दोनों ही एक सामाजिक रूप से स्वीकृत व्याख्या पर स्वीकार किए जाते हैं । हैंबरमां ने मानव हित से सम्बन्धित ज्ञान का समर्थन किया । उसने तीन ज्ञान विधायक हितों पर आधारित ज्ञान के तीन भेद बताए :

(अ) तकनीकी : वह हित जो भौतिक आवश्यकताओं व श्रम पर आधारित है, जो कि अनुमावादी -विश्लेषणात्मक विज्ञान के उद्देश्य -क्षेत्र को बनाता है । यहां पर जो ज्ञान स्थापित है वह कार्य ज्ञान है । यहां कार्य का अर्थ उस तरीके से है जो एक व्यक्ति पर्यावरण से परस्परिक क्रिया में प्रयोग करता है और उसे नियन्त्रित करने का प्रयास करता है । सामान्य रूप से इसे यांत्रिक क्रिया कहते है और ज्ञान अनुभववादी अनुसंधान पर आधारित होता है । प्राकृतिक विज्ञान के सामान्य शोध जीव विज्ञान, रसायन शास्त्र एवं भौतिक शास्त्र आदि इस ज्ञान के अन्तर्गत आते है । समस्त अनुभववादी -विश्लेषणात्मक विज्ञान जो परिकल्पनात्मक -निगमानात्मक सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं । इस क्षेत्र की विशेषता है ।

(ब) प्रयोगात्मक. वह हित जो व्यक्तियों के मध्य, सामाजिक समूहों के मध्य व सामाजिक समूहों के अन्दर संवाद पर आधारित समझ, भाषा की वर्ग -सार्वत्रिक विशिष्टता पर आधारित है, जो ऐतिहासिक -व्याख्यात्मक ज्ञान के क्षेत्र को बनाता है । यहाँ ज्ञान (अनुभववादी अथवा विश्लेषणातमक) अभिप्राय की पारस्परिक समझ की अनार्विषयकता द्वारा शासित है । यहां अर्थ की समझ प्रयोगात्मक सत्य से अधिक महत्वपूर्ण है । अधिकतर व्याख्यात्मक विद्याएँ जैसे इतिहास, सामाजिक विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र आदि इस ज्ञान रुके अन्तर्गत आते हैं ।

(स) उद्धारक : वह हित जो शक्ति के प्रयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई विकृत क्रियाओं के तथ्यों पर आधारित है, जो स्व -चिन्तन अथवा आलोचनात्मक ज्ञान को बनाता है । यहां स्व -ज्ञान, वासना आधारित, संस्थागत एवं पर्यावरणीय शक्तियों जो हमारी स्वतंत्रता को सीमित करती हैं और सामाजिक नियंत्रण आरोपित करती हैं, से पहचाना जाता है । ज्ञान स्व -उद्धार के

माध्यम से प्राप्त किया जाता है, स्व एवं प्रतिवेश पर चिन्तन परिवर्तित चेतना तक ले जाता है। इसमें हैबरमा नारीवादी सिद्धान्त, मनोविश्लेषण एवं कोरी सिद्धान्तवादिता की आलोचना को सम्मिलित करता है ।

ज्ञान के साथ तीन प्रकार के मानवीय हितों को अभिन्न बना कर तथा यह दावा कर कि विज्ञान ज्ञान का केवल एक स्वरूप है, हैबरमा प्रत्यक्षवाद के ' 'विज्ञानवाद' ' पर आक्रमण करता है जो कि विज्ञान को ज्ञान के बराबर मानता है । अपने बाद के ग्रंथो में, हैबरमां ने ज्ञान के सिद्धान्त के विषय में अपनी स्थिति को रूपान्तरित कर लिया था । उसने ज्ञान के सिद्धान्त की कई कोणों से आलोचना हुई । उसके द्वारा किया गया अनुभववादी -विश्लेषणात्मक विज्ञान एवं ऐतिहासिक -व्याख्यात्मक ज्ञान में विभेद कोई नई बात नहीं और व्याख्या एवं समझ के मध्य दीर्ध काल से स्थापित विभेद से इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जो कि जर्मन सामाजिक विचारधारा के एक भाग के रूप में प्राकृतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान की भिन्न प्रणालियाँ है । वह इसको सुव्यवस्थित रूप से सूत्रबद्ध नहीं करता और वह विधियाँ नहीं बताता जिससे अपने -अपने क्षेत्र का ज्ञान समाविष्ट हो । उसका तीसरे प्रकार का ज्ञान, जो कि उद्धारक है, भी अनेक आलोचकों द्वारा कोई नया विचार नहीं, अपितु प्रयोगात्मक व सैद्धग्रन्तिक, बोध व अभिप्राय के मध्य के विरोध से परे जाने के जर्मन आदर्शवाद की परम्परा का पुनराग्रह ही माना जाता है । मनोविश्लेषण को उद्वारक ज्ञान का उदाहरण मानने और इस प्रकार आलोचनात्मक सिद्धान्त का एक प्रतिमान मानने के हेबरमां के प्रयास की भी इस आधार पर आलोचना हुई है, कि यह फ्रायडियन विश्लेषण की गलत प्रस्तुती देता है जो कि यर्थाथ में नेमित्तिक व्याख्या को सम्मिलित करता है और केवल सीमित अर्थ में ही उद्धारक है ।

13.06 सारांश

अगर हम समसामयिक राजनीतित सिद्धान्त की प्रकृति को देखे तो यह पाते है कि पिछले एक दशक से व्यक्ति एवं समाज की पारस्परिक संबधता का अध्ययन ही उसका मुख्यत विषय रहा है । साथ ही जिसे तेजी से राजनीतिक सिद्धान्त से संबधित साहित्य सामने आ रहा है वह अपने आप में राजनीतिक सिद्धान्त के प्रति बढ़ती हुई रूचि का प्रबल प्रतीक है ।

13.07 बोध प्रश्न

1. आलोचनात्मक सिद्धान्त क्या है? समझाए ।
2. आलोचनात्मक सिद्धान्त की विवेचना कीजिए ।

13.08 संदर्भ ग्रंथ :

1. मार्टिन जे. द डायलैक्टिकल इमेजिनेशन बोटन लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी, ।973 पे. 296
2. टीम बॉटमोर, द फ्रैंकफर्ट स्कूल एण्ड हदस क्रिटिक्स. लन्दन, रूटलेज 2002, पे 16
3. एम. हॉर्किमर, क्रिटिकल थ्योरी : सैलेक्टेड एस्सेज, न्यूयॉर्क, हर्डर एण्ड हर्डर, 1972 पे.288
4. डेविब मैक्मिलन, मार्क्सिज्य आफ्टर मार्क्स द मैक्मिलन प्रैस, 1979, पे. 263
5. ब्रायन फ्रे, सोशल थ्योरी एण्ड पॉलिटिकल प्रैक्टिस. लन्दन, एलैन एण्ड अनविन 1975

6. हरबर्ट मार्कोस, रीजन एण्ड रैवोल्यूशन. सैकण्ड एडीशन, लन्दन, रूटलेज, 1954 पे. 258
7. हरबर्ट मार्कोस, इरोस एण्ड सिविलाइजेशन. लन्दन. रूटलेज 1966, पे. 21
8. हरबर्ट मार्कोस, वन डायमैन्शनल मैन. बोस्टन. बीकन, 1964 पे. 4
9. कीट, द पॉलिटिक्स ऑफ सोशल थ्योरी ऑक्सफोर्ड, बेसिल ब्लैकवेल, 1981

इकाई-14

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.01 प्रस्तावना

14.02 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: परिभाषा'

14.03 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

14.04 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: प्रमुख विचारक

14.05 बोध प्रश्न

14.06 संदर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप मे सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: को समझ सकेंगे ।
- सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: की ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि तथा इसके सैद्धान्तिक विकास क्रम की जानकारी ले सकेंगे ।
- सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: के प्रमुख विचारकों की प्रस्थापनाओं को समझ सकेंगे ।
- एक सिद्धान्त के रूप में सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: की आलोचना के बिन्दुओं को समझ सकेंगे।

14.01 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त : परिभाषा

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त एक समाज -मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है जो दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों, समूहों या पक्षों के मध्य सामाजिक विनिमय के स्वरूपों तथा प्रक्रियाओं का वर्णन एवं व्याख्या करता है । इसके अनुसार सामाजिक संबंधों का निर्माण सामाजिक अन्तःक्रियाओं के संदर्भ में लागत -लाभ के विषयनिष्ठ मूल्यांकन एवं विकल्पों की तुलना के आधार पर होता है । उदाहरण के तौर पर, यदि किसी व्यक्ति को जब यह प्रतीत होने लगता है कि विद्यमान परिस्थितियों में किसी संबंध -विशेष को बनाए रखना उसे भारी पड़ने लगा है तो वह उस संबंध -विशेष से मुक्त हो जाना चाहता है, उस संबंध -विशेष से मुक्त होने का प्रयास करने लगता है और उपयुक्त परिस्थितियों में वह उस संबंध -विशेष से मुक्त हो जाता है । इसके विपरीत, यदि किसी व्यक्ति को अन्तःक्रियात्मक आधार पर जब यह आभास होता है कि कोई संबंध -विशेष उसके लिए वर्तमान में लाभप्रद है या भविष्य में लाभप्रद हो सकता है तो वह उस संबंध -विशेष को स्थापित एवं घनिष्ठ बनाने के प्रयास प्रारंभ कर देता है।

वस्तुत: सामाजिक विनिमय सिद्धान्त बहु -विषयक उपागम (multi disciplinary approach) के आधार पर विकसित हुआ एक व्यवहारोन्मुख सिद्धान्त है जिसमें शास्त्रीय

अर्थशास्त्र (classical economic) के उपयोगितावादी, सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology) के विनिमयवादी तथा मनोविज्ञान (psychology) के व्यवहारवादी सिद्धान्तों के प्रमुख तत्वों का समावेश है । पुनः, अवधारणात्मक एवं वैषयिक उपागमों के स्तर पर भी इस सिद्धान्त की एकाधिक धाराएँ विकसित हुई हैं जिनमें होमन्स का विनिमय व्यवहारवाद (Exchange Behaviouralism) पीटर ब्लॉ का संरचनात्मक विनिमय (Structural Exchange) तथा हेचर का विवेकी विनिमय (Relation exchange) सिद्धान्त प्रमुख है । होमन्स के द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त का केन्द्रीय संदर्श समूह तथा सामूहिकता है जबकि ब्लॉ संदर्भ में संरचना तथा संरचनात्मकता एवं हेचर विवेकशील व्यवहार (relation behaviour) को प्रमुख स्थान देते है ।

14.02 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त: ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

वर्तमान समाजशास्त्रीय जगत में सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (social exchange theory) सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है । सम्भवत: यह एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जिसके संदर्भ मे विगत कुछ दशकों में कई महत्वपूर्ण विनिमयवादी परिप्रेक्ष्य उभरे है। इस बारे में यह उल्लेखित करना महत्वपूर्ण होगा कि इसमें से अधिकांश की जड़े या तो शास्त्रीय अर्थशास्त्र के उपयोगितावादी (Utilitarion) या मनोविज्ञान की व्यवहारवादी (Behaviourist) परम्पराओं से जुड़ी हुई हैं । परन्तु इसके साथ ही यह भी एक रोचक तथ्य है कि आधुनिक परिदृश्य में ये दोनों परम्परागत परिप्रेक्ष्य परस्पर मिलकर सामाजिक विनिमय सिद्धान्त को एक नया और विशिष्ट आयाम प्रदान करते हैं ।

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के प्रणेताओं एवं अध्येताओं में जॉर्ज सी० होमन्स, पीटर एम० ब्लॉ तथा रिचर्ड इमर्सन इत्यादि के नाम प्रमुख हैं । परन्तु यदि इसके सैद्धान्तिक विकास की पृष्ठभूमि तथा प्रक्रिया की चर्चा भी की जाये तो इस क्रम में मानवशास्त्री जेम्स फ्रेजर, मैलिनावस्की इत्यादि के नाम प्रमुखता से उभरते हैं जिन्होंने अपने अध्ययनों एवं मानवशास्त्रीय अनुसंधानों के सहारे जनजातीय एवं परम्परागत समाजों में वस्तुओं सेवाओं एवं साख (credit) आदि के पारम्परिक एवं पारस्परिक (mutual) आदान प्रदान के व्यवहारों को प्रकाश में लाकर उनके आलोक मे मुख्यधारा के समाजों में प्रचलित सामाजिक विनिमय के प्रकारों एवं प्रक्रियाओं को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समझने हेतु विनिमयवादी उपागम का आधार निर्मित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

दैनिक जीवन में विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से कतिपय वस्तुओं (comodities) अथवा सेवाओं (services) के पारस्परिक आदान प्रदान को विनिमय (exchange) की संज्ञा दी जाती है । सामाजिक स्तर पर सामाजिक संदर्भो में हुआ विनिमय 'सामाजिक विनिमय' (social exchange) के रूप में जाना जाता है । और सामाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में यही सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (social exchange theory) का केन्द्रीय संदर्श है।

सैद्धान्तिक रूप में सामाजिक विनिमय सिद्धान्त को स्पष्ट एवं व्याख्यायित करने के क्रम में इसके प्रमुख सिद्धानावेत्ताओं के दृष्टिकोणों, उनके द्वारा प्रस्तुत अवधारणाओं स्थापित प्रस्थापनाओं एवं सैद्धान्तिक अभिमुखीकरण को आगे प्रस्तुत किया गया है:

1. जार्ज होमन्स विनिमय व्यवहारवाद । (Exchange Behaviouralism)

जार्ज होमन्स ने सामाजिक विनिमय सिद्धान्त में 'विनिमय व्यवहारवाद' के रूप में जो योगदान दिया उसकी झलक हमें सर्वप्रथम 1950 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'दी हयूमन ग्रुप (The Human Group) में देखने को मिलती है । विकसित रूप में इसे उन्होने अपनी एक अन्य बहुप्रशशित पुस्तक सोशल बिहेवियर: इट्स एलिमिटरी फार्म्स (social behavior: Its elementary forms 1961) में प्रस्तुत किया ।

हालाँकि समाजशास्त्र में होमन्स की 'विनिमय व्यवहारवाद' एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रस्तुति रहा है तथापि सामाजिक व्यवहारों की सर्वव्यापकता को देखते एवं स्वीकार करते हुए उन्होने इसे मात्र एक विशुद्ध समाजशास्त्रीय संदर्भ न मानते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि यह समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के साथ -साथ किसी ना किसी रूप में अन्य सभी समाज विज्ञानों में भी महत्वपूर्ण रूप से उपस्थित है ।

जॉर्ज सी. होमन्स के अनुसार सामाजिक विनिमय सामाजिक अन्तःक्रियाओं (social interactions) का एक परिभाषित स्वरूप है जिसमें व्यक्ति की क्रियाओं का विनिमय सामाजिक व्यवहारों के रूप में सामने आता है । सामाजिक व्यवहारों में पारस्परिकता होती है जो अर्न्तवैयक्तिक संबंधों की स्थापना का आधार बनती है ।

जार्ज होमन्स के विनिमय व्यवहार की प्रमुख मान्यताएँ:

जॉर्ज होमन्स ने सैद्धान्तिक रूप में 'विनिमय व्यवहारवाद' को स्थापित करने के क्रम में इस सिद्धान्त के संदर्भ में कुछ विकसित कीं है । इनको अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया गया है -

1. जीव असुखकर अनुभवों से बचना चाहता है परन्तु यदि उसे ये विश्वास हो कि दीर्घावधि में आवश्यकताओं की पूर्ति में हल्के -फुल्के एवं सीमित अवधि के अप्रीतिकर अनुभव सहायक हो सकते हैं तो वह उनसे होकर गुजरना उचित समझता है ।
2. जीव कतिपय या विशिष्ट व्यवहारों को तभी तक करता है जब तक वो उसकी तत्संबंधित आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम बने रहते हैं ।
3. जिस व्यवहार की सहायता से किसी आवश्यकता -विशेष की पूर्ति होती है, सामान्यतया जीव उसको निरन्तर करता रहता है ।
4. अतीत में, जिस व्यवहार -विशेष से आवश्यकता -विशेष की पूर्ति होती रही है, यदि उससे वर्तमान में या किसी क्षण ततसंबंधित आवश्यकता की पूर्ति होनी बंद हो जाए तो जीव इस संदर्भ में उग्र हो जाता है । यदि यह स्थिति दीर्घावधि तक बनी रहती है तो जीव क्रमश: उस व्यवहार -विशेष से आवश्यकता की पूर्ति के संदर्भ में किनारा कर लेता है ।
5. किसी पुरस्कृत अथवा दंडित व्यवहार के संदर्भ में यदि किसी घटना की पुनरावृत्ति बार -बार निर्धारित समय पर होने लगे तो क्रमश: वह उद्दीपन का स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा

जीव को पुरस्कार प्राप्ति हेतु उस व्यवहार को करने को प्रेरित करती है या दंड से बचाने हेतु उसे उस व्यवहार को करने से रोकती है ।

पुरस्कारों के विनिमय के रूप में मानवीय व्यवहार का अवधारणात्मक अध्ययन होमन्स के सामाजिक विनिमय सिद्धान्त का मौलिक आधार है । विनिमय -व्यवहारवाद की उपरोक्त मान्यताएँ नियोजित ढंग से जीवों पर प्रयोगशालाओं में किए गये प्रयोगों तथा उनके परिणामों और निष्कर्षो के आलोक में विकसित हुई है । मनुष्य के जीवन, उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवहारों, उसके सामाजिक परिवेश तथा आवश्यकताओं एवं उनकी पूर्ति के उपायों में इतना वैविध्य और जटिलता है कि इन मान्यताओं का मानवीय सन्दर्भो में सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है, तथापि सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान है ।

विनिमय व्यवहारवाद: प्रमुख अवधारणाएँ

अपने सिद्धान्त तथा इसकी आधरभूत मान्यताओं की प्रस्तुति एवं विश्लेषण के क्रम में होमन्स ने कुछ मौलिक अवधारणाओं का उपयोग किया है । इनमें से कुछ अवधारणाओं को संक्षेप मे निम्नांकित बिन्दुओं के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।

1. **उद्दीपन (Stimulus)-** 'उद्दीपन' जीवों को किसी आवश्यकता विशेष की पूर्ति के सन्दर्भ में आवश्यक विशेष प्रकार के व्यवहार को करने को प्रेरित करती है ।

2. **क्रिया (Action)-** किसी आवश्यकता की पूर्ति या व्यवहार के संपादन के क्रम में जीव सकारात्मक (पुरस्कार) या नकारात्मक (दण्ड) परिणामों की आंकाक्षा से जो कुछ भी करता है, वह क्रिया है ।

3. **पुरस्कार (Reward)-** उद्दीपन की वह क्षमता जो जीव की उसकी आवश्यकता की पूर्ति के सन्दर्भ में सन्तुष्टि प्रदान करती है, उसे 'पुरस्कार' कहते हैं ।

4. **दण्ड (Punishment)-** उद्दीपन की वह क्षमता जो जीव को उनकी आवश्यकता की पूर्ति को रोकती है अथवा असन्तुष्ट या नाराज करती है, उसे 'दण्ड' कहते है ।

5. **मूल्य (Value)-** मूल्य' उद्दीपन द्वारा प्रेरित व्यवहार के पुरस्कार का स्तर है ।

6. **लागत (Cost)-** किसी क्रिया को सम्पन्न करने के क्रम में मिलने वाले पुरस्कार या दण्ड को लागत' के रूप में देखा जाता है ।

7. **दृष्टिकोंण (Perespective)-** पुरस्कारों एवं दण्ड के आकलन की क्षमता को 'दृष्टिकोण कहते हैं।

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त सम्बन्धी होमन्स के प्रस्ताव (proposition)

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की प्रकृति के क्रम में होमन्स ने समाज में प्रचलित व्यवहार प्रारुपों के सम्बन्य में कुछ सामान्यीकरण तथा इन पर आधारित कुछ प्रस्ताव विकसित किए है । ये प्रस्ताव निम्नलिखित हैं:

1. सफलता सम्बन्धी प्रस्ताव (success Proposition) :

व्यक्ति द्वारा की गई क्रियाओं में सर्वाधिक क्रियाएँ वो होती हैं जिनमें उसे सफलता मिलती है । जिन क्रियाओं से उसे वांछित लाभ की प्राप्ति होती है उन्हे वह क्रियाओं को बार - बार करता हे और करना चाहता है ।

2. **उद्दीपन प्रस्ताव (stimulus proposition)**

पूर्व के जीवन में व्यक्ति को जिस उद्दीपन के प्रभाव में की गई क्रिया का परिणाम सकारात्मक एवं पुरस्कार के रूप में हुआ होता है, समान परिस्थितियों में यदि उसे वैसा ही उद्दीपन प्राप्त हो तो वह पूर्व के सदृश कार्य ही करना पसंद करता है ।

3. मूल्य प्रस्ताव (value preposition)

जिस क्रिया के परिणाम जितने ही लाभप्रद एवं मूल्यवान होंगे, व्यक्ति उस क्रिया को बार -बार करना पसन्द करता है ।

4. वंचन -तृप्तीकरण प्रस्ताव (Deprivation satiation preposition)

निकट अतीत में की गई क्रिया के पुरस्कार का मूल्य उसी क्रिया के निरन्तर दोहराए जाने के साथ क्रमश: घटता जाता है । बहुत कुछ यह अर्थशास्त्र के उपयोगिता हास नियम से मिलता -जुलता प्रस्ताव है ।

5. आक्रामकता अनुमोदन प्रस्ताव (Aggression Approval Preposition)

किसी क्रिया को करने के पश्चात् यदि व्यक्ति को प्राक्कलित या वांछित पुरस्कार नहीं मिल पाता है या उसे पुरस्कार के स्थान पर दंड प्राप्त होता है तो वह आक्रामक हो जाता है और इस संदर्भ में आक्रामक व्यवहार करने को तत्पर हो जाता है । इसी प्रकार, हालाँकि विपरीत स्वरूप में व्यक्ति द्वारा किसी क्रिया को करने के पश्चात् यदि अपेक्षा या प्राक्कलन के अनुरूप, या उससे कहीं अधिक, लाभ प्राप्त होता है या इस कम में सम्भावित दण्ड से बच जाता है, तब वह प्रसन्नचित हो जाता है और ऐसी क्रियाओं को बार -बार करना और दोहराना चाहता है ।

6. विवेकशीलता प्रस्ताव (Rationalty preposition)

वैकल्पिक क्रियाओं एवं व्यवहारों के संदर्भ में व्यक्ति तत्कालीन आधार पर उन क्रियाओं या व्यवहारों का चयन करता है, जिसके परिणाम अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान हो सकते हैं तथा जिनको अपेक्षाकृत अधिक सरलता से किया जा सकता है ।

उपरोक्त प्राय: सभी प्रस्तावों का आधार वस्तुत: मनोवैज्ञानिक है जिनको समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवहारों की उत्पत्ति तथा उनकी पारस्परिकता को विनिमयवादी दृष्टिकोण से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।. हालाँकि इनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है तथापि निगमनात्मक प्रकृति का होने के कारण ये सामाजिक व्यवहारों के विश्लेषण हेतु महत्वपूर्ण है ।

होमन्स के अनुसार यदि 'प्रस्तावों को व्यावहारिकता के सन्दर्श प्राप्त होते हैं तो वो अमूर्त कथनों से स्वयसिद्ध रूप में परिवर्तित हो जाते हैं । सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के व्यवहारवादी उपागम के बारे में इस सन्दर्भ में निम्नांकित कुछ नियम महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं.

1. व्यक्ति उस क्रिया या तत्सम्बन्धित व्यवहार को प्राथमिकता देता है जिससे सम्भावित पुरस्कारों का मूल्य सर्वाधिक प्रतीत होता है ।
2. व्यक्ति उस क्रिया को अधिक करता है जिसमें सफलता प्राप्ति की सम्भावनाएँ सर्वाधिक होती हैं ।

3. कृषकीय समाजों की तुलना में साक्षर औद्योगिक समाजों के व्यक्ति क्रियाओं एवं व्यवहारों के पुरस्कारों के सन्दर्भ में अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित होते हैं ।
4. इस आधार पर औद्योगिक समाजों के व्यक्तियों का पुरस्कार प्रदायक शिक्षा के प्रति रूझान अधिक होता है ।
5. इस क्रम में अधिकांश व्यक्ति शिक्षा प्राप्ति के प्रयास करना चाहते हैं ।
6. शिक्षा प्रक्रिया हेतु प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: धन की आवश्यकता होती है ।
7. इस परिप्रेक्ष्य में, कृषकीय समाजों की तुलना में औद्योगिक समाजों में, कुछ आधारों पर, तुलनात्मक रूप से ज्यादा लोग सम्पन्न होते हैं ।
8. सापेक्षित सम्पन्नता के कारण औद्योगिक समाजों में तुलनात्मक रूप से अधिक संख्या में लोग शिक्षा प्राप्त करने एवं शिक्षा हेतु खर्च कर सकने में सक्षम होते हैं ।
9. तथा, अधिकांश लोग शिक्षा प्राप्ति के प्रयासों को सफलता प्राप्ति के सन्दर्भ में उपयोगी एवं उपयुक्त समझते है ।
10. इसलिये अधिकांश लोग शिक्षा प्राप्ति की दिशा में आवश्यक प्रयास करते हैं ।
11. चूँकि उनके अनुमान प्राय: सटीक होते है, औद्योगिक समाजों में अधिकांश लोग वास्तव में शिक्षा ग्रहण करते हैं । यही कारण है कि कृषकीय समाजों की तुलना में औद्योगिक समाजों में साक्षरता दर ऊँची होती है ।

हालाँकि सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के व्यवहारवादी उपागम के उपरोक्त नियम कुछ सन्दर्भो में उपयोगी एवं उचित प्रतीत होते हैं तथापि सामान्यीकरण की दृष्टि से इनमें शाब्दिक, व्यावहारिक तथा क्रमिक अनारों पर तमाम विसंगतियां भी दृष्टिगत होतीं हैं ।

जार्ज होमन्स के सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की आलोचना के प्रमुख बिन्दु

जार्ज होमन्स हालाँकि समाजशास्त्र के अग्रणी आधुनिक अध्येताओं में सम्मिलित किए जाते हैं तथापि सामाजिक विनिमय सिद्धान्त को प्रस्तुत करने के क्रम में सैद्धान्तिक व्यतिक्रमों, विसंगतियों, असंगत प्रस्तावों इत्यादि से स्वंय को परे नहीं रख पाते हैं । उदाहरण के तौर पर उसकी मौलिक अवधारणाओं का केन्द्रीय संदर्भ विवेक (rationality) दिखता है तथा अपने प्रस्तावों (proposition) के संदर्भ में वो शास्त्रीय अर्थशास्त्र के उपयोगितावादी सिद्धान्त तथा उपयोगिता संतुष्टि हाल नियम जैसी मौलिक मान्यताओं का उपयोग करते हैं तथापि उन्होंने इनकी पर्याप्त आलोचनाएँ भी की हैं । सामाजिक व्यवहारों का विश्लेषण क्रिया अंतःक्रिया, पुरस्कार, दण्ड इत्यादि के संदर्भ में करते समय वह यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों का एक पहलू ऐसा भी है जो लाभ -हानि से परे भावनात्मक तथा संवेगात्मक स्वरूप का है । ऐसे व्यवहारों के परिप्रेक्ष्य में गणनात्मक एवं गणितीय सिद्धान्त अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं । ऐसे ही कुछ बिन्दुओं को होमन्स के विनिमयवादी सिद्धान्त की आलोचना का आधार बनाया गया है । इनमें से कुछ प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं

1. विवेकशीलता (rationality)

जैसा कि पूर्व की पंक्तियों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का एक पहलू ऐसा भी होता है जिसमें अर्थशास्त्रीय जगत के नियम, भौतिकवादी दर्शन तथा गणनात्मक परिप्रेक्ष्य गौण हो जाते हैं । इसके अलावा यह भी

सत्य हे कि प्रत्येक सामाजिक व्यवहार पूर्व -संरचित एवं परिणामों के सन्दर्भ में प्राक्कलित नहीं होता है और न ही परिणामों के सन्दभ्र में सिर्फ आक्रामकता, निराशा एवं प्रसन्नता के प्रस्तावों से ही जुड़ा रहता है । परिस्थिति विशेष में सामाजिक व्यवहारों के सन्दर्श परिवर्तित होते रहते हैं। होमन्स की विवेकशीलता सम्बन्धी स्थापनाएँ इन बिन्दुओं को स्पष्ट नहीं कर पातीं । समाज एक सतत एवं स्वाभाविक प्रवाह है जिसमें विवेकशीलता के बिन्दु सदैव ही प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण हो, यह आवश्यक नहीं है।

2. पुनरुक्ति (Tautology)

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की प्रस्तुति के क्रम में होमन्स ने मूल्य (value), पुरस्कार (reward) क्रिया (action) आदि के रूप में जिन अवधारणाओं का एकाधिक सन्दर्भो में एकाधिक बार प्रयोग किया है उनकी स्पष्टता क्रमश: अस्पष्ट होती गई है । इसके कारण कहीं -कहीं हमें उनके सिद्धान्त मे अवधारणात्मक अस्पष्टता घाल -मेल की सीमा तक दिखती है। उदाहरण के तौर पर अपने एक प्रस्ताव के स्पष्टीकरण के संदर्भ में वो कहते हैं कि ' 'व्यक्ति उस क्रिया को करना पसन्द करेगा जिसके परिणाम उसके लिये तुलनात्मक रूप से सर्वाधिक मूल्यवान है । " इस कथन को पुनरुक्ति के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि मूल्य अंसनमद्ध को पुरस्कार के स्तर (degree of reward) तथा पुन: क्रिया (action) को पुरस्कार (reward) संदर्भित व्यवहार के रूप में परिभाषित किया गया है । उनके सिद्धान्त में इस तरह की कई शक्तियाँ हैं जिन्होने आगे चलकर पुनशक्तियों का स्वरूप ग्रहण कर लिया है ।

3. सरलीकरण (Reduction)

हालॉकि सूक्ष्म (micro) एवं मध्य -अभिसीमा (middle range rheory) के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की अपनी उपयोगिता एवं महत्ता है तथापि मात्र इसलिये कि वृहद् (grand) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त जटिल एवं दुरुह है, समाजशास्त्रीय अभिमुखीकरण का सर्वाधिक स्थायी एवं वैधानिक स्वरूप नकारा नहीं जा सकता । समग्रतावादी सिद्धान्तों के नियमों एवं अवधारणाओं को लघु एवं सूक्ष्म सामाजिक इकाइयों पर लागू करना 'सिद्धान्तों का सरलीकरण कहा जाता है । परन्तु इस प्रकार के सरलीकरण सदैव तक्रसंगत एवं व्यावहारिक हो' यह आवश्यक नहीं है । होमन्स ने सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की प्रस्थापनाओं एवं प्रस्तावों के सहारे इसके सैद्धान्तिक सरलीकरण का प्रयास तो अवश्य दिया है परन्तु इस क्रम में वो पराकाष्ठा तक पहुँच गए प्रतीत होते हैं । उदाहरण के तौर पर उनका यह कहना है कि " मनुष्यों के व्यवहारों के व्यक्तिपरक अध्ययन के द्वारा, संस्थाओं, संगठनों एवं समाजों, जिनका अध्ययन समाजशास्त्री करते हैं, का समग्ररूप में विश्लेषण किया जा सकता है । इसलिये उनका वर्णन मनुष्य के व्यक्तिपरक व्यवहारों के अध्ययन से संबन्धित प्रस्तावों के द्वारा अवश्य किया जाना चाहिये' ' । इस दृष्टिकोण की तह में जाने के क्रम में हम यह पाते हैं कि समाज (society) जैसी व्यापक अवधारणा क्रमश: संगठन, संस्था समूह, व्यक्ति, जीव, शरीर, रसायनिक तत्वों भौतिक नियमों एवं जड़ पदार्थो के रूप में सिमटती जा रही है । किसी भी दृष्टिकोंण से यह एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रतीत नहीं होता है । सैद्धान्तिक सरलीकरण व्यावहारिक उपलब्धियों एवं तक्रसंगत सैद्धान्तिक उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में तो ठीक है परन्तु इनका

जाने -अनजाने में इतना सरलीकरण कर दिया जाये कि सैद्धान्तिक मौलिकता एवं स्पष्टता विनष्ट हो जाए, यह उचित नहीं है ।

आलोचना के तमाम बिन्दुओं तथा अवधारणात्मक विसंगतियों की उपस्थिति के बावजूद होमन्स व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक तत्वों वाले एक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में सफल रहे है । उन्होंने यह स्पष्ट करने के सफल प्रयास किये कि सामाजिक व्यवहारों को समझने के क्रम में छोटे -छोटे समूहों का अध्ययन भी आवश्यक एवं उपयोगी है क्योंकि परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ वृहद् समाजों की प्रवृत्ति एवं प्रकृति परिवर्तित होती रहती है । उनकी सैद्धान्तिक प्रस्तुति इस अर्थ में और भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है कि उन्होंने समाज का विभिन्न दृष्टिकोंणों से अध्ययन करने वाले विषयों अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र आदि की अवधारणाओं मान्यताओं एवं सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं का एक नवीन दृष्टिकोण से संश्लिष्ट उपयोग कर समाजशास्त्रीय उपागम को बहु वैषयिक उपागम से समृद्ध किया है ।

पीटर एम. ब्लॉ का संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त (structural Exchange Theory) :

पीटर एम. ब्लॉ की गणना अग्रिम पंक्ति के समाजशास्त्रियों में होती है । संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त के रूप में उन्होंने विनिमयवादी प्रकार्यवादी एवं द्वन्द्वातमक तथा संघर्षवादी सिंद्धान्तों का एक सकारात्मक समन्वय प्रसतुत किया है । साथ ही, उन्होने विनिमयवादी सिद्धान्तों के विभिन्न प्रकारों का एक समन्वयकारी स्वरूप विकसित करके सूक्ष्म -वृहद् सिद्धान्तों के मध्य विद्यमान अंतराल को पाटने का भी प्रयास किया है ।

अपनी महत्वपूर्ण कृति एक्सचेंज एण्ड पावर इन सोशल लाइफ' (exchange and power in social life) में सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के संरचनात्मक विनिमयवादी स्वरूप को प्रमुख करते हुए उन्होंने - (1) तुलनात्मक रूप से छोटे अंतःक्रियात्मक संजालों (network) में होने वाली सरल प्रकृति की प्रत्यक्षत: होने वाली विनिमय प्रक्रियाओं को अवधारणात्मक रूप में प्रस्तुत करने, तथा (2) इसके आधार पर इन अवधारणाओं का प्रयोग बृहद् सामाजिक व्यवस्थाओं में होने वाले अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष विनिमयों की जटिलताओं के विश्लेषण हेतु करने के सैद्धान्तिक प्रस्ताव रखे । हालाँकि प्रथम दृष्ट्या ब्लॉ भी होमन्स की भाँति उप -संरचनात्मक (sub -institutional) व्यवहारों के विश्लेषण हेतु सामाजिक विनिमय के प्राथमिक स्वरूपों का ही सहारा लेते हैं तथापि होमन्स के विपरीत, जो सामाजिक व्यवहार में 'अति' की अवधारणात्मक प्रस्तुति के द्वारा सैद्धान्तिक विसंगति के शिकार हो जाते हैं ब्लॉ संस्थाकरण की अपेक्षाकृत अधिक जटिल प्रक्रियाओं को समझने के क्रम में प्राथमिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने हेतु विनिमय सम्बन्धी अवधारणाओं को पूरक के रूप में प्रस्तुत करते हैं । इसके अलावा, होमन्स की भाँति विनिमयवादी व्यवस्था के सन्दर्भ में परिर्वत्यों (variable) को चिन्हित एवं प्रस्तुत करने के स्थान पर ब्लॉ ने अपना ध्यान विनिमय की परिभाषा विशिष्ट प्रकार के अतःक्रियात्मक समूहों के संदर्भ में करने पर केन्द्रित करते है जो उन क्रियाओं में संलग्न होते हैं जो दूसरों को पुरस्कारों के रूप में प्रतिक्रिया करने की संभावनाओं से सम्बद्ध होती हैं परन्तु यदि

प्रतिक्रिया के रूप में पुरस्कार प्रदान करने वाली क्रियाएँ संभव नहीं हो पाती है तो वो अपनी क्रियाओं को तुरन्त समाप्त भी कर देते हैं ।

पीटर एम. ब्लॉ के विनिमय सिद्धान्त के मौलिक आधार:

विनिमय व्यवहार को स्पष्ट करते हुए पीटर ब्लॉ कहते हैं कि सिर्फ वैसे व्यवहारों को विनिमय व्यवहार की श्रेणी में रखा जा सकता है जो विशिष्ट पुरस्कारों अथवा लाभ प्राप्ति हेतु किए जाते हैं, जिनका चयन इस संदर्भ में कर्त्ता विनिमय विकल्पों (exchange option) में से उचित विकल्प के रूप में करता है तथा इनको वह उस विशेष प्रकार से करता है जिससे उसे प्रत्याशित पुरस्वगर या लाभ की प्राप्ति सुनिश्चित हो सके ।

इस संदर्भ में पीटर ब्लॉ भी होमन्स की भाँति अर्थशास्त्रीय नियमों एवं मान्यताओं का सहारा लेते है । वो समाज को अर्थशास्त्रीय प्रारुपों पर आधारित एक संरचना, एक व्यवस्था मानते हैं और यह स्पष्ट करते है कि 'लोग संभावित पुरस्कारों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विनिमय की प्रक्रिया का भाग बनते हैं । ऐसे परिप्रेक्ष्यों को ब्लॉ सामाजिक आकर्षण (social attraction) की संज्ञा देते हैं और बताते हैं कि जब तक पारस्परिक संबंधों मे इस प्रकार का आकर्षण नहीं उत्पन्न होगा वो विनिमय संबंधों की श्रेणी में नही आ पाते ।

सामाजिक विनिमय हेतु स्थापित संबांधो एवं किए गए व्यवहारों के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि संसाधन -सम्पन्नता एवं पारस्परिक मांगों के आधार पर व्यक्ति तथा समूह परस्पर भिन्न प्रकार के अभिमुखीकरण वाले हो सकते है तथा विभिन्न संदर्भो में उनकी अपेक्षाऐ भी भिन्न प्रकार की हो सकती हैं ।

संसाधन -सम्पन्नता तथा मांगों की पारस्परिकता के बारे में ब्लॉ कहते है कि दोनो के आधार पर चार प्रकार के पुरस्कारों को अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है: पैसा (money), सामाजिक स्वीकृति (social approval) सम्मान (esteem) तथा आज्ञापूर्ति (compliance) । यद्यपि ये महत्वपूर्ण अवधारणात्मक प्रस्तुतियाँ मानी जातीं हैं परन्तु सामाजिक संबंधों की जटिल एवं भावनात्मक प्रकृति के कारण ब्लॉ इन अवधारणाओं का यथोचित उपयोग नहीं कर पाए ।

संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त के नियम

उपरोक्त अवधारणाओं के आधार पर पीटर ब्लॉ ने सामाजिक विनिमय के कुछ नियम बतलाए हैं जो अधोलिखित है -

1. लोग वैसे व्यवहारों को ज्यादा करने में रूचि प्रदर्शित करते है जिनके द्वारा दूसरों से उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्ति की संभावना होती है ।
2. सामाजिक विनिमय तथा विनिमय आधारित व्यवहारों के क्रम मे लोग पुरस्कारों एवं लाभों का जितना अधिक विनिमय करेंगें, उनमें पारस्परिक कृतज्ञता का स्तर उतना अधिक होगा । ऐसे व्यवहार इस आधार पर उतने ही सृदीर्घ प्रकृति के होंगे ।
3. सामाजिक विनिमय के क्रम मे किए जाने वाले व्यवहार समाज द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित भी होते हैं । विनिमय प्रक्रिया या संबंधों का उल्लंघन करने पर विनिमय प्रक्रिया या संबंधों का उल्लंघन करने वाले पक्ष को सामाजिक स्तर पर दंडित होना पड़ता है ।

4. अर्थशास्त्र के सीमान्त उपयोगिता ह्यास नियम की ही भाँति. जिन व्यवहारों या क्रियाओं से पुरस्कार सतत एवं सहज रूप में मिलते रहते हैं, उनका महत्व क्रमश: घटता जाता है ।
5. विनिमय की न्याय संगतता विनिमय संबंधों की स्थिरता पर निर्भर करती है ।
6. कुछ विनिमय संबंधों के स्थायित्व एवं संतुलन का तात्पर्य यह है कि अन्य विनिमय संबंध अस्थायी तथा असंतुलित प्रकृति के होंगे ।

संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त की विशेषताएं

अपने संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त के संबंध में ब्लॉ द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त नियमों का विकास नौकरशाही के उनके अनुभविक अध्ययन के क्रम में हुआ था । जैसा कि स्पष्ट है, ब्लॉक के विनिमय सिद्धान्त का केन्द्रिय संदर्भ सामाजिक संरचना है तथा नौकरशाही को उन्होनें तत्कालीन सामाजिक संरचना के संदर्भ मे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पाया था । अपने अध्ययनो के निष्कर्षो के आधार पर पीटर ब्लॉ ने विनिमय सिद्धान्त के कुछ लक्षणों एवं विशेषताओं की व्याख्या की है । ये लक्षण एक प्रकार से विभिन्न संदर्भो मे विनिमय व्यवहारों एवं प्रक्रियाओं के संकेतक हैं । इनमे से कुछ प्रमुख लक्षण एवं विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

1. **एकीकरण (unification)-** समाज मे एकीकरण उत्पन्न करना या सामाजिक एकीकरण की परिस्थितयां उत्पन्न करना सामाजिक विनिमय की एक प्रमुख विशेषता है । हालाँकि अपने विनिमयवादी उपागम के संदर्भ में ब्लॉ ने कुछ प्रमुख मानवशास्त्रियो यथा मेलिनोवस्की, जेम्स फेजर, लेवी स्ट्रस आदि द्वारा प्रस्तुत उपागमों एवं मान्यताओं से असहमति व्यक्त की है तथापि उन्हीं की भांति उन्होने यह स्वीकार भी किया है कि सामाजिक विनिमरा का एक बहुत प्रभावी लक्षण सामाजिक एकीकरण लाना है जो आर्थिक विनिमय से अधिक व्यापक एवं विशिष्ट होता है । विनिमय सामाजिक एकीकरण के अपने प्रयासों के क्रम मे अपने विनिमय प्रारूपों के द्वारा प्रभुत्वशाली एवं अधीनस्थ समूहों का क्रमश: निर्माण करता जाता है जो वस्तुत: सामाजिक विनिमय के संदर्भ में शक्ति के परिप्रेक्ष्य में, व्यवहारिक संतुलन एवं स्थिरता के लिए आवश्यक होता है ।

2. **आस्था (faith)-** जैसा कि पूर्ववर्णित है, सामाजिक विनिमय की प्रकृति आर्थिक विनिमय की तुलना मे भिन्न और -व्यापक होती है । इसे स्पष्ट करते हुए ब्लॉ ने कहा है कि यद्यपि प्रारंभिक विनिमय व्यवहार एवं संबंध आर्थिक विनिमय की भांति विशुद्धतः लाभ एवं स्वार्थ पर आधारित होते है तथापि इनके परिप्रेक्ष्य में निर्मित सामाजिक संबंध क्रमश: लाभ एवं स्वार्थपरक व्यवहारों एवं संबंधों को आस्थाधरित बनाने लगते हैं । जो व्यवहार बार -बार दुहराए जाते है एवं अपेक्षाकृत सुदीर्घ प्रकृति के होते हैं, वो विनिमय संबंधों की सीमा से आगे जाकर क्रमश: निजी संबंधों में परिणत होने लगते हैं । उदाहरण के तौर पर, कार्यालयीय संबंध क्रमश: घनिष्ठता करते -करते आगे चलकर आस्थाधरित निजी संबंधो में परिवर्तित हो जाते हैं ।

3. **विभेदीकरण (Differentation)-**वृहद समाजों मे सामाजिक विनिमय तथा सामाजिक सबंधों की प्रकृति बहुकोणोय एवं अपेक्षाकृत जटिल प्रकृति की होती है । सामाजिक व्यवस्था का संरचनात्मक सिद्धान्त इसे अधिक स्पष्टता से विश्लेषित करता है । सामाजिक व्यवहारों, अंतःक्रियाओं गतिविधियों तथा इनके आधार पर एवं इनके परिप्रेक्ष्य में निर्मित सामाजिक संबन्ध तथा इनके बीच स्थापित विनिमय सम्बन्ध (exchange relation) समय के साथ क्रमश:

अप्रत्यक्ष होते जाते हैं । सामाजिक विनिमय सिद्धान्त विनिमय द्वारा निर्मित सामूहिक एव संबन्धात्मक विभेदीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहता है कि लाभ एवं संतुष्टि के दृष्टिकोंण से स्थापित विनिमय संबन्ध व्यक्तियों को व्यक्ति के रूप में न देखकर उन्हे क्रमश: उत्पादक एवं उपभोक्ता (उदाहरण के तौर पर) में विभेदीकूत कर देते हैं । इनमें हालाकि किसी प्रकार के रक्त, नातेदारी या समहू -समाज अधारित संबन्ध अतसम्बन्ध नहीं होते है तथापि सामाजिक विनिमय इनका विशिष्ट समूहों -श्रेणियों में विभेदीकरण कर देता है । इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि सामाजिक संबन्धी एवं विनिमय के निर्धारण में मानकों, मूल्यों, समरुपताओं तथा सामाजिक वैधताओं का महत्त्वपूर्ण अंशदान होता है ।

4. **सामूहिक मूल्य (collective value)** समाज में सामाजिक संबन्धों एवं सामाजिक विनिमय की पारस्परिकता तथा प्रगाढ़ता के साथ -साथ सामाजिक व्यवस्था में इनके इर्द -गिर्द कतिपय मूल्यों एवं मानदण्डों का विकास होता जाता है एवं क्रमश: उनमें सुदृढता आती जाती है। सामूहिक मूल्यों के विकास के साथ पुन: सामाजिक संबन्ध और भी प्रगाढ़ होते जाते हैं तथा विनिमय व्यवहारों. में तत्जन्य विवेकशीलता आती जाती है ।

5. **शक्ति (power)** लॉ के अनुसार विनिमय प्रक्रिया में शक्ति (power) एक महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में परिलक्षित होती है । यहाँ शक्ति के तात्पर्य वस्तुत: आर्थिक शक्ति या अर्थवत्ता को प्रभावित कर सकने वाले सम्बन्धों एवं क्षमताओं से है । उनके अनुसार मूल्यवान सेवाओं के विनिमय के क्रम में शक्ति का जन्म होता है । मूल्यवान सेवनों के विनिमय के की प्रक्रिया से संबद्ध पक्षों में से एक पक्ष सेवाएँ प्रदान करता है तथा दूसरा पक्ष सेवान् ग्रहण करता है । ये दोनो पक्ष क्रमश: शक्ति' के एक संतुलित परन्तु पारस्परिकताधारित बंधन में बंधते जाते हैं और उनके सामाजिक संबंधों मे क्रमश: सुदृढ़ता आती जाती है । शक्ति' पर आधारित ऐसे संबंध वस्तुत: असमान प्रकृति के होते हैं परन्तु इनमें विनिमयपरक संतुलन एवं सातत्य कं महत्वपूर्ण लक्षण भी सम्मिलित होते हैं । उद्योगपति -श्रमिक और थोड़ा आगे जाकर व्यापारियों -उपभोक्ताओं इत्यादि के मध्य सामाजिक विनिमय एवं शक्ति के समरूप संदर्श सहजता से देखे जा सकते हैं । कृतज्ञता (obligation) तथा मूल्य (value) इत्यादि ऐसे ही तत्त्व हैं ।

संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त की आलोचना

ब्लॉ के अनुसार वैसी गतिविधियाँ ही विनिमय कही जा सकती हे जिनको विशिष्ट लक्ष्यों तथा लाभ प्राप्ति के सन्दर्भ में सम्पन्न किया जाता है । इस संदर्भ में लागत तथा लाभ का आकलन कर्ता की प्राथमिकता होती है तथा आकलनाधारित सफलता की संभावना को प्रतिशत के आधार पर वह अपनी गतिविधियों की रूपरेखा निर्मित करता है । इसे स्पष्ट करने हेतु ब्लॉ सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की मौलिक अवधारणाओं उद्दीपन, क्रिया, लागत, मूल्य, अपेक्षा, संभाविता अनुक्रिया इत्यादि का प्रयोग तो करते हैं परन्तु वो इनकी व्याख्या दूसरों के साथ इनके सम्बन्धों तक ही सीमित करके देखते हैं ।

इसी प्रकार, पीटर ब्लॉ यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक विनिमय सम्बन्धों का अंतिम लक्ष्य लोगों से 'घनिष्ठता स्थापित करना है परन्तु विनिमय सम्बन्धों के प्रत्येक स्वरूप के बारे में यह सही नही है ।

जार्ज होमन्स तथा पीटर ब्लॉ के अतिरिक्त लेवी स्ट्रास तथा माइकेल हेशर जैसे समाजविज्ञानियो ने भी अपने -अपने बौद्धिक अभिमुखीकरणों के अनुसार सामाजिक विनिमय सिद्धान्त की उपागमात्मक प्रस्तुति दी है । लेवी स्ट्रास जहाँ विशुद्धतः संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या करते हैं वहीं हेशर व्यक्ति तथा उसके विवेक को विनिमय की धुरी मानते हुए अधिकतम लाभ हेतु विवेक के प्रयोग से विकल्पों के चयन' का उपागम प्रस्तुत करते है । इसकी अंतर्भूत विशेषताओं के आधार पर सैद्धान्तिक रूप से इसे विवेकशील विकल्प सिद्धान्त (rational choice theory) की संज्ञा दी गई है । वस्तुतः यह शास्त्रीय अर्थशास्त्र के उपयोगितावादी सिद्धान्त का सामाजिक व्यवहारों एवं विनिमय के अध्ययन के क्रम में विकसित एक समाजशास्त्रीय संस्करण है जो लाभ विकल्प, विवेक, चयन तथा सामाजिक स्वीकृति सामाजिक विरासत की प्रस्थापनाओं के साथ सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के अध्ययन को और समालोचित एवं सुदृढ करता है ।

14.06 बोध प्रश्न

1. सामाजिक विनियम सिद्धान्त का आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।
2. पीटर ब्राउसर का सामाजिक विनियम सिद्धान्त मे योगदान की विवेचना कीजिए ।

14.07 संदर्भ पुस्तकें

पीटर एम. ब्लॉ, एक्सचेंज एण्ड पावर इन एवरीडे लाइफ, न्यूयॉक्र, विली, 1964

जार्ज सी. होमन्स सोशल बिहैवियर ऐज एक्सचेंज, न्यूयक्रि 1958

जार्ज सी. होमन्स दी हयूमन ग्रुप, न्यूयार्क, 1950

जार्ज सी. होमन्स सोशल बिहैवियर, इट्स एलीमेन्टरी फार्म्स, न्यूयार्क, 1961, 1974

जोनाथन टर्नर - जार्ज सी. होमन्स बिहैवियरिस्टिक एप्रोच, इन दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशियॉलॉजिकल थिऑरी चैप्टर 20, एड. बेलमान्द, वर्डस्वर्थ 1998

इकाई-15

संघर्षवादी सिद्धान्त : संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.01 प्रस्तावना

15.02 संघर्ष सिद्धान्त की पृष्ठभूमि

15.03 संघर्ष सिद्धान्त तथा कार्ल मार्क्स

15.04 कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त अन्य संघर्ष सिद्धान्त के समाजशास्त्री

15.05 क्रिटिकल समाजशास्त्र तथा फ्रेंकफर्ट विचारधारा

15.06 संन्दर्भ

15.07 बोध प्रश्न

15.08 शब्दावली

15.08 संदर्भ ग्रन्थ

15.0 उद्देश्य

इस पाठ के उद्देश्य निम्न हैं

- समाजशास्त्र में संघर्ष सिद्धान्त के विषय में जानना ।
- समाजशास्त्र में संघर्ष के सैद्धान्तिक प्रयोग की चर्चा
- संघर्ष सिद्धान्त में योगदान देने वाले प्रमुख समाजशास्त्रीय सन्दर्भो का विश्लेषण
- सिद्धान्त के प्रयोग के लिए की गई व्याख्याओं को समझाना ।

15.01 प्रस्तावना

प्रारंभ से ही समाजशास्त्र की व्याख्याएँ समाज से संबंधित कई प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करती रही है । ये व्याख्याएँ इस बात का प्रयास भी करती है कि समाज की संरचना, संचालन प्रक्रिया तथा सामाजिक परिवर्तन से संबंधित ज्ञान को विकसित किया जाय । इन्हीं प्रयासों ने अलग -अलग सैद्धान्तिक व्याख्याओं को जन्म भी दिया । इन अलग -अलग व्याख्याओं में मूल प्रश्न वही थे, जिनको हल करना समाजशास्त्री अपना कर्तव्य समझते थे । इन व्याख्याओं को तैयार करने में अनेकों विवाद भी रहे हैं । ये विवाद मूल रूप में सिद्धान्त के व्यवहारिक स्वरूप तथा अध्ययन की उपलब्धियों से अधिक रहे हैं । यह भी विवाद रहा है कि किन परिस्थितियों में कौन सा सिद्धान्त समाज की स्थितियों को समझाने में समर्थ है । विश्व की बदलती परिस्थितियों ने भी इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है । कहना न होगा संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक - सैद्धान्तिक व्याख्याएँ अधिक परिपक्व समझी जाती रही हैं और उसका प्रयोग भी बहुत हुआ है ।

संघर्ष की सैद्धान्तिक व्याख्या समाजशास्त्र की अन्य सैद्धान्तिक व्याख्याओं में से एक है। सत्यता यह है कि संघर्ष के एक नहीं कई सिद्धान्त है और उनमें विभिन्नताएँ भी है । ये

विश्लेषण समाज के विभिन्न पक्षों से उभरे हैं । यह भी सच है कि वर्तमान समाजशास्त्रियों ने यह प्रयत्न किया है कि इन विभिन्नताओं को मिला कर किसी संयुक्त विश्लेशण के आधार पर एक नया सिद्धान्त रचा जाय, जिसका संबंध संघर्ष की सैद्धान्तिक व्याख्या से ही हो । यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से यह सिद्धान्त कुछ नया है, पर सिद्धान्त की नींव काफी पहले रख दी गई थी । प्राचीन दार्शनिकों तथा राजनीतिशो ने इस सबंध में अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की थी । डॉन मार्टिन्डेल ने अपनी पुस्तक the nature and type of sociology theory में सघर्ष सिद्धान्तों की व्यापक ऐतिहासिक व्याख्या की है । यह आवश्यक है कि संघर्ष सिद्धान्त की इस पृष्ठभूमि पर विचार किया जाय ।

15.02 संघर्ष सिद्धान्त की पृष्ठीभूमि

एक बार जब यह स्वीकार कर लिया गया कि समाज की संरचना संसाधन तथा परिवर्तन का केन्द्र है, स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण की कई परम्पराएँ स्थापित हो गई । हर समाज के अपने संघर्ष हैं और समाज में रहने वाले व्यक्तियों को इनका सामना करना पड़ता है।ग्रीस के पारंपरिक लेखन में अनेकों चिन्तक हुए, जिन्होंने संघर्ष को समाज का प्राथमिक आधार ही नहीं अपितु प्राथमिक तथ्य माना । हरक्यूलिरस से लगाकर सोफिस्ट ने इसे प्राथमिक तथ्य के रूप में ही स्वीकार किया । इन पुराने, विश्लेषणों में संभवत: पोलीबस ने मजबूती से यह स्वीकारा कि राजनीतिक संस्थाओं की रचनाओं में संघर्ष ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य है।उन्ने माना कि राज्य एक स्थायित्व वाली संस्था है और इसी स्थायित्व की इच्छा संघर्ष उत्पन्न करती है । अरबी विद्वान इब्ने खालदून ने (जिसको पाश्चात्य समाजशास्त्र ने गंभीरता से नहीं लिया) ने माना था कि सभ्यता के विकास के लिए घुमना तथा किसानों के बीच संघर्ष अनिवार्य था । संघर्ष की ऐसी ही प्रक्रियाओं से समाज और सभ्यता आगे बढ़ी है ।

इब्ने खालदून के तर्क पश्चिम में तब तक स्वीकार नहीं हुए, जब तक पोलीबस के माध्यम से सीधे ही मेकियावेली तक नहीं पहुँचे । पिछले विद्वानों की तरह मेकियावेली ने भी राज्य की प्रमुख संस्थाओं की उत्पत्ति को उसी संदर्भ मे देखा । इन विचारों का विस्तार बीडिन ने किया, जिनने इन्हीं आधारों पर प्रभुता (soverignty) के सिद्धान्त को विकसित किया । इन्हीं विचारों के आधार पर थॉमस हॉब्स ने भौतिकवादी तार्किकता को स्पष्ट किया ।

आधुनिक समय मैं इन पुराने केवल तार्किक सन्दर्भो से हटा गया तथा डेविड ह्यूम और अदम फ्रागयुसन ने इसे आनुभाविक आधारों पर परखा । ह्यूम ने इसी आधार पर राजनीतिक दलों से संबंधित सिद्धान्त की रचना की । फर्ग्युसन से सामान्य राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण किया और कहा कि ये संस्थाएँ संघर्ष से ही पैदा होती है । फ्रांस में टारगोट ने भी अपने सिद्धान्त इसी आधार पर विकसित किये ।

संघर्ष सिद्धान्तों ने अर्थशास्त्र, विशेष रूप से पारंपरिक अर्थशास्त्र (classical economic) की मुख्यधारा में प्रतियोगिता के सिद्धान्तों का समावेश कर लिया गया । इस दृष्टि से इस थॉमस माल्थस ने अस्तित्व के लिए प्रतियोगिता के महत्व की चर्चा की । यही उनके जनसंख्या के सिद्धान्तों का आधार बना । संघर्ष सिद्धान्तों ने जैवशास्त्र (biology) में भी

प्रवेश किया । डार्विन ने अपने शोध कार्य से जैविक विज्ञान की पुनर्रचना की और मानवीय उत्पत्ति के परस्पर विरोधी आधारों के माध्यम से नई मान्यताएँ प्रस्तुत की ।

सामाजिक संघर्षो के सिद्धान्तों की मान्यताएँ पश्चिमी विद्वतजगत में प्रभावशाली रही थी । विशिष्ट तथा सामान्य परिस्थितियों की बहुत सारी विवेचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं । इन विवेचनाओं के दो प्रकार के स्वरूप हैं । इन स्वरूपों को अध्ययन परम्पराएँ भी कहा जा सकता है -

1. पहली परम्परा का संबंध शक्ति के संबंधो और राजनीतिक दर्शन से है । ऐसे विश्लेषणों में राज्य केन्द्र बिन्दु रहा है ।
2. दूसरी परम्परा प्रतियोगितात्मक संघर्ष की रही है । इन प्रतियोगितात्मक संघर्षो में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाएँ सम्मिलित है ।

यदि समग्र दृष्टिकोण से संघर्ष सिद्धान्त के मूलभूत तत्वों की चर्चा की जाय तो इन्हें निम्न रूपों में देखा जा सकता है ।

1. समाज एक संतुलित व्यवस्था नहीं है । यह एक दूसरे से असंबद्ध इकाइयों द्वारा निर्मित है। यह किन्हीं इकाइयों द्वारा चुनौतियों को देने और कुछ इकाइयों द्वारा अधीनस्थ भूमिका की संरचना है ।
2. समाज की ये इकाइयाँ निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया में रहती है । परिवर्तन एवं संघर्ष समाज की प्रक्रियात्मक आन्तरिक हिस्से है ।
3. समाज की बहुत बड़ी जनसंख्या, अपना जीवन बिताने, एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने तथा संघर्ष करने में व्यस्त रहती हैं । सामाजिक परिवेश वह परिवेश है, जिसमें समाज के कर्ता इन संघर्षो तथा प्रतियोगिताओं को करते हैं ।
4. किसी समाज में परिवर्तन की निहित प्रक्रिया अपनी प्रकृति, गहनता तथा उग्रता के अंशों में भिन्न -भिन्न होती है । ये प्रवृत्तियाँ खुली भी हो सकती हैं और छुपी हुई भी ।
5. सघर्ष सामाजिक संरचना में निहित इकाई है । यह इस संरचना की प्रकृति का हिस्सा है । विश्लेषण की दृष्टि से इसके बाहय तथा आंतरिक आधारों की विवेचना हो सकती है ।

डहरनडार्फ ने संघर्ष सिद्धान्त के निम्न तत्वों की चर्चा की है ।

1. हर समाज प्रत्येक समय परिवर्तन के दायरे से जुड़ा रहता है । परिवर्तन अपरिहार्य है ।
2. हर समाज हर समय संघर्ष के साथ जुड़ा होता है । समाज में संघर्ष भी अपरिहार्य है ।
3. समाज की हर इकाई परिवर्तन के लिए सहयोग देती है ।
4. प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के द्वारा पैदा किये तनावों के आधार पर जीती है । ये ही सदस्य तनावों में संघर्ष पैदा करते हैं ।

संघर्ष सिद्धान्त के उपर्युक्त प्रस्ताव, समाजशास्त्रियों द्वारा संघर्ष के महत्व पर जोर देता है । पर समाजशास्त्रीय प्रस्तावों का यह एक पक्ष है । समाजशास्त्रीय प्रस्तावों में संघर्ष के अतिरिक्त अन्य पक्षों को भी सम्मिलित किया गया है ।

15.03 संघर्ष सिद्धान्त तथा कार्ल मार्क्स

संघर्ष सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण महत्वपूर्ण हैं । कार्ल मार्क्स मूलत: भौतिकवादी सामाजिक सघर्ष और उनसे होने वाले सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के गंभीर चिन्तक माने जाते है । उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स का संघर्ष सिद्धान्त, समाज की संरचना के कई पक्षों से संबंधित था ।

मार्क्स से भी पहले हीगल ने द्वंद्वात्मकता के आधार पर संघर्षो को चिन्हित करने की कोशिश की थी । बाद में द्वंद्वात्मकता (Dialectic) मार्क्स के स्पष्टीकरणों का भी आधार बनी । हीगल के अनुसार जब मानव का मस्तिष्क यथार्थता पर जाता हे तो वह चिन्तन प्रक्रिया में परिवर्तित होना प्रारंभ होता है । मानव का चिन्तन शाश्वत सुनिश्चित तरह से तय किया ही नहीं होता । प्रक्रिया के रूप में उत्पन्न कोई भी विचार वाद (Thesis) आवश्यक रूप में उसके विपरीत विचार प्रतिवाद (Anti -Thesis) को जन्म देता है । वाद तथा प्रतिवाद विचारों के बीच के संघर्ष को सुलटाना आवश्यक है । अत: दोनों विचार के समझौतावादी दृष्टिकोण से संशलिष्टता (Synthesis) की स्थिति उभरती है । हीगल मानते थे कि विचारों के ये ही संघर्ष समाज में इतिहास के नये परिवर्तनीय स्वरूपों को स्थापित करते हैं । विचारों की यह द्वंद्वात्मक प्रक्रिया निरन्तर रूप से चलती रहती है और समाज में सोपानीय परिवर्तन आते रहते हैं । हीगल ने उन सोपानों की चर्चा भी की जो इन विचारात्मक संघर्षो के माध्यम से स्थापित हुए थे । हीगल के अनुसार प्रत्येक यथार्थ एक वाद (Thesis) है उसे प्रतिवाद (Anti - Thesis) के साथ समन्वय स्थापित ही करना पड़ता है । यह संघर्ष हटाने की मूल आवश्यक प्रक्रिया है, जिसके आधार पर समाज में संतुलन बनाने का प्रयास किया जाता है । द्वंद्वात्मकता की यही प्रक्रिया उद्विकासीय आधारों को स्थापित कर सामाजिक परिवर्तन के आधारों का निर्माण करती है । मार्क्स ने अपने विश्लेषण के लिए हीगल द्वारा प्रस्तुत इन आधारों को स्वीकार किया था पर कतिपय अंतरों के साथ । हीगल का विचार था कि इन विचारों की उत्पत्ति का केन्द्र अनादि शक्ति है ।

संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या को मार्क्स के संदर्भ में उसे दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा दूसरा ऐतिहासिक भौतिकवाद ।

मार्क्स ने अपने द्वंद्वात्मक विश्लेषण में हीगल के विचारों को पलट दिया । हीगल के विचारात्मक द्वंद्ववाद के स्थान पर मार्क्स ने भौतिकवादी द्वखवाद को स्वीकार किया । मार्क्स ने माना -

1. भौतिक यथार्थता ही वास्तविक यथार्थता है ।
2. यही भौतिक यथार्थता समाज में रहने वाले व्यक्तियों के मस्तिष्क में प्रतिबिंबित होती है ।
3. इसी प्रतिबिंब से मनुष्य के मस्तिष्क में यथार्थता के प्रति विचार उत्पन्न होते है ।
4. भौतिकवादी इन्हीं परिस्थितियों में विचारों के द्वन्ह होते हैं और इन्हीं द्वंद्वात्मक प्रक्रियाओं से समाजों में परिवर्तन आता है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के लिए सामाजिक संघर्ष के विश्लेषण का सिद्धान्त था। इसी सिद्धान्त का उन्होंने इतिहास पर परीक्षण किया था और उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा ।

उन्होंने माना कि मनुष्य की प्राथमिक परिस्थितियाँ उसके अपने अस्तित्व के लिए भौतिकवादी परिस्थितियाँ हैं । प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यावहारिक संबंध आर्थिक संबंध हैं, आर्थिक संरचना मनुष्य के भौतिकवादी आधार का मूल है । इस आर्थिक संरचना में उत्पादन की शक्तियाँ वर्ग बनाती है जो समाज की दो परस्पर विरोधी शकियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । यही संरचना विरोधाभास तथा शोषण की अवस्थाएँ उत्पन्न करती है और ये ही विरोधाभास तथा शोषण की अवस्थाएं वर्ग संघर्ष उत्पन्न करती हैं । मानवीय समाज का सारा इतिहास इसी प्रकार के वर्ग संघर्षो का इतिहास मार्क्स का संघर्ष सिद्धान्त बिल्कुल सादा और स्पष्ट है । वर्ग संघर्ष मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त का मूल केन्द्रीय बिन्दु है । मार्क्स के स्पष्टीकरण को निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है ।

1. अब तक के स्थित समाजों का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास है । इतिहास के पुरातन साम्यवाद, दासता, सामंतवाद, पूंजीवाद युग इन्हीं वर्ग संघर्षो की यथार्थता से उभरे हैं । इतिहास के इन सोपानों में अलग -अलग स्वरूपों के वर्ग रहे हैं और इन्हीं वर्गो के द्वंद्वों ने नई आर्थिक राजनेतिक सत्ताएँ स्थापित की है ।
2. मनुष्य की अपनी सोच उसे समाज में स्थापित नहीं करती । समाज ही परिस्थितियों में मनुष्य के अस्तित्व को निर्धारित करता है । यह निर्धारण उसका वर्ग निर्धारण भी है । इसी निर्धारण से वह सोच विकसित होता है, जिस पर आधारित संघर्ष उत्पन्न होते हैं ।
3. जो वर्ग शासन में है, अथवा दूसरे शब्दों में जिनके पास आर्थिक -राजनैतिक प्रभुत्व है, उनके विचार ही समाज के प्रभुत्वशाली विचार होते हैं । वे ही बौद्धिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे विरोधी विचार ही संघर्ष की प्रक्रिया को जन्म देते हैं । मार्क्स ने इसी द्वन्द्वात्मक आधार पर पूंजीवाद के नष्ट होने तथा समाजवादी समाज या वर्गहीन समाज के स्थापित होने की कल्पना की थी । पूंजीवादी युग सामंतवादी युग से उभरा था । पूंजीवादी तथा सर्वहारा वर्ग के पारस्परिक द्वन्ह के आधार पर उन्होंने भविष्य के समाज की स्थापना पर बल दिया था ।

15.04 मार्क्स के अतिरिक्त अन्य संघर्ष सिद्धान्त के समाजशास्त्री

मार्क्स के द्वंद्वात्मक आधार पर संघर्ष सिद्धान्त पर अन्य विद्वानों की प्रतिक्रियॉ हुई, पर ये प्रतिक्रियाएँ मूलत: मार्क्स के मूल आधारों पर ही नहीं थी । समाजशास्त्रियों ने अपनी तरह से भी संघर्ष सिद्धान्त की विवेचनाएँ की । इससे पहले कि अन्य समाजशास्त्रियों की चर्चा की जाए, मार्क्स के विचारों को निम्न रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है ।

1. मार्क्स मानते थे कि सम्पत्ति या उत्पादन के साधनों का तथा उसके वितरण का समाज में महत्व है ।
2. समाज में आर्थिक निर्धारणवाद (Economic determinism) महत्वपूर्ण तथ्य है । यही निर्धारणवाद समाज के लोगों के साथ संबंध स्थापित करता है ।
3. उत्पादन के साधनों के वितरण से बने वर्ग संयुक्त होते है और संगठित आधारों को पैदा करते है ।

4. पूंजीवादी व्यवस्था 'अतिरिक्त मूल्य' तथा 'अलगाव: के सिद्धान्तों के साथ जुड़ी है, जो श्रमिकों में संघर्ष की मानसिकता को तैयार करती है ।
5. संघर्ष का यह स्वरूप क्रांतिजन्य है । सारे अन्तर्विरोध तथा विषमताएँ, मार्क्स के विश्वास के अनुसार समाप्त हो जाएंगे ।
6. संघर्ष का अर्थ है कि एक युग की समाप्ति तथा दूसरे का प्रारंभ । मार्क्स ने इसे परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया था ।

मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचनाएँ भी हुई हैं और इसमें अन्य लोगों ने योगदान भी दिया है । यह कहा गया कि सिद्धान्त में निर्धारणवाद का आधार सही नहीं है, द्वंद्वात्मकता ही अकेले परिवर्तन को नहीं लाता ।

अब अन्य समाजशास्त्रियों की चर्चा की जा सकती है -

सी. राइट मिल्स

सी.राइट मिल्स का सिद्धान्त शक्ति अभिजन (Power elities) अमेरिका के शक्तिजन और वर्ग संघर्ष के एक नये स्वरूप का अध्ययन है । मिल्स यह मानते हैं कि अमरीका में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को जोड़ा तोड़ा जाता है । यह जोड़ तोड़ परस्पर गुंथे हुए तीन संस्तरण में फौज उद्योग तथा राजनीतिक द्वारा होता है । ये तीनों संस्तरण सत्ता को प्राप्त करने के लिए संघर्षात्मक तोड़ -तोड़ की प्रक्रिया को अपनाते हैं । इन संस्तरणों का नेतृत्व तथा अधिकार इन्हीं अभिजनों के हाथों में है । इन्हीं तीन प्रकार के अभिजनों के पारस्परिक संदर्भ सत्ता के संदर्भ में उलट -पलट होते रहते हैं । मार्क्स के एकाधिकार सत्ता प्रतिमानों के स्थान पर मिल्स बहु आधारीय प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं और संतुलन के लिए विविध पक्षों के समन्वयात्मक प्रयासों को प्रमुखता देते हैं । मिल्स ने संघर्ष सिद्धान्त में कई योगदान दिये । राजनीतिक अभिजनो की इस व्याख्या के अतिरिक्त अमरीकन मध्यम वर्ग के एक और अध्ययन में उन्होंने उन आंतरिक रूप में काम करने वाली धमनियों की भी चर्चा की जिनका संबंधआंतरिक उपलब्धियों तथा कार्यकलापों से जुड़ा हुआ है । मिल्स का मानना था कि नौकरशाही संघर्ष और उन धमकियों का संचालन करती है - जो द्वंद्वात्मक आधारों का निर्माण करते हैं ।

राल्फ डहरनडार्फ

राल्फ डहरनडार्फ के सिद्धाना का संबंध शक्ति संबंधों से है । सत्ता संरचना, सारे सामाजिक संगठनों का एक हिस्सा है । यही विभिन्न प्रकार के हित समूहों को पैदा करता है और संघर्ष की संभावनाओं को भी । सामाजिक संरचना में सारे परिवर्तन विभिन्न वर्गो के पारस्परिक संघर्षो के कारण आते हैं । ये सारे परिवर्तन वर्ग संघर्षो की प्रकृति तथा उसकी तीव्रता पर केन्द्रित होते हैं । जितना अधिक तीव्र संघर्ष उतना ही अधिक मूल परिवर्तनवादी परिवर्तन होता है । यदि संघर्ष बहुत अधिक हिंसात्मक हुआ तो संघर्ष की शीघ्रता भी बहुत अधिक बढ़ जाती है । डहरनडार्फ के सिद्धान्त को निम्न रूप में संक्षिप्त में वर्णित किया जा सकता है

1. प्रत्येक प्रभावशाली परस्पर संबंधित समूहों में दो परस्पर विरोधी सकारात्मक तथा नकारात्मक भूमिकाएँ, दो अलग -अलग प्रकार के समूहों का निर्माण करती है, जिनके छिपे हुए हित अलग -अलग होते है ।
2. ये ही सकारात्मक तथा नकारात्मक हित समूह अपने आपको प्रत्यक्ष हित समूहों के रूप में संगठित करते हैं, जब तक कोई तात्कालिक परिस्थिति हस्तक्षेप नहीं करती ।
3. ये हित समूह यथास्थिति स्थितियों को बदलने के लिए निरन्तर संघर्ष में रहती हैं ।
4. प्रभुत्व वाली परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही सामाजिक संबंधों की संरचना में परिवर्तन हो जाता है । परिवर्तनों का यह स्वरूप निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है ।

कोजर और संघर्ष प्रकार्यवाद

कोजर का मानना था कि संघर्ष के अपने प्रकार्य हैं । अपने नवाचार तथा रचनात्मक पक्ष के कारण सामाजिक व्यवस्था को वितरित नहीं करता । सामाजिक संघर्ष के सकारात्मक पक्ष की चर्चा कोजर ने विस्तार से की । संघर्ष तनाव वाले रिश्तों तथा असंतोष को अभिव्यक्त करता है । पुरानी व्यवस्था तथा मानकों की समाप्ति के बाद, समाज में संघर्ष लोगों के असंतोष को समाप्त करता है, विभिन्न दलों और समूहों में उन कारणों को समाप्त कर देता है, जिनके कारण संघर्ष उत्पन्न होते हे । बाहर के समूहों के प्रति संघर्ष आंतरिक समूहों को स्थिरता तथा एकता प्रदान करती है । जब बहुत अधिक एकता की आवश्यकता हो तो संघर्ष कर रहे समूहों में इतनी एकता स्थापित हो जाती है कि उल्लंघन करने वाले को दण्ड भी दे दिया जाता हे । सामाजिक संघर्ष न केवल नये मानकों और संस्थाओं की सृष्टि करता है, नये प्रकार के गठजोड़ और समझौते भी उत्पन्न करता है । नई तकनीकों को भी यह विकसित करता है । अर्थव्यवस्था को नई ऊर्जा प्रदान करता है तथा सामाजिक व्यवस्था में नया संचार उत्पन्न करता है । तनावों ओर कुंठाओं से युक्तता के कारण समाज अपने आपको पुनर्व्यवस्थित करता है ।

कोजर यह मानते हैं कि समाज के लिए सामाजिक संघर्षो की अपनी उपादेयता है । हितों के बीच का होने वाला संघर्ष सामाजिक संरचना को अपने ही तरीके से प्रभावित करता है। परिवर्तनवादी प्रक्रियाओं का यह सहायक है और सकारात्मक दृष्टि से सामाजिक संघर्ष सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक ऊर्जा तथा समाज को स्थायित्व की परिस्थितियों को प्रभावित करने में समर्थ है ।

सामाजिक संघर्ष की व्याख्याओं में कई अन्य समाजशास्त्रियों का नाम लिया जा सकता है । इनमें समनर, हर्बर्ट मार्क्यूस, कालिन्स ओपन हेमर आदि प्रमुख हैं । समनर यूरोपीयन संघर्ष सिद्धान्तो तथा अमेरिकन संघर्ष सिद्धान्तों के बीच के वाहक थे । समाजशास्त्री मानते हैं कि समनर पर सामाजिक डार्विनवाद का प्रभाव था । विकास के हर चरण में युद्ध महत्वपूर्ण रहे है । युद्धों ने नई संरचनाएँ तथा अवधारणाएँ दी है । जाने अनजाने समनर ने व्यक्तिवादी संघर्ष की भूमिका को स्वीकारा है । आंतरिक समूह और बाहय समूह स्थायित्व को प्राप्त करना तथा संस्थाओं को बनाये रखने के संघर्षवादी प्रयास समनर के सामाजिक संघर्ष के विचारों का मूल है।

मार्क्सवादी समाजशास्त्र में हर्बर्ट मार्क्यूस का योगदान उनके अनुसार मार्क्स की क्रांति की अवधारणा का अर्थ था कि दलित वर्ग शक्ति पर कब्जा करे और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

स्थापित कर समाजवाद को प्राप्त करे । उनका विचार था कि मार्क्स के इस विचार में कहीं कुछ कमी रह गई । उन्होंने पूंजीवाद के उच्च चरणीय उत्पादन पर विचार नहीं किया । पूंजीवाद का पतन होगा, मार्क्स की यह भविष्यवाणी अभी तक पूरी नहीं हुई है । उन्होंने कहा कि (1) पूंजीवादी देशों में अभी भी गंदी बस्तियों में रहने वाले गरीबों को कोई राहत नहीं हे । मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग उन्हें अपना स्थान नहीं लेने देता और वे संगठित भी नहीं हैं । (2) तीसरी दुनिया के देशों में अधिकाशत: राष्ट्रीय तथा कृषक आन्दोलन है । मार्क्यूस मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त से सहमत होते हुए भी व्यवहार पक्ष के बड़े आलोचक थे ।

रेन्डैल कॉलिन्स ने आधुनिक जटिल समाजों में सामाजिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य को देखा है । कालिन्स का विश्वास है कि संघर्ष सिद्धान्त समाजशास्त्र में एक वैज्ञानिक परंपरा है । कालिन्स के विचार द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से संबंधित नहीं है । विभिन्न पक्षो में निहित संघर्ष की संभावनाओं, विभिन्न परिवेशों का उन्होंने परीक्षण किया है । कॉलिन्स के अनुसार मानव सामाजिक प्राणी है - पर साथ ही संघर्ष प्रिय भी है । संघर्ष का प्रमुख आधार वह हिंसक स्थावनाऐ जो हमेशा संभावित है । गैर बराबरी की व्यावस्था लोगों को बाटंती है और जीवन साधनों को अधिक या कम आधार पर वितरित करती है । हरेक व्यक्ति तथा -समूह को अधिकाधिक प्राप्ति की इच्छा होती है । ये ही विभिन्नताएँ विभिन्न प्रकार के संघर्षो को उत्पन्न करती है । कॉलिन्स का यह विवरण उसके सिद्धान्त का सामान्यीकरण है ।

15.05 क्रिटिकल समाजशास्त्र तथा फ्रेंकफर्ट

इस शाखा का नाम जर्मनी में फ्रेंकफर्ट शोध संस्थान के नाम से पड़ा । इस संस्थान में कुछ युवा नव मार्क्सवादियों ने एकत्र होकर मार्क्सवाद पर गंभीर अध्ययन करने का निर्णय किया था । इनमें थियोडोर अडोरनों मैक्स हारखीमर हर्बार्ट मार्क्यूस, एरिक फ्राम, लियो लावटेन्थल और फ्रेज न्यूमैन प्रमुख थे । इनमें से हर्बर्ट मार्क्यूज की चर्चा पहले की जा चुकी है। इस शाखा का सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य निश्चित ही संघर्ष सिद्धान्तों का था और इसने मार्क्स के विचारों की गहन समीक्षा की थी । उन्होंने मार्क्स की प्रारंभिक रचनाओं पर जोर दिया, साथ ही मैक्स वैबर और कार्ल मैन्हीम के विचारों को उसमें जोड़ा साथ ही उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संरचना तथा सामाजिक सिद्धान्त को मानवीय प्रेरणाओं तथा व्यक्तित्व के साथ जोड़ने का भी प्रयास किया । हीगल तथा मार्क्स द्वारा हीगल पर लिखी गई रचनाओं का भी उन्होंने सहारा लिया ।

इस शाखा के सबसे अधिक प्रमुख समाजशास्त्री हैबरमास ने अपनी रचनाओं में मार्क्स द्वारा कई कथनों का पुनरीक्षण किया । उनका मानना था कि मार्क्स का प्रारंभिक वर्तमान औद्योगिक समाजों के अन्तर्विरोधों को समझाने में असमर्थ है । वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की अवस्थाओं को देखते हुए हैबरमास ने अपने ही सिद्धान्त का निर्माण कर लिया । हैबरमास के अनुसार वर्तमान में तीन प्रकार के पूंजीवादी समाज हैं - (1) उदारवादी पूंजीवाद - जिसको स्वयं मार्क्स ने व्याख्यायित किया था । (2) संगठित पूजीवाद - यह -करीब -करीब पाश्चात्य औद्योगिक समाजों जैसा है । (3) उत्तर पूंजीवादी (Post Capitalistic Society) जो राज्य समाजवादी समाज सरीखा है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप है ।

मार्क्स की तरह हैबरमास ने भी तीनों प्रकार के पूंजीवादी समाजों में अन्तर्विरोध देखे, जिसके संबंध में उसका मत था कि ये विखण्डित होंगे और फिर व्यापक परिवर्तन होगा । विचारों तथा चैतन्यता की भूमिका का हवाला भी हैबरमास ने दिया जिसके कारण परिवर्तन की प्रक्रिया स्थापित होगी । हैबरमास का मानना था कि प्रजातांत्रिक समाजों में अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी के कारण अन्तर्विरोधो की जानकारी और अधिक पहुँचती हे तो पूंजीवाद के लिए संकट उत्पन्न करती है । हैबरमामास यह मानते थे कि आर्थिक और राजनीतिक परिवेश अपनी वैधता के लिए नये प्रतिमान चाहते है । अन्तर्विरोध इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करते है।

संघर्ष के समाजशास्त्र में क्रिटिकल सिद्धान्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया है । इतिहास तथा प्रकृति के विधि प्रकार के परिवेश से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयासों को यह सिद्धान्त पूर्व कल्पित मानकर चलता है । सत्ता के ऐतिहासिक तथा यथार्थ स्वरूपों की चर्चा यह सिद्धान्त करता है । इन सिद्धान्तशास्त्रियों का विश्वास है कि बौद्धिको को समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखनी चाहिए । उनकी यही सक्रियता वस्तुनिष्ठ तथा मूल्यमुक्त समाजशास्त्र का निर्माण करेगी । मनुष्य के विचार उसी समाज में पैदा होते है, जिसमें वे रहते हैं, पर ये विचार कभी भी सम्पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते । कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ तथा पक्ष उसमें सदैव जुड़ा रहता है । क्रिटिकल सिद्धान्त समाज के आर्थिक संगठनों के अध्ययन पर जोर देती है, विशेष रूप से वर्गाँ से संबंधित कार्यो के स्वरूव सम्पत्ति तथा काम के संबंध और इन आर्थिक स्वरूपों का संस्कृति, व्यक्तित्व तथा राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ता है । रूढ़िवादी मार्क्सवादियों की तरह वे आर्थिक निर्धारणवाद में विश्वास नहीं रखते, उनका मानना है कि संस्कृति तथा विचारधारा की इस संबंध में अपनी भूमिका है । जनसस्कृति, व्यक्तित्व तथा समाज के पारस्परिक रिश्तों की चर्चा भी यह क्रिटिकल सिद्धान्त कहता है ।

15.06 सारांश

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में संघर्ष सिद्धान्त सामाजिक संरचना समाज के अन्तर्विरोध तथा सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए महत्वपूर्ण है । संघर्ष के अध्ययन की यह परम्परा पुरानी है और जीवशास्त्र व अर्थशास्त्र के कई विद्वानों ने इन सैद्धान्तिक विचारों का प्रयोग अपने अध्ययनों में किया है । मार्क्स से भी पहले ग्रीक, इटली तथा फ्रांस के विद्वानों ने इस विचार का प्रयोग किया था पर संघर्ष आधारित ऐतिहासिक विकास को समझने में सबसे अधिक योगदान कार्ल मार्क्स का था । कार्ल मार्क्स ने आर्थिक निर्धारणवाद के आधार पर उन अन्तर्विरोधों को समझने का प्रयास किया था जो किसी समाज में पैदा होते हैं और समाज को बदलते है । मार्क्स ने इसीलिए लिखा अब तक के स्थित समाजों का इतिहास वर्ग सघर्ष का इतिहास है ।

संघर्ष सिद्धान्त की परम्परा अभी भी है । मार्क्स के बाद डहरनडार्फ, कोजर और मिल्स ने संघर्ष सिद्धान्त को अपनी ही दृष्टि से देखा । न केवल पूंजीवाद की नई व्याख्याएँ हुई संघर्ष में गैर आर्थिक कारणों की विवेचना भी की गई । फ्रेंकफर्ट शाखा तथा क्रिटिकल सिद्धान्त की व्याख्याओं ने भी संघर्ष के विविध आधारो को समझने का प्रयास किया । हैबरमास का पूंजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण तथा वर्गीकरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

समाजशास्त्र में सामाजिक संरचाओ तथा सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए अन्य सैद्धान्तिक प्रणालियाँ भी विकसित हुई हैं। पर संघर्ष सिद्धान्त एक शक्तिशाली व्याख्या है । आधुनिक तथा उत्तरआधुनिक समाजशास्त्रीय व्याख्याओं में भी संघर्ष सिद्धान्त के प्रयोग तथा अध्ययन अभी छोड़े नहीं गये हैं।

15.07 बोध प्रश्न

1. समाज की किन व्याख्याओं से संघर्ष सिद्धान्त का संबंध है?
2. संघर्ष सिद्धान्त के प्रमुख प्रस्ताव क्या हैं?
3. हीगल के द्वंद्वात्मक प्रयोजन का अर्थ समझाइये ।
4. कार्ल मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त के प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिए ।
5. कार्ल मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त की ऐतिहासिक व्याख्या कीजिए ।
6. मार्क्स द्वारा प्रस्तुत संघर्ष की व्याख्या के प्रमुख सूत्र बताइये ।
7. राल्फ डेहरनडार्फ के संघर्ष सिद्धान्त के प्रमुख दृष्टिकोण प्रस्तुत कीजिए ।
8. कोजर द्वारा बताए गये संघर्ष के प्रमुख प्रकार्यो की चर्चा कीजिए ।
9. फेंकफर्ट शाखा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।
10. हैबरमास ने मार्क्स के सिद्धान्त की किस प्रकार आलोचना की है ।

15.08 शब्दावली

सघर्ष : समाज के बीच के विरोधाभासो के बीच के अर्न्तद्वन्ह ।

आर्थिक निर्धारणवाद : समाज की संरचना मूलत: आर्थिक आधारों जैसे उत्पादन के तरीके, उत्पादन के साधन आदि से निर्मित संरचना जो मार्क्स के अनुसार मूल संरचना है और समाज का निर्धारण करती है ।

वर्ग संघर्ष : दो वर्गो के बीच स्थायित्व होने वाला संघर्ष

हित समूह : ऐसे समूह जो किन्हीं विशिष्ट हितों के आधार पर निर्मित होते हैं ।

15.09 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Don Martindale : The nature and Types ih Sociological Theory,Boston,Houhton Mifflin Company,1960.
2. Zetlin Lrvinh M : Rethinking Sociology,Jaipur,Rawat,1987.
3. Abrahan N.Francus : Modern Sociligical Theory,Oxford,1982.
4. दोषी तथा जैन : प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, जयपुर, रावत, 2001.

इकाई - 16

संघर्षवादी सिद्धान्त : संघर्ष का प्रकार्यवादी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.01 प्रस्तावना

16.02 संघर्ष सिद्धान्त - मूल दृष्टिकोण

16.03 शक्ति, अभिजन और संघर्ष

16.04 संघर्ष के वर्तमान स्वरूप

16.05 फ्रेंकफर्ट विचारधारा तथा आलोचनात्मक सिद्धान्त

16.06 सारांश

16.07 शब्दावली

16.08 बोध प्रश्न

16.09 संदर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस पाठ के उद्देश्य निम्न है

- संघर्ष सिद्धान्त का पुनरावलोकन
- संघर्ष सिद्धान्त के अन्य पक्षों का परिचय
- सत्ता के लिए संघर्ष के प्रमुख नव स्वरूपों की चर्चा
- संघर्ष के प्रति फ्रेंकफर्ट विचारधारा
- नव मार्क्सवाद के विचारों का विश्लेषण
- संघर्ष सिद्धान्त के अन्य पक्षों की विवेचना

16.01 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्याओं में प्राय: यह कहा गया है कि संघर्ष समाज के अस्तित्व का एक बड़ा आधार है । समाज का अस्तित्व, संचालन और संतुलन संघर्ष पर टिके हुए हैं । यह भी कहा गया कि राज्य और समाज के गतिशील सन्दर्भो को यदि समझना है तो संघर्ष के आधारों को भी समझा जाना चाहिए । संघर्ष की प्रक्रियाओं में समाज परिवर्तन के विभिन्न चरणों से गुजरता है और समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं के बीच संतुलन स्थापित करता है । समाजशास्त्र में संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक सिद्धान्त, जो विश्लेषण के लिए प्रभावी भी रहा है, संघर्ष सिद्धान्त बहुत कुछ बिखरा हुआ है इसीलिये यह भी कहा गया है कि संघर्ष का कोई एक सिद्धान्त नहीं है, अपितु अनेकों सिद्धान्त हैं, कभी -कभी यह भी कहा गया है कि संघर्ष सिद्धान्त अपनी शैशवावस्था में है । संघर्ष सिद्धान्तों की ये ही विवेचनाएँ उसे मूल तथा अन्य विश्लेषणो में बाँट देती है । फिर भी कहा जा सकता है कि इस बात के प्रयत्न होते रहे हैं कि संघर्ष सिद्धान्तों की एक ऐसी रचना तैयार की जाए, जिससे ठोस रूप में संघर्ष की

सैद्धान्तिक व्याख्याओं का तैयार किया जा सकता है । यद्यपि संघर्ष संबधी सिद्धान्तों के वर्तमान स्वरूप नये लगते हैं, पर इसकी नीवं बहुत पहले से रख दी गई थी । कई दार्शनिकों तथा राजनेताओं ने इस नींव को बनाने में अपना योगदान दिया था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समय से लगा कर ईसा की मृत्यु से तीन शताब्दी पहले तक इन दार्शनिकों तथा राजनेताओ ने संघर्ष की इन सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर विचार किया था । डीन मार्टिडेल के अनुसार, एक बार जब यह स्वीकार कर लिया गया कि संघर्ष समाज का केन्द्र है, तथ्य के विश्लेषण के लिए अनेक परम्पराएँ स्थापित हो गई । समाज का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी रूप में इसका सामना करता है । कौटिल्य के अतिरिक्त ग्रीस ओर अरब के अनेक विद्वानों ने संघर्ष की विवेचना की। मार्टिडेल ने अपनी पुस्तक 'द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोश्योलॉजिकल थ्योरी' में कई विद्वानों के योगदान की चर्चा की है । आधुनिक संघर्ष सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि हयूम तथा फर्ग्युसन ने तैयार की । प्रारंभिक ये विचार राजनीतिक दलों (हयूम) तथा राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं फर्ग्यूसन) से संबधित है । बाद में कई अन्य व्याख्याएँ इसके साथ जुड़ी ।

16.02 संघर्ष सिद्धान्त : मूल दृष्टिकोण

जैसा कि लिखा जा चुका है संघर्ष सिद्धान्त की आधुनिक व्याख्याओं का प्रारंभ राज्य और राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण के साथ ही प्रारंभ हुआ । इसी प्रकार के कुछ समानान्तर सिद्धान्त क्रास में भी विकसित हुए । ऐसे सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि जीवशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में भी तैयार की गई । सामान्यत: इन संघर्ष सिद्धान्तों का आधार समाज की दो या दो से अधिक इकाइयों के पारस्परिक संबंधो के साथ जुड़ा हुआ था । प्रजातीय तनाव (जैसे काले और गोरों के बीच), वर्ग युद्ध (जैसे अमीर और गरीब की लडाई) धार्मिक संघर्ष (जैसे यहूदी और मुस्लिमों के बीच होने वाले युद्ध), हड़ताल, विरोध ओर युवा शक्ति तथा छात्र शक्ति द्वारा पैदा किये गये संघर्ष, हिंसक आन्दोलन, क्रांतियाँ, कृषक आन्दोलन विश्लेषण के नये विषय थे । ये विषय ऐसे विषय थे, जिसमें संघर्ष निहित था ।

इन सभी व्याख्याओं में मार्क्स की व्याख्या इन विवेचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनी। मार्क्स की विवेचना का मूल समाज के स्थायित्व का मूल भौतिकवाद तथा परिवर्तन का मूल द्वंद्वात्मकता (Dialectic) पर था । इस संबंध में मार्क्स का मानना था कि समाज में प्रत्येक मान्यता (Thesis) का एक प्रतिवाद (Anti - Thesis) होता है । दोनों के परस्पर विरोधी विचारो के समन्वय (Synthesis) से संरचनाएँ बदलती है और नई संरचनाएँ स्थापित होती है। मार्क्स ने माना समाज को दो संरचनाओं, मूल संरचना (Basic structure) और बाहय संरचना (Suprer structure) अंतर्विरोधो तथा परस्पर विरोधी आधारों के वाहक है । इन्हीं अंतर्विरोधों के कारण संघर्ष पैदा होते हैं और समाज बदल कर एक नया रूप धारण कर लेता है । निश्चित ही ये अन्तर्विरोध क्रांति की अवस्थाएँ पैदा करते हैं और क्रांति की ये अवस्थाएँ समाज को तत्काल बदल देती है समाज की सारी संरचना भौतिकवादी हैं अत: अंतर्विरोधी तथा क्रातियाँ भौतिक आधारों मे अन्तर्विरोध (उत्पादन के स्त्रोत, उत्पादन के संबंध तथा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व) के कारण पैदा होती है । मार्क्स का मानना था कि अब तक के स्थिति समाजों

का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है । आदिम साम्यवादी युग से प्रारंभ समाज सामंतवाद, पूँजीवाद से गुजरता हुआ साम्यवाद (वर्गहीन समाज) तक पहुँचेगा, जो अन्तर्विरोधों का अन्त होगा । मार्क्स के ये विचार बाद में व्यावहारिक रूप से कई राजनीतिक दलों की विचारधारा रही। आलोचना तथा समर्थन के बीच मार्क्सवादी सैद्धान्तिक व्याख्या ने कई नई व्याख्याओं को जन्म दिया।

संघर्ष व्याख्याओं का एक बडा विवाद उसके विध्वंसात्मक स्वरूप से रहा है । यदि मार्क्स के विचारों को स्वीकार किया जाय तो द्वंद और क्रांति सामाजिक संरचनाओं का विध्वंस कर नई संरचना को स्थापित करने की प्रक्रिया थी । यह भी कहा गया था कि संघर्ष समाज को तोड़ने वाली प्रक्रिया है और तनावों में वृद्धि करने वाली है । पर बाद में प्रकार्यावादी लेविस कोजर ने व्याख्या की कि संघर्ष के समाज के कुछ प्रकार्य (Function) भी हैं।

कोजर ने सिमेल की परम्परा में संघर्ष को नवाचार तथा रचनात्मकता का उत्पाद माना। यह रचनात्मकता संघर्ष के विभाजक स्वरूप से बिल्कुल अलग है । कोजर ने संघर्षो को समाजिक व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक माना । संघर्ष तनाव भरे संबंधो और झगड़े के संबधों की अभिव्यक्ति है । पुराने सीमाबधनों को पुर्नपरिभाषित करने और नये मानकों की स्थापना संघर्ष से संभव है । संघर्ष का काम नई संस्थाओं का निर्माण तथा नये गठबन्धन तैयार करना भी है । इस सारी प्रक्रिया में पुरानी संरचनाएँ समाप्त हो जाती है ओर नई संरचनाएँ विकसित हो जाती है । सारी प्रक्रिया एक प्रकार से समाज में निरन्तर नई ऊर्जा के प्रवाह से संबंधित है। जब एक समूह दूसरे समूह से संघर्ष करता है तो उन दोनों समूहों मे एकता बढ़ जाती है। एकता के -इन प्रतिमानों का उल्लघंन असभ्य, असहनीय तथा दण्डनीय भी घोषित होता है।

यदि सामाजिक डार्विनवादियो के विचारों को देखा जाय तो यह कहा गया है कि संघर्ष, मानव समूह अपने अस्तित्व के लिए करते हैं । सक्षम का ही अस्तित्व रह सकता है । (Survial of the fittest) विचार भी इसके मूल में है । एक और जहाँ दार्शनिकों ने इसका सम्बध शक्ति ओर सत्ता से जोड़ा, मनोवैज्ञानिकों ने आंतरिक सघषों तथा अन्तर्द्वन्द्वों की भी चर्चा की । यदि समाजशास्त्रियों के इन अभिव्यक्ति विचारों का वर्गीकरण किया जाय तो इस प्रकार है (1) समाज के मूल से उत्पन्न संघर्ष (2) वितरण की असमानता से उत्पन्न संघर्ष (3) मूल्यों के सघर्ष (4) युद्ध (5) सांस्कृतिक हमले (6) विचारधारा के संघर्ष आदि ।

16.03 शक्ति अभिजन : सी.राइट मिल्स

नये संघर्ष सिद्धान्तों में सी.राइट मिल्स के योगदान की चर्चा की जा सकती है । मोटे तौर पर सी.राइट मिल्स का मुख्य तर्क यही है कि अमेरिकन समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक शक्ति का जोड़तोड़ एक -दूसरे से गुथे हुए तीन संस्तरणों सैनिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक द्वारा किये जाते हैं । इन्हीं तीन श्रैणियों के विस्तार तथा केन्द्रीय स्थान के कारण आर्थिक, सैनिक तथा राजनीतिक अभिजन उभरे हैं । इन्हीं तीन प्रभुत्वशाली क्षेत्रों से अमेरिका में शक्ति के तीन केन्द्र उभरे हैं । इन्हीं तीन क्षेत्रों के शक्तिशाली -शीर्षस्थ व्यक्ति ही अमेरिका के शक्ति अभिजन (Power Elities) हैं । शक्ति धारक प्राय: एक से परिवारों के हैं, अच्छे स्कूलों

के प्रतिष्ठात्मक शिक्ष में शिक्षित हुए है उनके सम्पर्क सूत्र हैं और इन शक्ति केन्द्रों में इनकी सीधी पहुँच है । सारी शक्ति संरचना एक प्रकार से एक -स्वरूपी (Monolithic) है ।

मिल्स के अनुसार मार्क्स का यह विचार की आर्थिक प्रभुत्व ही राजनीतिक शक्ति का स्त्रोत हैं और उदारतावादी दृष्टिकोण जो शक्ति के नेता है तथा युद्धों को लोक द्वारा तानाशाह समझा जाना एक अति साधारणीकरण है । सी.राइट मिल्स अपने कथन द्वारा मार्क्स द्वारा रची जाने वाली रचना के संबध में मात्र आर्थिक अभिजनों की भूमिका को नकारना चाहते है । उनका यह भी कथन है कि अभिजन की यह तस्वीर बहुलतावादी नहीं बल्कि एकल रूपी है । सीराइट मिल्स के कथन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्हें इसे अभिजन संरचना में धड़ेबदी, स्थान प्रान्त करने की प्रतियोगिता ये तीनों सस्तरण वस्तुत: निर्णय लेने के केन्द्र है, जो अपने निर्णयों के विनिमय के माध्यम से संतुलन स्थापित करते हैं । संतुलन स्थापित करने की यह प्रक्रिया पारस्परिक तनावों, प्रतियोगिता तथा संघर्षो के प्रतीक भी है । वस्तुत: सहमति प्राप्त करने के लिए ये अलग -अलग मत विभिन्नता के केन्द्र हैं, जिनमें पारस्परिक मतभेद ओर संघर्ष स्वाभाविक है ।

शक्ति संरचना तथा शक्ति अभिजन पर मिल्स के विचार उनके द्वारा प्रतिपादित संघर्ष सिद्धान्त के अनेक योगदानों में से एक है । मार्क्स की तरह मिल्स की सैद्धान्तिक व्याख्याओं में वर्ग संघर्ष प्रमुख तत्व है । मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को सम्पत्ति के वितरण के आधार पर देखा । मिल्स ने वर्ग संघर्ष को नौकरशाही -के श्रेणीबद्ध संस्तरणों में देखा । मिल्स का मानना था कि नौकरशाही न केवल वर्ग आधारित है, पर साथ ही वे इन वर्गो के शक्ति संघर्षो को भी नियोजित करती है । जहाँ मार्क्स पूँजीवादी समाजों में आर्थिक व्यवस्था की उन चुनौतियों का उल्लेख है, जो एक खुली क्राति को जन्म देते हैं । मिल्स के अनुसार आधुनिक समाज में आधुनिक नौकरशाही अपनी सत्ता के माध्यम से चुनौतियाँ देती है और अवैयक्तिक जोड़तोड़ को प्रमुखता देती है । वर्ग संघर्ष के इन प्रतिमानों को मिल्स ने आधुनिक समाजों की व्यवस्था में नौकरशाही के साथ जोड़ कर रखा । मिल्स इस प्रकार आधुनिक समाजों में सत्ता के केन्द्र नौकरशाही के संदर्भ में सघंर्ष की व्याख्याओं के साथ जुड़े रहे ।

राल्फ डहरनडार्फ -शासक एवं शासित

मिल्स की तरह राल्फ डहरनडार्फ का संघर्ष सिद्धान्त न केवल राजनीतिक आधारों पर टिका हुआ है, बल्कि सीधे ही सता के संबंधो से जुड़ा हुआ है । डहरनडार्फ का मानना था कि शक्ति संरचना में आवश्यक रूप से हित समूहों का निर्माण तथा उनका समूहीकरण प्रारंभ होता है । प्रत्येक सामाजिक संगठन में ऐसा होना स्वाभाविक है । इन्हीं हित समूहों के आधारों में संघर्ष की संभावनाएँ भी जुडी हुई है ।

किसी भी सामाजिक संरचना में परिवर्तन वर्ग संघर्ष लाया करते हैं । डहरनडार्फ का विचार था कि इन संरचनाओं मे बदलावों के भिन्न -भिन्न स्वरूप अलग -अलग तरह के वर्ग संघर्षो के कारण है । संघर्ष का स्वरूप जितना गहन होगा, परिवर्तन भी उतना सघन होगा । ऐसे ही संघर्ष अधिक हिंसक संघर्ष भी होते हैं । ऐसे ही हिंसक आन्दोलन आकस्मिक रूप में दुतगामी परिवर्तन के साथ जुड़े हुए हैं ।

सत्ता की संरचनाओं में सदैव दो प्रकार की स्थितियाँ हुआ करती हैं - स्वामित्व तथा पराधीनता की। जो लोग श्रेष्ठता में होते है, वे लोग अधिकारों को परिभाषित करते हैं, उत्तरदायित्वों को तय करते है, प्रतिबन्धों को निर्धारित करते हैं और प्रतिबद्धताओं को स्थापित करते हैं । जहाँ कहीं भी सत्ता संरचना होती हैं, निम्न स्तर पर आधीन लोग सदैव नियंत्रण का सामना करते हैं । आधीन लोगों को उनके कर्तव्य याद दिलाये जाते हैं ।

किसी भी पारस्परिक सहयोगी व्यवस्था मे सैदव सत्ता का वितरण होता है । वैधानिक रूप से कुछ लोगों को मातहतों पर शासन के अधिकार दिये जाते हैं । सत्ता का यही वितरण दो संघर्ष समूहों को निर्माण करता है । इन दो संघर्ष समूहों में एक की स्थिति नियंत्रक की है। इन समूहों को इस तरह भी कहा जा सकता है कि एक समूह आदेश देता है और दूसरा समूह आदेश लेता है। प्रत्येक प्रकार की समिति में, चाहे वह छोटा सा कार्यालय ही क्यों न हो और जिसमें मात्र मालिक, सेक्रेटरी या एक चपरासी ही क्यों न हो - शासक और शासित के संबंध सदैव बरकरार रहते हैं । इस छोटे से व्यवस्था में भी हितों के टकराव हो सकते हैं और संघर्ष पैदा हो सकते हैं । डहरनडार्फ की सैद्धान्तिक व्याख्या को निम्न सूत्रों में समझा जा सकता है ।

1. किसी भी प्रभावशाली पारस्परिक सहयोगी समूह में सकारात्मक तथा नकारात्मक भूमिकाओं के दो समूह बन जाते है जिनमें छिपी हुई परस्पर विरोधी इच्छाएँ होती हैं ।
2. सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभुत्वशाली परस्पर विरोधी समूहों के सदस्य अपने आपको ऐसे अर्द्ध समूहों से संगठित हो जाते है जिनमें हितों की अभिव्यक्ति आवश्यक है । यदि कोई ऐसा बात हो जाय जो असामान्य हो तो ऐसी अभिव्यक्तियाँ होना स्वाभाविक है ।
3. ऐसे समूह जो इन परिस्थितियों से उभरते हैं, वे सदैव या तो स्थायित्व को बनाये रखने या स्थायित्व को परिवरिर्तत करने में सदैव संघर्षरत रहते है ।
4. इस प्रकार के प्रारूप मे हित समूहों की पारस्परिक टकराहट उनके सामाजिक रिश्तों की संरचना को बदलती है और प्रमुखता के प्रतिमानों में व्यापक परिवर्तन आ जाता है ।

डहरनडार्फ की इन सूत्रीय व्याख्याओं के अर्थ बड़े सीधे हैं । वे मानते हैं कि प्रत्येक समूह में सत्ता की स्थितियाँ वर्तमान होती है और इन्हीं आधारो पर परस्पर विरोधी समूह बनते हैं । ये ही परस्पर विरोधी समूह आपस मे संघर्षरत रहते हैं और अपने -अपने हितों के अनुसार सामाजिक संरचना तथा संगठन में सम्बधीय व्यवस्था जो बदलते रहते हैं ।

किसी भी सामाजिक संरचना में संघर्ष और परिवर्तन को आवश्यक तत्व मानने के कारण डहरनडार्फ ने अपनी ही तरह का संघर्ष सिद्धान्त प्रस्तुत किया था । वर्ग संघर्ष को पुनर्परिभाषित कर और उसे पुर्नव्याख्यायित कर डहरनडार्फ ने द्वंद्वात्मक समाजशास्त्र को समझने में अपना योगदान दिया था । वर्ग संघर्ष को समझने के लिए डहरनडार्फ का विश्लेषण विशिष्ट है । फिर भी डहरनडार्फ का विश्लेषण केवल शक्ति या सत्ता संघर्ष तक ही सिमट कर रह गया है । लेकिन सत्ता एक प्रभावशाली तत्व जरूर है, पर आय, वर्ग प्रस्थिति तथा प्रतिष्ठा के सम्पूर्ण आयामों को यह प्रस्तुत नहीं कर पाती ।

डहरनडार्फ की सघर्ष व्याख्या मूलत: शासक तथा शोषितों के बीचे होने वाले संघर्षो की व्याख्या है। लेकिन ऐसे बहुत से संघर्ष हैं, जो सत्ता आधारों से भिन्न होते है । विश्व इतिहास

में संघर्षो और विरोध प्रकट करने में विचारधाराओं, मूल्यों, जीवनचक्र, प्रथाओं और विश्वास ने प्रभावित किया है।

16.04 संघर्ष सिद्धान्त के वर्तमान स्वरूप

मूल रूप से संघर्ष सिद्धान्त की पहचना मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के साथ जोड़ दी गई है । ऐसा भी हुआ है कि संघर्ष को समाज के विध्यसांत्मक रूप के साथ जोड़ दिया गया और कहा गया कि संघर्ष सामाजिक व्यवस्था को तोड़ सकता है । मार्क्सवादी समाजशास्त्र के विकसित होने से पहले कई समाज वैज्ञानिकों ने संघर्ष के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को समझने का प्रयास किया था । मार्क्सवादी व्याख्या के बाद आज भी सघर्षवादी व्याख्याएँ की गई है । सघर्ष सिद्धान्तों के इन स्वरूपों के कई प्रकार हैं । मोटे तौर पर ये प्रकार निम्न कहे जा सकते हैं -

1. फ्रेंकफर्ट विचारधारा तथा आलोचनात्मक सिद्धान्त
2. आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र
3. द्वंद्वात्मकता का समाजशास्त्र
4. संघर्ष प्रकार्यावाद
5. विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धान्त
6. औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त

ये प्रकार संघर्ष सिद्धान्त में नये योगदान तो है ही, साथ ही संघर्ष सिद्धान्त को नये आयामों, नयें पक्षो तथा नये कारकों से समझने का प्रयास है । इनमें से कुछ की संक्षिप्त चर्चा हम यहाँ करने का प्रयास करेंगे ।

16.05 फ्रेंकफर्ट विचारधारा तथा आलोचनात्मक

फ्रेंकफर्ट विचारधारा का नाम जर्मनी में फ्रेंकफर्ट स्थान पर कुछ शोधकर्मियो द्वारा एक साथ शोध कार्य करने की इच्छा और उसे सामूहिक रूप प्रदान करने के कारण पड़ा । यह समझौता नव मार्क्सवाद अथवा मार्क्सवादी आधारों के पुनर्परीक्षण के लिए था । इस विचारधारा के सदस्य थियोडोर अडोनों, मैकस हौखौंमर, हबर्ट मार्क्यूज एरिक फ्रॉम, लियो लोवेनथाल और फ्रेज न्यूनमैने थे । 1930 में जर्मनी में जब हिटलर का शासन आया तो ये विद्वान अमेरिका चले गये और वहाँ शोध करते रहे । 1950 में उनका यह संस्थान फ्रेंकफर्ट विश्वविद्यालय का हिस्सा हो गया और कई लोग इस संस्थान को चलाने के लिए फ्रेंकफर्ट वापस आ गये । सारी विचारधारा मार्क्स से अधिक प्रभावित है, पर मूलत: मार्क्सवादी नहीं है । उसके स्थान पर इस विचारधारा में हीगलवादी दृष्टिकोण तथा मार्क्स द्वारा रचित हीगलवादी विश्लेषण को अधिक सम्मिलित किया गया है । मैक्स वैबर और कार्लमैनहीन के पारपरिक विचारों का भी इन्होंने समावेश किया तथा मार्क्स की सामाजिक संरचना तथा सामजिक परिवर्तन फ्रायड की व्यक्तिगत प्रेरणाओं तथा व्यक्तिमत के आधारों को भी उन्होंने अपने विश्लेषण में सम्मिलित किया ।

इस विचारधारा के एक प्रतिष्ठित विद्वान हैबरमास ने अधिक कुशलता से एक मानववादी दृष्टिकोण तथा हीगल ओर युवा मार्क्स के विचारों का मंथन किया । उनका विचार था कि आज की आधुनिक पूँजीवादी संरचना की तुलना पूर्व की पूँजीवादी संरचना के अन्तर्विरोधों से नहीं की जा सकती । हैबरमास ने आज के विकसित पूँजीवादी समाज का अपना एक प्रारूप

तैयार किया । मार्क्स के विपरीत जो एक ही प्रकार के पूँजीवाद समाज की चर्चा करते थे, हैबरमास ने तीन प्रकार के पूँजीवादी समाजों की चर्चा की । (1) उदारवादी पूँजीवाद - जिसकी रचना स्वयं मार्क्स ने की थी, (2) संगठित पूँजीवाद, जिसको पश्चिम के औद्योगिक समाजों में देखा जा सकता है । समाजवादी समाजों को उत्तर पूँजीवाद (Post Capitalism) जिसका एक स्वरूप राजनीतिक अभिजनों द्वारा उत्पादन पर अपने अधिकार से भी था । हैबरमास की मान्यता थी कि इन तीनों ही प्रकार के पूँजीवाद समाजों में अन्तर्विरोध मौजूद है, जो इन्हें विखण्डित करेंगे और अन्ततः परिवर्तन लाएगें । उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि विचार और विचारधाराएँ सामाजिक संरचना के परिवर्तन में महत्वपूर्ण साधन है । हैबरमास ने मार्क्स द्वारा दिये गये नामों के नये परिबद्धित नामों की भी चर्चा की जैसे बाहय संरचना (Super Structure) के स्थान पर प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियाओं की प्रणाली और चैतन्यता के स्थान पर सत्ता के प्रतिबिंबित दृष्टिकोण आदि । उन्होने यह भी माना कि धीरे -धीरे पूँजीवाद उदारवाद से संगठित पूँजीवाद की ओर बढ़ गया है । औपचारिक प्रजातांत्रिक व्यावस्था ने इस प्रकार के पूँजीवाद को विकसित करने में मदद की ।

आलोच्य सिद्धान्त (Critical Theory) काफी प्रभावशाली सिद्धान्त सिद्ध हुआ । सत्ता एवं ऐतिहासिक आधारों की विवेचना, इस आलोचनात्मक सिद्धान्त के साथ संबद्ध थी । आलोच्य सिद्धान्त का एक पक्ष वर्तमान में जों है तथा भविष्य में जो होने वाला है, उसके बीच तनावों के दृष्टिकोणों को भी देखना है । किसी भी आलोचनात्मक सिद्धान्त की रचना इस - आधार पर देखना चाहती है कि वर्तमान में जो भी संरचना है, वह किस प्रकार स्थित है और उसका मुकाबला किन परिस्थितियाँ से है ।

आलोचनात्मक सिद्धान्त के कुछ अन्य तत्वों को भी विवेचित किया जा सकता है । सिद्धान्त का विश्वास है कि बौद्धिक लोगों को समाज की आलोचना एवं उसका आलोच्य प्रस्तुत करने में अपना योगदान देना चाहिए । इन विद्वानों को मूल्यात्मक निर्णय (Value Judgements) देने चाहिए । आर्थिक संगठनो पर इन्हें विचार करना चाहिए ओर वर्ग सरीखी रचनाओं पर विचार करना चाहिए, पर आर्थिक निर्धारणवाद को स्वीकार नही करना चाहिए । तनावों और उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियो तथा उससे उत्पन्न होने विवादों को समझने का प्रयास आलोचनात्मक सिद्धान्त ने किया है ।

2. नवीन तथा आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र

यद्यपि सी.राइट मिल्स को आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र का जनक माना जाता है, पर हारोविटज को नवीन समाजशास्त्र का प्रणेता माना जाता है । हारोविटज यह मानते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में मौजूद उदारवादी पूँजीवाद अब समाप्त हो गया है ओर उसका स्थान नव आमूल -परिवर्तनवादी व्यवस्था ने लिया है - जिसकी महत्ता सम्पूर्ण विश्व के लिए है आमूल परिवर्तनवाद शक्तिशाली के विरूद्ध कमजोरों को, शोषकों के विरूद्ध शोषितों का और अभिजनों के विरूद्ध जन अधिकारों का समर्थन करता है । हारोविटज का मानना है कि आमूल परिवर्तनवाद का संबंध व्यक्तियों से है और व्यक्ति ही परिवर्तन के कार्य में संलग्न हो सकता है।

सैद्धान्तिक विचारधारा समाज में व्याप्त नकारात्मक आधारों की चर्चा करती है । क्या ये अन्तर्विरोध सामाजिक संरचना की उपज है अथवा ये सब नकारात्मक पक्ष संरचना में निहित है? समस्त सामाजिक समस्याओं को मूल शासन में ढूंढा जा सकता है और मूल परिवर्तनवाद संरचना में परिवर्तन के लिए संघर्ष का आवहान करते है । इन संघर्षो के माध्यम से अच्छे समाज का निर्माण उनकी प्राथमिकता है । जन अधिकारों के आन्दोलन, स्वतंत्र अभिव्यक्ति के संघर्ष सिद्धान्त ने यह माना है कि संघर्ष सामाजिक परिर्वतन का एक साधन है । मूल परिवर्तनवादी यह मानते हैं कि मूलय परिवर्तनवाद यथार्थवादी आधार है तथा तार्किक है ।

3. द्वन्द्वात्मक समाजशास्त्र

द्वन्द्वात्मक समाजशास्त्र के संबंध में दो विद्वानों की चर्चा की जा चुकी है । हीगल, मार्क्स और उसके बाद डहरनडार्फ ने इस संदर्भ की चर्चा की है । डहरनडार्फ के अनुसार द्वन्हात्मक समाजशास्त्र वह क्रमबद्ध अध्ययन है जो समाज में परस्पर संघर्षशील हितों का अध्ययन करता है। सामाजिक संरचना में कई प्रकार के विरोधाभास है । व्यक्ति बनाम समाज, मालिक और गुलाम, अमीर और गरीब, अभिजन और जन, बहुमत और अल्पमत, रूढिवादी और परिवर्तनवादी जैसा कि कहा जा चुका है डहरनडार्फ ने यह भी विश्वास व्यक्त किया सामाजिक संरचनाओं में विरोधाभास तथा संघर्ष सदैव निहित हैं तथा क्रांतियाँ संघर्षो को समाप्त नहीं कर पाती । क्योंकि संघर्ष सामाजिक संरचनाओं में निहित है, अत: संघर्ष बने हुए रहते हैं । मूल परिवर्तनवादियों की तरह किसी समस्या से अपना विश्लेषण प्रारंभ नहीं करते । वे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना तथा उसमें व्याप्त अन्तर्विरोधों की चर्चा करते हैं । विचारों के अनुसार संघर्ष संरचना की स्थित अपर्याप्ततओं तथा अन्तर्विरोधों के कारण पैदा होते है ।

कार्ल मार्क्स और डहरनडार्फ दोनों ने ही उस वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हे जो सामाजिक संरचना में उपलब्ध उन संभावनाओं की ओर संकेत करते है, जिनसे संघर्ष उत्पन्न होने की संभावना रहती है । परिवर्तन की इन संभावनाओं के स्वरूप अनेकों हैं तथा उन संरचनात्मक तथ्यों के साथ जुड़े हुए है, जो इन सभावनाओं को उत्पन्न करते हैं । इस सामाजिक संरचना में सामजस्य भी है और जोड़ - तौड़ भी । भय के दबाव भी इन संघर्षो का निर्गण करता है ।

4. औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त

कुछ समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि संघर्ष के परिप्रेक्ष्य गठबन्धनों तथा खेल के आधारो पर भी होते हैं । थ्योडोर कापलो ने सिमल द्वारा प्रस्तुत विचारों का थोड़ा विस्तार किया था । उसने उस प्रवृत्ति का उल्लेख किया जिसमें त्रयी - दो के विरूद्ध दो - एक के विरूद्ध - गठबन्धन करते है । इस प्रकार के आठ स्वरूपों की चर्चा की है जिसमें एक दूसरे के विरूद्ध गठबन्धन निर्मित किये जा सकते हैं । कापलो ने क्राति तथा रूढ़िवादी गठबन्धनों में अन्तर किया है । क्रांति हमेशा कमजोरों द्वारा शक्तिशाली लोगों के शोषण के विरूद्ध होती है गठबन्धन हमेशा शक्तिशाली लोगों द्वारा यथास्थिति को बनाये रखने के लिए किया जाता है । विकसित देशों मे किसानों तथा कमजोर लोगों के आन्दोलन इस तथ्य के प्रतीक हैं, जहाँ शक्तिशाली लोगों के विरूद्ध संगठन बनाए गये है और संघर्ष किया गया है ।

खेल सिद्धान्त संघर्ष का विज्ञान कहा गया है । यह प्रतियोगतात्मक संघर्ष को समझने का विज्ञान है । इस प्रकार के संघर्षो का उद्देश्य अपने मूल्यों को विकसित करना है । खेल का सिद्धान्त एक साधारण सी कल्पना के साथ जुड़ा हुआ है कि लोग अपनी उपलब्धियाँ तथा प्राप्तियाँ दूसरों की कीमत पर किया करते हैं जो लोग कुछ उपलब्धि करना चाहते हैं, उनसे दूसरों के हितों को नुकसान पहुँचाना स्वभाविक है । खेल में एक दल यदि जीतता है तो दूसरा हारता हे । पर सभी दल इच्छापूर्वक जीत के लिए ही प्रतिबद्ध होते हैं और उनका प्रशिक्षण भी उसी अनुसार किया जाता है । इस प्रकार दोनों दल एक दूसरे के विरूद्ध प्रतियोगितात्मक संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध रहते है । लाभ और पुरस्कार इस प्रकार असमान वितरण के साथ जुड़े हुए होते है ओर विजेता टीम इन लाभों और पुरस्कारों को प्राप्त कर लेती है । खेल से संबंधित यह व्याख्या समाज में उन प्रतियोगितात्मक संघर्षो की ओर इशारा करती हे जो समाज में निहित है।

5. संघर्ष का प्रकार्यवाद

पहले भी इस सिद्धान्त के विचारों का उल्लेख किया जा चुका है । कोजर का योगदान संघर्ष सिद्धान्त के इस पक्ष के लिए महत्वपूर्ण है । सिमेल की पंरपरा में कोजर का विचार था कि संघर्ष समाज के लिए प्रकार्यात्मक तथा रचनात्मक है । कोजर के संघर्ष प्रकार्यवाद के कुछ बिन्दु निम्न है ।

1. ऐसे संघर्ष जिनका संबंध लक्ष्यों मूल्यों तथा समान हितों से होता हे, वे सामाजिक सरचना के लिए घातक नहीं होते । ऐसे संघर्ष मान्य आधारों को भी अन्तर्विरोध में नही लाते ।
2. ऐसे संघर्ष जो मूल आधारो पर विश्वास नहीं करते, आंतरिक रूप में सामाजिक संरचना को विघटित कर देते हैं ।
3. संघर्ष में समूह जितने सुगठित होते हे, संघर्ष उतने ही अधिक तीव्र होते है, किसी भी संरचना में यदि संघर्षो के स्वरूपों की संख्या अधिक होती है तो सामाजिक संरचना का संतुलन तंत्र अधिक विकसित होता है ।
4. खुले तथा ढीले समाजों मे जहाँ संघर्ष अन्तर्विरोधों को समाप्त करने के लिए होते हैं - संघर्ष रचनात्मक तथा समन्वयकारी होते है । ऐसे संघर्ष अन्तर्विरोधों को समाप्त करते हैं ।
5. लचीले समाजों में यदि संघर्ष बहुलता में है तो वे एक दूसरे से टकराते हैं और संरचना को व्यवस्थित करने का कार्य करते हे ।
6. लचीले संरचनात्मक समूहों और खुले समाजों में यदि तनावों को समाप्त करने के लिए संघर्ष होते है संबंधी के स्थायित्व तथा समन्वयात्मकता का कार्य सम्पन्न होता है ।
7. सारी सामाजिक संरचनाएँ प्रभाव आशिक रूप मे होते है ।
8. संघर्षो के लिए एक सुरक्षा कवच की आवश्यकता होती है । रूढ़िगत समाजों में बहुत से प्रतिबन्ध ऐसे होते हैं जो संघर्षो के स्वरूपों को सुरक्षात्मक आधार प्रदान करते हैं ।

संघर्ष का यह प्रकार्यवाद संघर्ष के सकारात्मक पक्षों का प्रस्तुतीकरण है ओर संघर्षो में नकारात्मक पक्ष के प्रस्तुतीकरण से भिन्न है ।

6. **विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धान्त**

संघर्ष के विश्लेषणातमक सिद्धान्त का संबध कॉलिन्स से है । कॉलिन्स ने आधुनिक जटिल समाजों तथा आधुनिक सस्तरीकरण के परिप्रेक्ष्यों को संघर्ष सिद्धान्त के संदर्भो में देखने के प्रयास किया था । कॉलिन्स का विश्वास था कि समाजशास्त्र के पास विश्लेषण के लिए ठोस आधार है, पर ये आधार संघर्ष की व्याख्याओं में निहित है । उनका कहता है कि संघर्ष सिद्धान्त एक स्वस्थ वैज्ञानिक परम्परा है । कॉलिन्स का संघर्ष सिद्धान्त द्वंद्वात्मकता पर आधारित नहीं है बल्कि समाज में हितों तथा हितो के पारस्परिक टकराव तथा उससे संबद्ध विभिन्न समूहों के बीच के हितों के संघर्षो से सबंधित है । अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए कॉलिन्स ने मार्क्स, वैबर, दुर्खीम, मीड तथा गॉफमैन के तर्को का सहारा भी लिया है ।

कॉलिन्स मानते है कि संघर्ष का मूल स्त्रोत हिसक तनाव तथा उसे उत्पन्न धमकियाँ है। प्रत्येक समाज में वांछित वस्तुओं तथा सामग्रियों का असमान वितरण है । समाज में व्याप्त गैर -बराबरी लोगों को उनकी स्थिति के अनुसार संस्तरणों में बाँटती है । समाज की सम्पत्ति में अधिक भागीदारी के लिए विभिन्न स्तुती में निरन्तर प्रतियोगिता रहती है । प्रत्येक व्यक्ति उपलब्ध स्त्रोतों में से अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करना चाहता है।

संक्षिप्त में कॉलिन्स का विचार है सघंर्ष समाज में स्त्रोतों के असमान वितरण के कारण उत्पन्न होते हैं । जिनके पास स्त्रोतों का स्वामित्व है, वे लोग अपने स्त्रोतों को बनाए रखने का प्रयत्न करते है । अधिकाधिक प्राप्ति तथा संरक्षण करने वाले अपने हितों की सुरक्षा के लिए अधिकाधिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, यहाँ तक कि हिंसक धमकियों को भी सहारा लेते हैं । कॉलिन्स ने इस परिप्रेक्ष्य में कई और आधारों का भी उल्लेख किया, जैसे सामाजिक प्रस्थिति के लिए संघर्ष, अपनी संख्यात्मक ताकत को बढ़ाने के प्रयास, इस सारे प्रारूप को फिर कॉलिन्स आधुनिक संगठनों पर प्रयोग कर देखते हैं और विश्लेषण करने का प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार ये विभिनन परिस्थितियाँ सघर्ष को जन्म देती है । कॉलिन्स वस्तुत: औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रयत्नों को समन्वयित कर विश्लेषित करना चाहते थे ।

10.06 सारांश

इस पाठ मे संघर्ष सिद्धान्त के कई ऐसे परिप्रेक्ष्यों की चर्चा की गई है, जिसको विभिन्न विचारधाराओं के प्रवर्तको ने प्रस्तुत किया है । विभिन्न समाजशास्त्रियों ने संघर्ष के मूल और संघर्ष की प्रक्रियाओं पर विचार अपने -अपने दृष्टिकोणों से की है । इनमें से कुछ का संबध नई विचारधाराओं से है ओर कुछ का संबंध पुराने दृष्टिकोणों के नये विश्लेषण से है इनमें से भी कुछ विश्लेषण मार्क्स से स्वतंत्र' है ओर कुछ का सम्बंध मार्क्स की धारणाओं से पुर्नसंबध से है। इस दृष्टि से नये विश्लेषण मार्क्स के आलोच्य और उसके दृष्टिकोण के पूरक भी है इन सभी दृष्टिकोणों से संघर्ष सिद्धान्त कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है । समाज की सतुलन प्रक्रिया को समझाने में तो यह समर्थ है ही, साथ इन प्रक्रियाओं द्वारा समाज के कई आधारों को समझाने में यह समर्थ है ।

16.07 शब्दावली

संघर्ष : व्यक्ति या समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रह कर उसे प्राप्त करने का प्रयास करता सामाजिक संरचना: विभिन्न समूहों संगठनों तथा संस्थाओं से निर्मित इकाई ।

द्वंद्वात्मकता : वाद, प्रतिवाद के बीच पारस्परिक अन्तर्विरोध तथा उससे किसी समन्वयता की प्राप्ति ।

सामाजिक संतुलन : समाज के विभिन्न भागों के बीच समन्वयता ।

16.08 बोध प्रश्न

1. समाजशास्त्र में सघर्ष सिद्धान्त का एक परिचयात्मक विवेचन कीजिये ।
2. मार्क्स द्वारा प्रस्तुत संघर्ष सिद्धान्त की विशेषताएँ बताइये ।
3. संघर्ष सिद्धान्त के संदर्भ में सी.राइट.मिल्स के योगदान की व्याख्या कीजिये ।
4. राल्फ डहरनडार्फ के शासक एवं शोषित आधार पर विकसित संघर्ष की व्याख्या कीजिए ।
5. फ्रेंकफर्ट तथा आलोच्य सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ बताइये ।
6. संघर्ष के प्रकार्यवाद पर एक संक्षिप्त टिपणी लिखिये ।
7. संघर्ष के मूल पर कॉलिन्स और डहरनडार्फ के विचारों को लिखिये ।
8. संघर्ष के नवीन या आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोण को समझाइये ।

16.09 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Francis Abraham: Modern Sociological Theory, Oxford
2. Don Martindal: The Nature and Types of Sociological Theory Bostan.
3. Coser: The Functions of Social Conflict.
4. S.L. Dashi: Modernity, Post -Modernity and Neo Sociological Theories.

इकाई-17

प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद

इकाई की रूपरेखा

17.0 उदेश्य

17.01 प्रस्तावना

17.02 प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद: परिभाषा

17.03 प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद: ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

17.04 प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद: प्रमुख सम्प्रदाय

17.05 प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद: प्रमुख विचारक

17.06 प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद: आलोचना के बिन्दु

17.07 बोध प्रश्न

17.06 संदर्भ ग्रन्थ

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप मे प्रतीकात्मक अंतक्रियावाद को समझ सकेंगे ।
- प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद की ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि तथा इसके सैद्धान्तिक विकासक्रम की जानकारी ले सकेंगे ।
- प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद के प्रमुख सम्प्रदायों एवं विचारकों की प्रस्थापनाओ को समझ सकेंगे ।
- एक सिद्धान्त के रूप में प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद: की आलोचना के बिन्दुओं को समझ सकेगे।

17.01 प्रस्तावना

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद (Symbolic Interctionism)

समाज, सामाजिक संरचना (Social Structure) एवं सामाजिक प्रक्रियाओं (Social Process) आदि को विश्लेषित एवं व्याख्यायित करने के क्रम में अब तक तीन प्रकार के सिद्धान्त एवं उनसे संबन्धित अवधारणाओं का विकास समाज शास्त्र में दिखता है । अनुसंधान विधि उपागम तथा परिप्रेक्ष्य की भिन्नताओं के बावजूद इनका केन्द्रिय संदर्भ समाज एवं सामाजिक द्वयक्ति ही रहा है। इस कम में वृहद सिद्धान्त (Mega Theories) सूक्ष्म सिद्धान्त (Micro Theories) तथा मध्य -अभिसीमा के सिद्धान्त (Middle Range Theories) के नाम से आते हैं ।

प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद अपनी प्रकृति एवं परिप्रेक्ष्य के आधार पर सूक्ष्म सिद्धान्तों की श्रेणी में आता है जिसका केन्द्रीय संदर्भ और अध्ययन की विषय वस्तु 'सामाजिक व्यक्ति' है जो

हालाँकि एक इकाई के रूप में दिखता है परन्तु अपनी भाँति की अन्य वैयक्तिक इकाईयों के साथ मिलकर क्रमश: समूह, समुदाय, एवं समाज का निर्माण करता है ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमेरिका में, विशेषकर जार्ज हर्बर्ट मीड के वैचारिक नेतत्व में उभरे यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रभाव में प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद का जन्म एक सैद्धान्तिक आधार के रूप में हुआ । कालान्तर में प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद एक प्रमुख समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के रूप में स्थापित हुआ जिसनें न सिर्फ सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों (Social behavior patterns) अपितु सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन, अनुसन्धान एवं सैद्धान्तिक उपागमों को भी प्रभावित किया । इसकी वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने वाले जार्ज हर्बर्ट मीड का मानना था कि मनुष्य का 'स्वएमसद्धि' समाज द्वारा समाज के संदर्भ में निर्मित होता है तथा यह उद्देश्यपरक होने के साथ -साथ रचनात्मक भी होता है ।

सर्वप्रथम हर्बर्ट ब्लूमर ने 'प्रतीकात्मक अत:क्रियावाद पद को 1973 में एक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया तथा इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि "व्यक्ति एक दूसरे की क्रियाओं का सामान्य अनुकरण करने या उनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने के स्थान पर उनकी क्रियाओं में निहित संकेतों तथा उनकी उपयोगिताओं का परिस्थिति -विशेष के संदर्भ में अपने विश्लेषण के आधार पर उनको देखते -समझते तथा तदनुरुप उनके प्रति अपने व्यवहारों का स्वरूप निर्धारित तथा मानदण्ड निर्मित करते हैं ।

17.02 प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद : परिभाषा

प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद घटना विज्ञान (Phenomenology) का एक भाग या शाखा है जो सिद्धान्तत: यह मानकर चलता है कि " ज्ञान का आधार दैनिक जीवन तथा दिनचर्या के मूल्य, मानदण्ड, भाषा, उपयोग में लिये जाने वाले चिन्ह, संकेत इत्यादि, जिनकी सहायता से व्यक्ति क्रियाओं तथा अंतःक्रियाओं के माध्यम से अपने जीवन का संचालन -निर्वहन करता है, से बनता है। इसकी मान्यता है कि जीवन के व्यावहारिक पक्ष अथवा व्यावहारिक विश्व का संकेतों, चिन्हों, भंगिमाओं एवं व्यवहारों द्वारा सृजन एवं पुनर्सृजन संभव है क्योंकि कुछ भी अन्तिम नहीं है । इसमें व्यावहारिक जीवन के मानदण्डों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

समाजशास्त्रीय शब्दकोष के अनुसार 'प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद एक ऐसा समाज -मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो उन तरीकों की जानकारी और व्याख्या करने के प्रयास करता है जिनके आधार पर व्यक्तियों की पारस्परिक अंतःक्रियाओं के दौरान 'कतिपय अर्थ' निर्मित होते हैं। इसकी मौलिक प्रस्तावना समाज में व्यक्तियो के दिनचर्या के जीवन में की जाने वाली अन्तःक्रियाओं के सन्दर्भ में संकेतों, क्रियाओं एवं उनके अर्थो के विकास की प्रक्रिया तथा उनके विश्लेषण के तरीकों के अध्ययन से सम्बन्धित है । तदनुसार इसका मौलिक उद्देश्य मानवीय अन्तःक्रियाओ के विभिन्न एवं अन्तर्निहित स्वरूपों के सन्दर्भ में एक यथार्थपरक एवं व्यवस्थित समझ विकसित करना रहा है ।

यह सिद्धान्त चार प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर आगे बढता है -

1. मनुष्य अन्य जीवों की ही भाँति, हालांकि विशिष्ट रूप में, अपने दैनिक जीवन की विभिन्न अन्तक्रियाओं में पूर्व -निर्मित एवं मान्यता प्राप्त संकेतों सांकेतिक व्यवहारों तथा गतिविधियों का उपयोग करता है । इन्हीं के द्वारा मनुष्य संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों के निर्माण तथा समय के साथ इसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने में सक्षम हो सका है ।
2. समाज एक गतिशील एवं द्वन्दपरक संजाल की भाँति है जिसमें परिस्थितियॉ और मनुष्य का परिस्थितिजन्य व्यवहार एकदम से पूर्वनिर्धारित, सुस्थापित तथा निश्चित स्वरूप का न होकर उन परिस्थितियो एवं व्यक्तियों की क्रियाओं से संदर्भित होता है एव उनके अनुसार निर्धारित तथा परिवर्तित होता रहता है जिनके परिप्रेक्ष्य में वो कोई व्यवहार, क्रिया या अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं ।
3. समाज यथार्थवादी ढंग से अन्तर क्रियात्मक है । इनमें नितान्त एकाकी या सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्ति का कोई अस्तित्व (समाजोपयोगी) नहीं है बल्कि व्यक्ति सदैव एक दूसरे से पारस्परिकता के आधार पर सम्बद्ध होते हैं ।
4. व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा दैनिक जीवन में जिन संकेतों, प्रक्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं द्वारा व्यावहारिक सम्बद्धता प्रदर्शित की जाती है उनके क्रमबद्ध अध्ययन के द्वारा सामाजिक जीवन के प्रतिमानो एवं स्वरूपों को भलीभाँति जाना -समझा जा सकता है ।

प्रतीकात्मक अतक्रियावाद के मौलिक आधार:

यह सिद्धान्त अपनी प्रस्थापनाओं के संदर्भ में चार मौलिक मान्यताओं (Foci) का सहारा लेता है:

1 संकेतों के निर्माण, उनके संदर्भ में अर्थ -बोध के विकास एवं इसके सहारे संकेतों के स्थिति -विशेष के अनुसार विश्लेषण के द्वारा मात्र मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो संचनशील, हस्तांतरिय एवं परिष्कृत की जा सकने वाली संस्कृति का निर्माण कर पाता है ।

2 सहभागी अवलोकन (Participantory Objervation) के द्वारा संकेतों (Symbols) तथा अर्थ -बोधों (Meaning) के प्रति यथार्थपरक समझ विकसित की जा सकती है । पुनः, इसकी सहायता से व्यक्तियों के उन व्यवहारों एवं तौर -तरीकों का अध्ययन किया जा सकता है जिनके सहारे वो शारीरिक अर्थवत्ता, अनुभूति, 'स्व', जीवन -चरित, स्थितियों -परिस्थितियों तथा सामाजिक परिवेश, जिसमें वो रहते हैं, का अन्तःक्रियाओ के संदर्भ में उपयोग करते हैं ।

3 भाषाई संरचना Semology की समझ के आधार पर अंतःक्रियाओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है । इस संदर्भ में यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है कि सामाजिक परिवेश एक गतिमान एवं द्वन्द्वात्मक परिवेश है जिसमें परिस्थितियाँ अनिश्चित परिणामों के साथ उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती हैं और लोगों का जीवन सदैव ही एक से दूसरा स्वरूप ग्रहण करता रहता है । भाषाई संरचनाओं का अध्ययन वस्तुतः अर्थ -बोध की समझ विकसित करने की प्रक्रिया पर आधारित होता है । इसके अनुसार अर्थबोध निरन्तर विकासमान, प्रवाहमान, अनेकार्थी तथा संदर्भबद्ध होता है ।

4 सामाजिक परिवेश वस्तुत: अंत:क्रियात्मक है । इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समाज में 'एकाकी व्यक्ति' के लिये कोई स्थान नहीं है क्योंकि सदैव व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से संबद्ध एवं संदर्भित होता है ।

17.03 ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

'अंतःक्रिया (Interctions) जॉर्ज सम्मेलन के समाजशात्रीय अध्ययनों का एक महत्वपूर्ण तत्व रही है। समाजशास्त्रीय जगत में एक बार अन्तःक्रियाओ के महत्व की स्थापना हो जाने के बाद बाद में अन्य समाजशात्रियो नें अपने -अपने अध्ययनों एवं दृष्टिकोंणों के आधार पर अन्तःक्रिया से संबन्धित विभिन्न अवधारनाओ एवं सिंद्धातों का विकास प्रारम्भ किया इनमें जॉर्ज सिम्मेल, चार्ल्स कूले, जार्ज हर्बट मीड, हर्बट ब्लूमर, कूहन, मैक्स बेवर से लेकर इरविंग गौफमैन आदि के नाम प्रथम श्रेणी के अध्येताओं में सम्मिलित है । हालाँकि इन सभी के अन्तःकिया से सम्बधित अध्ययन कई अर्थो में परस्पर अन्तर्सम्बिधित तो कई अर्थो में भिन्न दृष्टिकोणों, उपागमों एवं विषय वस्तुओं पर आधारित दिखते है । समाजशास्त्रीय जगत में मूलत: अन्तःक्रिया को अपने अध्ययन का केन्द्रीय सन्दर्भ बनाने वाले समाजशास्त्रियों में जार्ज हरर्बट मीड, हर्बट ब्लूमर, तथा सी कूहन के नाम प्रमूख है । आगे के अनुच्छेदों में प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद के बारे में इनके विचारों एवं प्रस्थापनाओं की विवेचना की गई है।

एक सैद्धान्तिक उपागम के रूप में प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद का जन्म एवं तदुपरान्त प्राथमिक विकास बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में हुआ था । उत्पत्ति के शीघ्र पश्चात जब अमेरिकी समाजशास्त्र में शिकागो सम्प्रदाय का वर्चस्व स्थापित हो गया तब तक यह भी एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था । तत्पश्चात कुछ वर्षो के लिए आलोचना की विषयवस्तु बनने एवं नवीन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं उपागमों के विकास के आलोक में हालाँकि इसका प्रभाव कम हो गया था तथापि साठ के दशक में यह एक बार पुन: एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जब इसे टॉलकाट पार्सन्स के प्रकार्यवाद के महा -सिद्धान्त के सन्दर्भ में एक चुनौती के रूप में देखा -समझा गया।

यह वो समय था जब यूरोप में पनपे समाजशास्त्र के महा -सिद्धान्तों (Great Theories) की सैद्धान्तिकता एवं व्यवहारिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाये जाने लगे थे तथा महा -सिद्धान्तों के अंधानुकरण एवं इनके अनुवर्ती विकास के स्थान पर दर्शन, दैनिक जीवन, भाषा अनुभववाद इत्यादि से जुड़े हुए छोटे ही सही परन्तु नवीन तथा अधिक प्रासंगिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्तों के निर्माण एवं विकास के प्रयास प्रारम्भ किये जा चुके थे ।

एक समाज मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में हर्बर्ट ब्लूमर द्वारा रचित एवं प्रस्तुत किए जाने के पूर्व सांकेतिक अतःक्रियावाद 1894 से 1931 तक की अवधि में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कर रहे जार्ज, हर्बर्ट मीड के व्याख्यानों में आकार ले रहा था । यह 'यथार्थवाद (Pragmatism)' तथा मनोवैज्ञाग़निक व्यवहारवाद (Psychological Behaviorism) के दर्शनों पर आधारित एक समाज मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

कालान्तर में इसके उपागम का सहारा लेकर समाजशास्त्र में मानवीय व्यवहारों के अध्ययन पर आधारित लघु -सिद्धान्तों तथा उपागमों यथा विचलन के सिद्धान्त, व्यवसायगत

अनुसन्धान, चिकित्सा -समाजशास्त्र, कक्षा में अन्तःक्रियाओं के अध्ययन आदि का विकास हुआ परन्तु सत्तर के दशक में प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादी सिद्धान्त को एक बार पुन: आलोचनाओं का सामना करना पड़ा । इन आलोचनाओं के प्रमुख आधारो में सर्वप्रमुख आधार इसके द्वारा सामाजिक संरचना शक्ति तथा इतिहास जैसे व्यापक संदर्भ वाले आधारों की अवहेलना का था ।

नवे के दशक से इसने सामाजिक अंतःक्रियाओं एवं घटनाओ की नई श्रीखलाओ की चयनबद्ध प्रस्तुति के द्वारा एक नया तथा विशेषीकृत स्वरूप धारण किया है एवं सैद्धान्तिक रूप से यह पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं परिष्कृत हुआ है । साथ ही साथ, अपनी समाज - मनोवैज्ञानिक उपादेयता एवं प्रासंगिकता को बनाये रखने के लिये इनमें उत्तर -आधुनिकता (Post -Modernism) नारीवाद (Feminism), भाषा -विज्ञान तथा संस्कृति -सिद्धान्त आदि जैसे आधुनिक, उत्तर -आधुनिक एवं अद्यतन समाज वैज्ञानिक सिद्धान्तो एवं परिप्रेक्ष्यों से भी अपनी संबद्धता स्थापित की है ।

17.04 प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद : प्रमुख सम्प्रदाय एव सम्प्रदायगत मंतातर

उत्पत्ति के कुछ वर्षो पश्चात, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पश्चात प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद के दो विशिष्ट सम्प्रदाय वैचारिक पटल पर उभरे । हालाँकि एक ही सिद्धान्त पर आधारित दो पृथक सम्प्रदायों का उभार सैद्धान्तिक मतान्तर का द्योतक है परन्तु साथ ही यह इस बात का भी परिचायक है कि सिद्धान्त -विशेष को दर्शन एवं अकादमिक स्तर पर गंभीर एवं महत्वपूर्ण रूप में स्वीकारा जा चुका है तथा अध्येतागण अपने -अपने दृष्टिकोणों अनुभवों उपागमों एवं अनुसंधानों की सहायता से इसे और भी परिष्कृत और विकसित करने के प्रयास कर रहे हैं ।

परन्तु इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि अपनी सैद्धान्तिक एवं वैचारिक भिन्नताओं को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने प्राय: एक ही अथवा समान आधारभूत वैचारिक स्थापनाओं की सहायता ली है । उदाहरण के तौर पर यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करने करता है कि व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से संबद्ध एवं संदर्भित होना व्यक्ति के 'स्वं' के अनुसार होता है जो 'भूमिका -चयन' (Role Taking) के द्वारा दूसरों की भूमिकाओं के बारे में अनुमान लगाता एवं उनका आकलन करता है । वस्तुत: यह चार्ल्स कबूले के 'आत्म -दर्पण' (Looking Glass Self) के सिद्धान्त पर आधारित एक मान्यता है । इसी प्रकार यह इस बात पर जोर देता है कि सामाजिक जीवन के प्रारुपों के निर्धारण के क्रम में अंतःक्रियाओं, संकेतों एवं संबधित प्रक्रियाओं के निहितार्थो को जानना आवश्यक है । यह वस्तुत: जार्ज सम्मेलन की सैद्धान्तिक मान्यता का प्रतीकात्मक अंतःक्रिया की मान्यताओं में किया गया अनुकूलन है ।

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद के दोनो सम्प्रदाय क्रमश: शिकागो सम्प्रदाय (शिकागो विश्वविद्यालय) तथा आयोवा सम्प्रदाय (आयोवा विश्वविद्यालय) के रूप में जाने जाते है । इनका संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित क्रमिक बिन्दुओं की सहायता से प्रस्तुत किया गया है

1. शिकागो सम्प्रदाय (The Chikago School) :

हालांकि डब्ल्यू. आई. थॉमस तथा राबर्ट पार्क इत्यादि ने शिक्षकों के रूप में इसका प्रवर्तन पहले ही कर दिया था, प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के शिकागो सम्प्रदाय के अध्येताओं में हरबर्ट ब्लूमर तथा एवरेट हग्स के नाम प्रमुख हैं । इस सम्प्रदाय ने क्षेत्रकार्य पर आधारित अनुभवों, सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक बिन्दुओं यथा औद्योगीकरण, प्रजातीय मुद्दों आदि के संबंध में व्यावहारिक एव उपयोगी समाज विकसित करने पर बल दिया । आगे चलकर इसमें और भी विशेषकृत रूप में सहभागी अवलोकन पर आधारित अनुसन्धान विशेषकर मानव विज्ञान, की अनुसन्धान विधियों के द्वारा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा सामाजिक परिवेश के निर्माण के क्रम में चीजों के सन्दर्भ में निर्मित प्रतीकों एवं अर्थ -बोध को समझने एवं विश्लेषित करने के प्रयास प्रारम्भ किए ।

प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के सम्बन्ध में शिकागो सम्प्रदाय की मूल प्रस्थापनाएँ

1. 'व्यक्ति' की प्रकृति विषयनिष्ठ (Subjective) एवं अनिश्चित (Unpredictable) स्वरूप की होती हैं ।
2. अंतःक्रिया की प्रकृति अन्यों की क्रियाओं के अर्थबोध के निर्माण एवं उनके विश्लेषण पर आधारित होती है जो तदनन्तर आवश्यकतानुसार उनकी भूमिकाओ की संरचना एवं पुनर्संरचना में सहायता करती है ।
3. सामाजिक संगठन की प्रकृति परिवर्तित होती भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों के व्यावहारिक चयन पर निर्भर करती है ।
4. मनुष्यों एवं समाज के अध्ययन हेतु सर्वाधिक उपयुक्त तरीका अन्वेषणात्मक होता है जिसमें सहभागी अवलोकन एवं लोकज्ञान की विधियों की सहायता से मनुष्य के विषयनिष्ठ एवं व्यावहारिक अनुभवों के बारे में पता लगाया जाता है ।
5. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तीकरण के संदर्भ में विवरणात्मक एवं अन्देषणात्मक विधियाँ सर्वाधिक उपयुक्त है ।

2. आयोवा सम्प्रदाय (The Iowa School)

आयोवा विश्वविद्यालय में सांकेतिक अंतःक्रियावाद के आयोवा सम्प्रदाय ने मैनफोर्ड कुहन के अकादमिक नेतृत्व में आकार ग्रहण किया । हालाँकि उनकी भी यही मान्यता थी कि आनुभविक प्रविधियों के द्वारा मानवीय अंतःक्रियाओ को जाँचा -समझा जा सकता है अत: इस हेतु इनका प्रयोग होना चाहिये । परन्तु इसने प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद के संदर्भ में स्व (Self) तथा संदर्भ समूह (Refrence Group) जैसी महत्वपूर्ण अवधारणाओं को उपकल्पनाओं की जाँच के संदर्भ में मानक अवधारणाओं के रूप में प्रयुक्त कर अपनी एक विशेष दृष्टिकोणाधारित पहचान बनायी । कुहन ने इसी आधार पर मानवीय व्यवहारों का अध्ययन कर इनका सामान्यीकरण करने तथा उनके संदर्भ में सैद्धान्तिक रूप से स्थायी निष्पत्तियों के निर्माण हेतु आनुभविक प्रविधियों का उपयोग प्रारम्भ किया था ।

प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के सम्बन्ध में आयोवा सम्प्रदाय की मूल प्रस्थापनाएँ :

1. 'व्यक्ति' की प्रकृति सामान्यीकृत एवं निश्चित स्वरूप की होती है ।

2. अंतःक्रिया की प्रकृति 'अन्यों' द्वारा निभाई गई भूमिकाओं के आधार पर निर्धारित होती है । व्यक्ति ऐसी भूमिकाओ की व्याख्या करते एवं उनके सन्दर्भ में अर्थबोध विकसित करते हैं परन्तु स्वय भूमिकाओ का निर्धारण नहीं करते ।
3. सामाजिक संगठन भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों के स्थिर, निश्चित एवं नियन्त्रण योग्य संज्ञान के इर्द -गिर्द बुना होता है ।
4. मानव एवं समाज के अध्ययन की सर्वाधिक उपयुक्त विधि अनुभववादी है जिसे निर्धारणवादी विधियों के साथ किये गये विसंबद्ध अवलोकन के सहारे मानव -व्यवहार के सामान्ययीकरण किये जा सकने वाले प्रारुपो का अन्वेषण किया जा सके ।
5. समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिकरण की सर्वाधिक उपयुक्त विधि निगमनात्मक होती है जिसमें सामाजिक घटनाओं के नियन्त्रण एवं उनके भविष्य के तत्व सम्मिलित होते हैं ।

17.05 प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद: प्रमुख विचारक

प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के प्रमुख विचारकों में हर्बर्ट ब्लूमर, मीड तथा कुहन के नाम प्रमुख है । इस सिद्धान्त के संदर्भ मे उनके विचारों, मान्यताओं तथा प्रस्थापनाओं को समझना आवश्यक है । अग्रलिखित अनुच्छेदों के माध्यम से प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के प्रमुख विचारकों के कार्यो को प्रस्तुत किया गया है:

जार्ज हर्वट मीड - स्व (Self) एवं प्रतिकात्मक अन्तःक्रियावाद

यह एक अकादमिक तथ्य है कि जार्ज हर्बर्ट मीड द्वारा प्रस्तुत व्यक्ति के 'स्व' की अवधारणा ने प्रतीकात्मक अन्तःकियावाद हेतु एक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि निर्मित की । उनकी पुस्तक 'माइन्स, सेल्फ एम्स सोसाइटी' (Mind,Self and Society) मे उनके द्वारा प्रस्तुत अवधारणा एवं उनके महत्वपूर्ण तत्वों की विवेचना की गई है ।

मीड के अनुसार मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक व्यवहारवाद की, यह मान्यता है कि 'व्यवहार का जो स्वरूप दृष्टव्य है, उसमें अलावा भी इसके कई पक्ष होते हैं । उन्होंने विशुद्ध व्यवहारवादियों के इतर यह बताने का प्रयास किया कि व्यवहारों एवं गतिविधियों के अदृश्य पक्ष यथा मानसिक प्रक्रियाएँ भी अत्यधिक महत्व की होती हैं और मानवीय व्यवहार के अध्ययन के क्रम में इनका भी अध्ययन किया जाना चाहिये । उनके अनुसार 'मन (Mind)' एक यथार्थ सक्रिय एव गतिशील वास्तविकता है ।

मीड ने प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के संदर्भ में निम्नांकित विश्लेषणात्मक अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है: -

1 **स्व (Self)' :** वस्तुतः मीड द्वारा 'स्व' की अवधारणा एक मनोवैज्ञानिक निस्पत्ति है जो प्रतीकात्मक अन्तःकियावाद का मुख्य आधार है । हालॉकि अन्य प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादियो ने मीड द्वारा प्रस्तुत 'स्व' की अवधारणा को अपने -अपने दृष्टिकोणों के साथ परिर्वतित एवं परिमार्जित अर्थो में प्रयुक्त किया है । मीड के अनुसार इस स्व के दो क्रमिक भाग 'मैं' (I) तथा 'मेरा/मुझे (Me) की है ।

'मैं व्यक्ति मूलभूत आवेगों से संबंधित होता है तथा 'मेरा' अन्यो तथा समाज के मूल्यों, मान्यताओं भूमिकाओं तथा वस्तुओं में अपना सन्दर्भ ढूँढता है तथा इनके अनुसार स्वयं की चेतना (Consceousnes) का निर्माण एव विकास करता है । 'स्व' की इन अवस्थाओं को स्पष्ट करते हुए मीड कहतें है कि मै व्यक्ति की असंगठित अनुक्रिया (unorgnised response) है । यह अनुक्रिया मूलभूत मनोभावों एवं अभिवृतियो से अभिप्रेरित होती है जबकि 'मेरा या 'मुझे (उम) वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपनी अन्त:क्रियाधारित एवं सामाजिक सीख के आधार पर अनुक्रिया करता एवं प्रत्युतर देता है । इस प्रकार 'मै' का स्वरुप व्यक्तिगत (Individual) एवं 'मेरा' या 'मुझे' का स्वरुप सामाजिक (societal) होता है ।

2 **मै' (I) और मुझे (Me) :** 'मैं' दूसरों के संदर्भ में नितान्त व्यक्तिपरक होता है जबकि 'मुझे' सामान्यीकृत अन्य के प्रति 'मैं' का अनुकूलन होता है ।

3 **सामान्यीकृत 'अन्य' (Generalised Others) :** सामान्यीकृत अन्य सम्पूर्ण समुदाय या समाज की सामूहिक मनोवृत्ति । यह व्यक्ति, जो अन्यों के साझे अर्थबोध से स्वंय को सम्बद्ध पाता है, को एक सामाजिक जीवन में एक सहभागी के रूप में प्रस्तुत करती है ।

4 **आत्म -अन्तःक्रिया (self -interaction):** 'स्व' के निर्मित एवं विकसित हो जाने के पश्चात 'स्व' की स्वयं के साथ अन्तक्रिया प्रारम्भ होती है । मीड ने इसे आत्म -अन्तःक्रिया की संज्ञा दी है । वस्तुत: यह 'स्व' द्वारा सामाजिक परिवेश के बारे में अनुभव अर्पित करने तथा इन अनुभवों के आधार पर समाज से स्वयं को सन्दर्भित करके देखने एवं आवश्यकतानुसार 'आत्म -अन्तःक्रिया करने एवं तदनुसार सीखते रहने की एक प्रकिया है । इस प्रकिया का स्वरुप बहुत कुछ वाद -विवाद एवं 'अनुकूलन' की प्रक्रिया से मिलता -जुलता है जिसमें संचार (communication) जो प्राय: संकेतो (symbols) के रुप में होता है, का महत्वपूर्ण स्थान होता है । संकेतो एवं इनके संचार की सहायता से व्यक्ति क्रमश: अपने परिवेश से तादात्म्य में स्थग़ाति करना प्रारम्भ करता है । इस क्रम में वह अन्यों की भूमिकाओ का अवलोकन, विश्लेषण करता है, आवश्यकता पड़ने पर उनके साथ अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है एवं उनकी भूमिकाओं को 'स्व' के सन्दर्भ में अपना लेता है ।

5 **स्व का विकास (Develpoment of self):** आत्म -अन्तःक्रिया तथा सामाजिक अन्तःक्रिया के विभिन्न तरीकों यथा खेल -कूद, शिक्षा, पारिवारिक समारोहों इत्यादि के माध्यम से 'स्व' का निरन्तर एवं क्रमिक विकास होता रहता है । वस्तुत: यह दो वर्षो की वय के पश्चात् से प्रारम्भ हो जाने वाली प्रक्रिया है जिसमें, हालाँकि प्रारम्भ में तो बालक अन्यों की अंतःक्रियाओं को भलीभाँति पहचान और समझ नहीं पाता परन्तु उनके प्रतीकों को समझने लगता है, भाषाई शब्दों के तात्पर्य सीखने लगता है तथा अपनी आवश्यकताओं को सांकेतिक रूप से अभिव्यक्त करने लगता है । समय के साथ उसके समक्ष अपनी तथा अन्यों की प्रस्थिति (Status) तथा भूमिकाओ (roles) के सम्बन्ध में उसे अर्थ एवं भेद -मूलक ज्ञान होने लगता है। इस ज्ञान के आधार पर वह अंतःक्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों संकेतों चिन्हों तथा

समाज में प्रचलित मूल्यों, मानदण्डों भूमिकाओ तथा परिस्थितियों इत्यादि के संदर्भ में अपने सामाजिक अस्तित्व एवं समाज में वैयक्तिक उपयोगिता के विभिन्न स्वरूप निर्मित करता तथा आवश्यकता अनुरूप उन्हे परिष्कृत -परिमार्जित करता रहता है ।

6 **संकेत (Symbol) :** किसी अन्य चीज का परिचयात्मक तथा अर्थ के संदर्भ में जटिल सामाजिक व्यवस्था से संबद्ध ।

7 **चिन्ह (Sign) :** स्वयं की पहचान व्यक्त करने वाला तथा अन्यों के प्रति साधारण रूप में प्रत्युतर व्यक्त करने वाला ।

8 **भाव -भंगिमा (Expression) :** सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक प्रक्रिया का एक आधारभूत तत्व। इसे स्पष्ट करते हुए मीड कहते हैं कि जीव की प्राथमिक गतिविधियाँ जो उसे तदनन्तर एक विशिष्ट जीव के रूप में लेते हुए स्वयं को संपन्न करती है ।

9 **महत्त्वपूर्ण संकेत (Significant Symbols) :** विशिष्ट प्रारुप की भाव -भंगिमाएँ जिन्हे सिर्फ मनुष्य ही बना पाते हैं । भाव -भंगिमाएँ महत्वपूर्ण संकेतों का रूप तब धारण कर लेती हैं जब वो उन लोगों को उद्दीप्त तथा प्रत्युत्तरदायी बना देती है जिनके संदर्भ में वो बनाई जाती है ।

10 **प्रतीकात्मक अर्थ (Symbolic Meaning):** प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के सम्बन्ध में दी गई चौथी एवं अन्तिम प्रस्थापना मीड प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में करते हैं । उनके अनुसार 'स्व' के विकास की प्रक्रिया में व्यक्ति अन्यों की क्रियाओं, क्रिया -कलापों एवं गतिविधियों के संदर्भ में, जो उस तक संकेतों भाव -भंगिमाओं तथा क्रियाजन्य परिणामों के रूप में पहुँचते हैं, का तात्पर्य एवं अर्थ भी वो उन्ही संकेतों इत्यादि के आलोक में एवं उन्ही के परिप्रेक्ष्य में निकालता है । इसको और स्पष्ट करते हुए मीड कहते हैं कि "ये वो तत्व हैं जो अर्थो के प्रतीक हैं तथा जिनसे 'स्व' ने तादात्म्य स्थापित कर लिया है तथा इनको समाज के अन्य सभी सदस्य भी समान अर्थो में लेते हैं ।"व्यक्ति इन तत्व के स्वीकृत एवं मान्य अर्थो के अनुरूप ही अनुक्रिया तथा अंतःक्रिया करता है ।

11 **क्रिया या कृत्य (Act) :** प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादी पाराडाइम की मुख्य विश्लेषक कुंजी जो यह स्पष्ट करती है कि हम जो कुछ करते है उसका पूर्व निर्धारण कैसे करते हैं ।

इस प्रकार हर्बर्ट मीड के सांकेतिक अंतःक्रियावाद के संदर्भ में व्यक्त किये गये विचार, हालाँकि बहुत विशिष्ट एवं व्यवस्थित नहीं होते हुए भी प्रतोकात्मक अंतःक्रियावाद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि निर्मित कर गये हैं । आगे चलकर इसी दिशा में अन्य समाजशास्त्रियों ने कार्य किया तथा इसे समाज के संदर्भ में व्यक्ति के जीवन को विश्लेषित करने हेतु एक महत्वपूर्ण तथा अपनी सीमाओं में उपयोगी उपागम के रूप में प्रस्तुत किया । यह उपागम तमाम आलोचनाओं के बावजूद अपने दृष्टिकोण एवं विषयवस्तु के कारण निरन्तर प्रकाश में तथा उपयोगी बना हुआ है।

हरबर्ट ब्लूमर का प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद

प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद सिद्धान्त के संदर्भ में ब्लूमर व्यक्ति के वस्तुनिष्ठ अनुभवों के अध्ययन को समाज के संदर्भ में सही समझ विकसित तथा उसका अध्ययन करने की कुंजी

मानते हैं । ऐसा इसलिये कि जब व्यक्ति सामाजिक स्तर पर एक या एकाधिक अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों से अंतःक्रिया करता है तब वह उसके या उनकी क्रियाओं या गतिविधियों के अनुरूप अपने व्यवहारों को समायोजित करने का प्रयास करता है । इस क्रम में वो कई क्रियाओं एवं संकेतों से स्वयं को संबद्ध करता है, उनके संदर्भ में अर्थ बोध विकसित करता है एवं तदनुरूप स्वयं के व्यवहारों को एक सृजित प्रारूप (पूर्व -स्थापित या नव -सृजित) के अनुसार प्रस्तुत करता है ।

हर्बर्ट ब्लूमर ने प्रतीकात्मक अतःक्रियावादी सिद्धान्त के विकास के क्रम में अपने अवधारणात्मक अभिमुखीकरणों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि बाह्य शक्तियों या अनियन्त्रित मनोवैशानिक कारकों से प्रभावित होते रहने के अलावा भी मानवीय व्यवहार के कई अन्य महत्वपूर्ण पहलू है । उनका मानना था कि अब तक चर्चाओं में रहे समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों ने 'अर्थ (Meaning) तथा 'वास्तविकता या यथार्थ (Reality) की सामाजिक संरचना की प्राय: अनदेखी की है । प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद सिद्धान्त की स्थापना के क्रम में बूमर ने तीन केन्द्रीय नियमों को चिन्हित किया -

1. मनुष्य चीजों के प्रति व्यक्तियों द्वारा उनके संदर्भ में निर्मित अर्थो या तात्पर्यों के आधार पर क्रिया करता है ।
2. अर्थ या अर्थ -बोध व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक अंत:क्रियाओ के माध्यम से निर्मित होता है।
3. अर्थ या अर्थ -बोध चीजों की व्याख्या या उनके स्पष्टीकरण की एक प्रक्रिया के द्वारा परिमार्जित या परिवर्तित होता है ।

हर्बट ब्लूमर के अनुसार प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादी परिप्रेक्ष्य निम्नांकित तीन आधार वाक्यों पर आधारित है:

1. "लोग चीजों के प्रति तथा उनके संदर्भ में जो अर्थ या तात्पर्य विकसित करते है एवं उन्हीं के अनुसार उनके प्रति व्यवहार करते हैं । "
2. "चीजों के प्रति तथा उनके संदर्भ में अर्थ या तात्पर्य व्यक्ति -विशेष के माध्यम से समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ की गई सामाजिक अतःक्रियाओ से या उनके द्वारा निर्मित होते है।"
3. "ये अर्थ या तात्पर्य व्यक्ति -विशेष द्वारा कतिपय चीजों के साथ अपनी अंतःक्रियाओं या व्यावहारिक संबन्धों के विश्लेषण के द्वारा आवश्यकतानुसार परिमार्जित या परिष्कृत कर लिये जाते है । "

ब्लूमर का प्रतीकात्मक अत:क्रियावाद निम्नांकित मूल प्रस्थापनाओं पर आधारित रहा है: -

1. **मानव समाज की प्रकृति :** ब्लूमर के अनुसार मानवीय गतिविधियाँ ही समाज के संदर्भ में निर्मित होने वाले किसी भी सिद्धान्त का आरम्भिक बिन्दु होनी चाहिये क्योंकि मनुष्य सदैव ही, चाहे व्यक्तिगत, सामूहिक या अन्य व्यक्तियों या समूहों के प्रतिनिधियों के रूप में, कतिपय गतिविधियों या क्रियाएँ करता रहता है ।

2. **सामाजिक अंतःक्रिया की प्रकृति :** सामाजिक अंतःक्रियाओं को वस्तुत: दो प्रकार की अंतःक्रियाओं - असाकेतिक तथा सांकेतिक अंतःक्रियाओं के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

असाकेतिक अंतःक्रियाएँ तब होती है जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की क्रिया के संदर्भ में बिना किसी आकलन के सीधे तौर पर प्रत्युतर देता है । इनमें किसी वैचारिक क्रिया की कोई भूमिका नहीं होती है । इसके विपरीत, सांकेतिक क्रियाएँ व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति की क्रियाओं के संदर्भ मे सोच -विचार कर, उसकी क्रिया की भली -भाँति व्याख्या कर के की जातीं हैं तथा उनमें उक्त व्यक्ति की भाव -भंगिमाओं के विशेष अर्थ -बोध भी सम्मिलित होते है । मानव समाज इन्ही अतःक्रियाओं पर आधारित होता है ।

3. **चीजों की प्रकृति :** मानव जगत वस्तुपरक है जिसके भौतिक एवं सामाजिक निहितार्थ होते हैं। ये निहितार्थ जड़ तथा अपरिवर्तनीय न होकर संकेतो तथा व्यक्तियों के अर्थ -बोधों के अनुसार परिवर्तित होते रहते है । व्यक्ति -विशेष के लिये किसी चीज के प्रति अर्थ -बोध उसी रूप में विकसित होता है जिस रूप में अन्य व्यक्ति, जिनके साथ वह अतःक्रिया कर रहा होता है, उसे लेते हैं । चीजों के प्रति अर्थ -बोध लोगों की क्रियाओं एवं जीवन में हुए परिवर्तनों के साथ परिवर्तित होते रहते है ।

4. **-मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है:** 'स्व' के निर्माण के साथ व्यक्ति स्वंय से संबंध स्थापित करना तथा अंतःक्रिया करना प्रारंभ करने लगता है ।यह क्रमश: व्यक्ति को भूमिककरण (role -taking) तक ले जाता है जो उसे यह बताता है कि उसकी क्रियाओं को अन्य संदर्भित लोगों द्वारा किस रूप में देखा और लिया जायेगा । इसी के संदर्भ में वह अपनी क्रियाओं का स्वरूप और दिशा निर्धारित कर उनको सम्पन्न करता है । इसे स्पष्ट करते हुए ब्लूमर कहते हैं - "मनुष्य एक दूसरे की क्रियाओं के संदर्भ में सिर्फ सामान्यतौर पर प्रतिक्रिया करने के स्थान पर उनकी व्याख्या करता है, उनको पुनर्परिभाषित भी करता है और तदनुसार अंतःक्रिया करता है ।

5. **मानवीय क्रिया की प्रकृति:** स्व -संकेतों की सहायता से कोई व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन की व्याख्या एवं तदनुसार अपनी क्रियाओं का निर्माण कर सकता है । इस संदर्भ में ब्लूमर की मान्यता है कि तब तक किसी व्यक्ति की क्रियाओं को नहीं समझा जा सकता है जब तक उसकी पारिभाषिक प्रक्रिया की तह में नहीं जाया जाए । सर्वप्रथम व्यक्ति अपनी क्रियाओं को दूसरों के परिप्रेक्ष्य में करके देखता है, पारस्परिक सहमति एवं समरूपता के संकेत विकसित करता है तथा तत्पश्चात् उसकी क्रिया या कार्य -विशेष के संदर्भ में सामूहिक क्रिया का निर्धारण होने लगता है।

6. **क्रियाओ के अंतसंबंध :** व्यक्ति का समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ क्रियाधारित अंतर्सबन्ध मानवीय सामाजिक जीवन की आधारशिला बनाते हैं । इस रूप में व्यक्ति की क्रिया सामूहिक क्रिया एवं तदनन्तर सांकेतिक अंत:क्रियावाद के रूप में एक वृहदस्तरीय घटनाक्रम का भी निर्माण करती है ।

कुहन का प्रतीकात्मक अंत:क्रियावाद

ब्लूमर के विचारों से सिद्धान्त: असहमति के बिन्दुओं को चिन्हित करते हुए कुहन सांकेतिक अतःक्रियावाद के बारे में अपने विचार कुछ पृथक ढंग से प्रस्तुत करते है । उनके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार इतने लोचदार भी नहीं होते कि उन पर सिर्फ तात्कालिक परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़े । बाह्य कारकों तथा तात्कालिक परिस्थितियों के अलावा व्यक्ति

के पास उसका एक 'मूल -स्व' (Core -Self) भी होता है जो वस्तुत: सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा विकसित व्यक्ति के अर्थ -बोध एवं अभिव्यक्तियों का अपेक्षाकृत स्थायी प्रतिबिम्ब होता है ।

इस 'मूल -स्व' की (core -Self) की सहायता से ही व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों तथा अन्यों के संदर्भ में की जाने वाली अत:क्रियाओ के परिप्रेक्ष्य विकसित एवं संपादित करता है । चूँकि उसका 'मूल -स्व' स्थिर प्रकृति का होता है, उसके द्वारा निर्मित एवं आंकलित स्थितियाँ - प्रस्थितियाँ भी तुलनात्मक रूप से स्थिर प्रकृति की होती हैं । इसलिये उनके विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया की दिशा का पूर्वाकलन संभव हो सकता है । इस आधार पर उसकी क्रियाओं, अंतःक्रियाओं एवं व्यवहारों के बारे में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है । इस पूरी प्रक्रिया में समाज, जो कि 'मूल -स्व' (Core -Self) की ही भाँति पूर्व संरचित होता है, की अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका होती है । कुहन का मानना है कि समाज संरचित होता है, स्थायी होता है और इसलिये व्यक्ति के 'मूल -स्व' के निर्माण की प्रक्रिया को समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से समाज में विद्यमान अन्य तत्वों कारकों एवं प्रक्रियाओं के अनुसार संरचित एवं परिमार्जित करता रहता है ।

समाज 'मूल -स्व' को निर्देशित करता है कि कब और किन परिस्थितियों में व्यक्ति को किस प्रकार के व्यवहार करने चाहिये क्योंकि 'मूल -स्व' सामाजिक नियमों एवं व्यवहार प्रारुपों से एक सीमा के बाद स्वतंत्र नहीं रख पाता है ।

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद के संदर्भ में कुहन अपने विचार प्रस्तुत करने के क्रम में निम्नांकित लघु -प्रस्थापनाओं की सहायता से आगे बढते हैं:

1- 'मूल -स्व' तथा समाज दोनो ही संरचित होते हैं तथा दोनो की पारस्परिकता से सामाजिक नियम, मूल्य एवं मान्यताएँ स्थिति -विशेष के संदर्भ में संदर्भो (Frames) ,भूमिकाओ (Roles) एवं अंतःक्रियाओं का निर्माण करती है ।

2- व्यक्ति का व्यवहार एवं क्रियाएँ सामाजिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में क्रमश: एवं क्रमिक रूप से निर्मित एवं सम्पन्न होती है, इनमें अप्रत्याशितता जैसी कोई बात नहीं होती है । यदि कोई व्यवहार, क्रिया या अंतःक्रिया अप्रत्याशित रूप से की भी जाती है तो भी उसका एक पूर्व आधार होता है ।

3- सामाजिक संगठन तुलनात्मक रूप से एक स्थायी संरचना (Structure) है जिसकी स्वीकार्यता के साथ व्यक्ति अपनी क्रियाओं व्यवहारों तथा चीजों के प्रति अर्थ -बोध एवं भूमिकाओं के प्रति विशिष्ट प्रत्याशाओं के फाथ सामाजिक परिदृश्य के निर्माण में अपना सहयोग देते हैं ।

4- प्रतीकात्मक अंतःक्रियाओं को समझने में कार्य -कारण (Causation) की महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है क्योंकि 'मूल -स्व' में परिर्वत्यों की प्रासगिक उपस्थिति होती है । इसे बीस कथनीय परीक्षण (Twenty Statements Test -T.S.T.) विधि जैसी विधियों के सहारे मापा एवं जाना जा सकता है ।

प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद के विचारकों की एक प्रमुख कड़ी के रूप में इर्विंग गॉफमैन (1922 -1982) का नाम प्रतिष्ठित है । गॉफमैन के विचारों पर उनके पूर्ववर्ती विचारकी विशेषकर मीड तथा ब्लूमर के विचारों का प्रभाव था परन्तु उन्होंने अपनी बहु चर्चित पुस्तक "द प्रजेन्टेशन ऑफ सेल्फ इन एवरीडे लाइफ" (The Presentation of Self in Everyday) में वर्णित अपने विचारों के द्वारा "लोक -विधि -विज्ञान" के क्षेत्र में अपना विशेष सैद्धान्तिक योगदान दिया है । इस संदर्भ में उनकी दो प्रमुख अवधारणायें (1) नाटक सम्बन्धी विचार (Drametical Ideas), तथा (2) अंतःक्रिया क्रम (Interaction Order) के सम्बन्ध में है । इन दोनो ही अवधारणाओं का केन्द्रीय संदर्भ 'स्व' ही रहा है तथा सिद्धान्ततः ये भी वृहद् संरचनाओ के व्यापक कलेवर को नकारती है ।

17.06 प्रतीकात्मक अतःक्रियावादी सिद्धान्त : आलोचना के बिन्दु

हालाँकि एक सिद्धान्त के रूप में प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद समाजशास्त्रियों के बीच पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है परन्तु विशेषकर स्तर के दशक में तथा उसके पश्चात भी समय -समय पर विभिन्न संदर्भो में इसकी आलोचनाएँ होती रहीं है । प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद की एक प्रमुख प्रस्थापना यह है कि वैसे बृहद् समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रायः अप्रासंगिक, जटिल एवं अनुपयोगी है जो यह मानते हैं कि मात्र वृहद् एवं बाह्य शक्तियाँ ही व्यक्ति की किया को निर्धारित एवं प्रभावित करती हैं । जैसा कि ब्लूमर कहते भी हैं कि "संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण या सामाजिक भूमिकाएँ जैसे संरचनात्मक तत्व मानवीय क्रिया के लिये आवश्यक एवं पूर्व दशाएँ निर्मित अवश्य करते हैं परन्तु मानवीय क्रिया का निर्धारण नहीं करते । इसी प्रकार की कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्नांकित बिन्दुओं के रूप में प्रस्तुत की गई है:

1. अतःक्रियावादी उपागम समाजशास्त्रीय अनुसन्धान एवं ज्ञान प्राप्ति के संदर्भ में उपयुक्त नहीं है क्योंकि इसमें वस्तुनिष्ठता, वैज्ञानिकता एवं निरपेक्षता का अभाव है ।
2. यह सिद्धान्त सामाजिक संरचना, जिसे एक आधारभूत समाजशास्त्रीय बिन्दु माना जाता है, के संदर्भ में प्रायः अनभिज्ञ एवं असंबद्ध हो एक प्रकार से इनकी अवहेलना करता है । इसी प्रकार की असंबद्धता यह अन्य वृहद् समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी प्रदर्शित करता है ।
3. अब सब यह एक सुस्थापित समाज -मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति के व्यवहारों एवं क्रियाओं के निर्धारण में उसके व्यक्तित्व एवं अवचेतन मन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । परन्तु सांकेतिक अतःक्रियावाद इसको प्रायः गौण मानकर सिर्फ आत्म -चेतना से ही अपना केन्द्रिय संदर्श मानता है ।
4. प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद यह भूल जाता है कि मानवीय क्रियाओं के निर्धारण में सिर्फ अतःक्रियाएँ एवं अर्थबोध ही महत्वपूर्ण नहीं होते बल्कि इसमें ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक कारण भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है ।

5. यह भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि कोई समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, जैसे कि प्रतीकात्मक अतःक्रियावाद, समाज के व्यापक संदर्भो से स्वयं को परे रखते हुए समाजोपयोगी निष्पत्तियाँ प्रस्तुत कर सकता है ।

17.07 बोध प्रश्न

1. प्रतीकात्मक अंत: क्रियावाद को परिभाषित कीजिए । इसके प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख कीजिए ।
2. प्रतीकात्मक अंत: क्रियावाद सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

17.08 संदर्भ ग्रंथ

हर्बट ब्लूमर, सोसाइटी ऐज सिम्बालिक इंट्रेक्सन इन रोज (संपा0): ह्यूमन बिहेवियर एण्ड सोशल प्रोसेसेज, बोस्टन, 1962

एम0 एच0 कुहन, मेजर ट्रेन्डस इन सिम्बालिक इंट्रेक्सन थ्योरी इन पास्ट ट्वेन्टी फाइव इयर्स, सोशियालाजिकल इनक्वायरी, 45 (विन्टर), 1976

जोनाथन एच0 टर्नर, दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशियालाजिकल थियॉरी, जयपुर (1995)

हर्बट ब्लूमर, सिम्बालिक इंट्रेक्सन: पर्सपेक्टिव एण्ड मेथड, यूनिवर्सिटी ऑफ केलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, 1969

इकाई - 18

नारीवाद उपागम

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.01 प्रस्तावना

18.02 नारीवाद परिभाषा

18.03 नारीवाद ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

18.04 नारीवाद प्रमुख प्रकार

18.05 नारीवाद प्रमुख चरण

18.06 सारांश

18.07 बोध प्रश्न

18.08 संदर्भ ग्रंथ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप मे नारीवाद को समझ सकेंगे ।
- नारीवाद की ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि तथा इसके विकासकम की जानकारी ले सकेंगे।
- नारीवाद के प्रमुख प्रकारों एवं चरणों एवं इनके तत्संबंधित प्रस्थापनाओं को समझ सकेंगे ।
- नारीवाद की आलोचना के बिन्दुओं को समझ सकेंगे ।

18.01 नारीवाद

पिछली शताब्दी के सात के दशक के प्रारम्भ में समाजशास्त्रीय जगत में प्रकार्यवादी मान्यताओं तथा इन पर आधारित सिद्धान्तों को परिवर्तित होते हुए विश्व एवं नव -विकसित होते जा रहे विभिन्न परिप्रेक्ष्यों के तत्वाधान में, विशेषकर अमेरिकी तथा युरोपीय वैचारिक जगत में, नकारा जाने लगा था । प्रकार्यवाद (Functionalism) की तत्कालीन आलोचनाओं का आधार परम्परागत सामाजिक संरचनाओं मूल्यों मान्यताओं प्रक्रियाओं, शक्ति के तत्वों तथा बौद्धिकता के केन्द्रों इत्यादि के परम्परागत स्वरूपों का 'नकार (denial)' था । अमेरिकी एवं यूरोपीय बौद्धिक जगत में उस समय ऐसी मान्यताएँ प्रस्फुटित एवं विकसित होना प्रारम्म कर चुकी थी जो आधुनिकीकरण (modernization) के तत्वों यथा तार्किकता, श्रम -विभाजन, वैज्ञानिकता इत्यादि के उपागमों के द्वारा समाज, सामाजिक व्यवस्था सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक परिवर्तनों तथा इनके कारकी परिणामों एवं वांछित -अवांछित दिशाओं को समझने एवं तदनुसार इनका विश्लेषण करने पर बल देतीं थीं । इस प्रकार की वैचारिकताओ एवं सैद्धान्तिक प्रसुतियों में 'अस्तित्ववाद' का नाम सर्व प्रमुख है । वस्तुत: इसको नारीवाद के प्रणेता सिद्धान्त के रूप में भी जाना -समझा जाता है । या ये भी कहा जा सकता हैं कि अस्तित्ववादी सिद्धान्त की

व्यवहारिक परिणति हमें नारीवाद थ्मउपदपेउद्ध, जिसे बहुधा एक आन्दोलन की भी संज्ञा दी जाती है, के विकास के रूप मे देखने को मिलती है ।

नारीवाद का प्रारम्भ वस्तुत: एक वैचारिकी के रूप में द्या था जो कालान्तर में व्यवस्थित रूप से मान्यता प्राप्त करने के पश्चात् सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे एक 'वाद' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया । इसकी जड़ें वस्तुत: लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की वैचारिकी से पनपी है।

सैद्धान्तिक रूप से अस्तित्ववाद एवं नारीवाद को समृद्ध करने वाले विचारकों मे ज्या पॉल सार्त्र सिमेन -दी -बोउआर, विडगिस्टाईन माइकल फूको वर्जिनिया वूल्फ आदि का नाम उल्लेखनीय रहा है । अस्तित्ववादी एवं नारीवदी सिद्धान्त परम्परागत समाजों की मौलिक संस्थाओं, परिवार, विवाह, पितृसत्तात्मकता, पुरूषवादी परम्पराओं, मूल्यों एवं मान्यताओं इत्यादि को इस आधार पर नकारते हैं कि इनके द्वारा किसी समतामूलक एवं मानवतापरक समाज का सृजन अब तक संभव नहीं हो सका है । अस्तित्ववादी एव नारीवदी सिद्धान्तों के अनुसार समतामूलक एवं मानवतापरक समाज के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक संरचना सामाजिक व्यवस्था एवं वैचारिकियो के परम्परागत एवं रूढ स्वरूपो से परे हटकर एक नया आकाश, एक नई धरती ढूँढी जाए ।

18.02 नारीवाद : परिभाषा

अस्तित्ववाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं पर आधारित नारीवाद नारियों को अपनी वैचारिकी के केन्द्र मे रखकर नारी -मन (Female mind) के द्वारा नारीवादी दृष्टिकोण से समाज में नारियों की स्थिति के विश्लेषण के द्वारा उन्हें समतामूलक प्रस्थिति, अधिकार एवं भूमिका तथा जैविकीय विशेषताओं के आधार पर विशिष्ट सामाजिक अस्तित्व तक ले जाने की बात करता है ।

अपनी उत्पत्ति के पश्चात नारीवाद वैचारिकी पर आधारित क्रमश: एक प्रभावशाली समाजशास्त्रीय उपागम एवं सामाजिक आन्दोलन के रूप में उभरा । इसके व्यापक एवं विशिष्ट प्रभाव हमें विभिन्न विषय -अनुशासनों परम्पराओं, अकादमिक प्रयासों तथा वैचारिक अभिमुखिकरणो (Ideological orientation) इत्यादि पर देखने को मिलते हैं ।

शाब्दिक रूप से 'नारीवाद (Feminsm)' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वैज्ञानिक एवं राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में पुरुषों के साथ स्त्रियों की समानता के परिप्रेक्ष्य में किया गया था । हालाँकि इसका अवधारणात्मक एवं आदोलनातमक विकास वस्तुत: बीसवीं शताब्दी के मध्य तथा उसके पश्चात् की अवधि मे स्पष्टतापूर्वक देखा जा सकता है तथापि इसकी जड़ें अपेक्षाकृत और भी अतीत में जमीं प्रतीत होती हैं । एक 'विचार' के रूप मे इसका प्रारम्भ लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की स्थापना से हुआ तथा कुछ समय पश्चात् 1992 में मैरी वुलस्टोनक्रॉट द्वारा लिखित पुस्तक 'विडिकेशन ऑफ दी राइट्स ऑफ वुमैन' में प्रथमत: व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया । मैरी वुलस्टोनक्रॉट ने इस पुस्तक में पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियो की अपेक्षाकृत हीन स्थिति तथा उनकी सामाजिक स्थिति,

प्रस्थिति (Status) एवं अधिकारों (rigfts) के संदर्भ में प्रचलित पारम्परिक धारणाओं का खण्डन करते हुए उसे प्रत्येक स्तर पर पुरुषों के समकक्ष सिद्ध करने का प्रयास किया और यह स्पष्ट किया कि पुरुषों की भाँति शिक्षा एवं आवश्यक प्रोत्साहन पाकर स्त्रियाँ भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं अकादमिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष स्तर तक पहुँच सकती है । हालाँकि तत्कालीन व्यवस्था में स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों के बारे में उन्होंने कुछ विशेष नहीं कहा तथापि निश्चित तौर पर वो स्त्री -अधिकारों (women rights) एवं लैंगिक समानता (Gender equality) के विचारों का बीजारोपण करने में सक्षम रही ।

18.03 ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

हालाँकि मैरी वुलस्टोनक्रॉट के पश्चात् चार्ल्स फोरियर, पर्किन्स गिलमन तथा कुछ अन्य विचारकों ने परिवारों के पितृसत्तात्मक स्वरूप तथा मार्क्स एवं एंजेल्स ने भी परम्परागत परिवारों में पुरुषों के आर्थिक वर्चस्व को नारियो की सापेक्षिक अधिकारहीनता एवं हेय स्थिति के जोड़ कर देखा एवं विश्लेषित अवश्य किया है तथापि उनके द्वारा किए गये संकेतों एवं दिए गये सुझावों तथा नारियों की दिशा में क्रमिक सुधार की दशाओं एवं दिशाओं में कोई तारतम्य या अनुकूलता परिलक्षित नहीं होती है । उदाहरण के तौर पर मार्क्स की घोषणा थी कि साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private property) की व्यवस्था नष्ट हो जायेगी तथा ऐसे में परिवारों में सम्पत्ति आधारित पुरुष वर्चस्व स्वयमेव ही समाप्त हो जायेगा तथा ऐसी स्थिति में स्त्री -पुरुष संबंध क्रमश: भावनात्मक एवं समानतामूलक होते जायेंगे । परन्तु साम्यवादी समाजों के अध्ययन यह इंगित करते है कि मात्र साम्यवादी क्रान्ति एवं तत्जन्य साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण से नारियों की स्थिति एवं प्रस्थिति मे मार्क्स की साम्यवादी घोषणा के अनुरूप कोई वांछित परिवर्तन नहीं आ सका है । इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि नारी समानता की दिशा में, सीमित ही सही, न्यूजीलैण्ड (1893) ब्रिटेन (1918) तथा अमेरिका (1920) जैसे अग्रिम पंक्ति के राष्ट्रों ने तब तक मताधिकार से वंचित रही महिलाओं को मताधिकार प्रदान कर एक नई तथा विकासमान पहल कर दी थी । इनके पश्चात, हालॉकि दोनो विश्वयुद्धों की अवधि में स्त्री -अधिकारों एवं प्रगतिशीलता के संदर्भ में यथोचित्त प्रगति नहीं हो सकी, तथापि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात नए सिरे से निर्मित हो रही वेश्विक एवं राष्ट्रों की आन्तरिक सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की लहरों ने इस प्रक्रिया को पुन: प्रारम्भ कर दिया तथा उसे नई गति प्रदान की ।

18.04 नारीवाद : प्रमुख प्रकार

वैचारिकी एवं दृष्टिकोंणों की भिन्नता के आधार पर नारीवाद थ्मउपदपेउद्ध को दो भागो में बांट कर देखा जाता है:

1. उदारवादी नारीवाद (Liberal Feminism) :

उदारवादी नारीवाद वस्तुत: समाज की मध्यमार्गी स्त्रियों पर केन्द्रित एक वेचारिक आन्दोलन था जिसने स्त्रियों की तत्कालीन दशा में क्रमिक सुधार मात्र को अपनी वैचारिकी एवं उद्देश्यात्मकता के केन्द्र में रखा । यह नारीवाद का अपेक्षाकृत एक कम महत्वाकांक्षी संस्करण था जिसमें

राज्य, मानव प्रकृति, राजनीति इत्यादि जैसे व्यापक संदर्भ के मुद्दों से स्वंय को दूर ही रखा था। हालाँकि कुछ मामलों में यह एक व्यावहारिक उपागम भी प्रतीत होता है क्योंकि किसी भी पारम्परिक स्थिति या परिस्थिति में अचानक लाया गया परिवर्तन भविष्य में नकारात्मकता, अन्तर्विरोधों एवं विसंगतियों को भी जन्म दे सकता है, तथापि इसका अल्प महत्त्वाकांक्षी एजेंडा आगे चलकर 'अतिवादी नारीवाद' की पृष्ठभूमि भी बन गया ।

उदारवादी नारीवाद की आधारभूत मान्यताएँ (Basic Assumption of Liberal Feminism)

यूरोपीय पुनर्जागरण तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप परिवर्तित परिस्थितियों में स्त्रियों की परम्परागत स्थिति में सुधार को तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक व्यवस्था की अप्रत्यक्ष आवश्यकता एवं प्रत्यक्ष मांग के रूप में देखा जा सकता है । इस विशेष स्थिति ने उदारवादी नारीवाद को जन्म दिया जिसकी मान्यता है कि स्त्रियों की दशा में सर्वआयामी सुधार हेतु आमूल -चूल सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता है । संक्षेप में इनकी आधारभूत मान्यताओं को निम्नांकित बिन्दुओं के रूप में चिन्हित एवं स्पष्ट किया जा सकता है:

1. स्त्रियों की क्षमताएँ पुरुषों के समान हैं इसलिये समाज में उनकी स्थिति पुरुषों के समकक्ष तथा समाज में उनकी समान सहभागिता होनी चाहिये ।
2. विवाह को एक बाध्यतामूलक संस्था के रूप में नहीं देखा जाना चाहिये और न ही स्त्रियों को परम्परागत विवाह नियमों, मान्यताओं एवं व्यवहारिताओं का अनिवार्यत: पालन ही करना चाहिये। इस संदर्भ में सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक रूप से उनको स्वतन्त्र हो जाना चाहिये ।
3. 'परिवार' की रूढ सीमाओं से बाहर निकल कर प्रजनन एवं शिशु -पालन के संदर्भ में स्त्रियों को अपनी पारम्परिक स्थिति एवं भूमिकाओं को अपने विकास के लिए विकल्पों पर आधारित बना देना चाहिये ।
4. व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा राज्य की राजनीतिक शक्तियों के पुरुषवादी संस्करण स्त्री -शोषण के प्रमुख उपकरण हैं ।

उदारवादी नारीवाद की आलोचना:

हालाँकि नारीवाद के प्रारम्भिक स्वरूप के रूप में उभरा उदारवादी नारीवाद स्त्रियों की दशा में समानताधारित वांछित परिवर्तनों को एक सामाजिक मुद्दे के रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम रहा है तथापि वैचारिक एवं सैद्धान्तिक रूप से इसे व्यवस्थित नहीं माना जाता है । यह कहा जा सकता है कि इसने इस क्रम में सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता की ओर तो अवश्य संकेत किया परन्तु इसने इस संदर्भ में न तो कोई व्यवस्थित तथा पूर्व -निर्धारित कार्यक्रम प्रस्तुत किया और न ही इस हेतु कोई ठोस आन्दोलनात्मक आधार ही निर्मित किया । हालाँकि किसी भी वैचारिकी, सिद्धान्त अथवा आन्दोलन का विकास इसी प्रारुप के अनुसार होता है जिसका अनुसरण उदारवादी नारीवाद ने किया तथापि जिस जोर -शोर से इसे प्रारम्भ किया गया, कालान्तर में यह उस गति एव स्तर को बनाए नहीं रख सका । विशेषकर महायुद्धों के दौरान इसकी उपस्थिति एवं कार्यक्रम के बिन्दु अस्पष्ट से दिखे । इसके कमजोर वैचारिक आधार तथा परम्परागत पुरूष वर्चस्ववादी व्यवस्था के प्रति इसके तथाकथित सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण को अतिवादी नारीवाद के प्रेरक तत्व के रूप में प्रचारित किया जाता है ।

2. अतिवादी नारीवाद (Radical Feminism) :

अतिवादी नारीवाद प्रत्येक अर्थ में स्त्रियों को पुरुषों से भिन्न रुप में देखने एवं सिद्ध करने के प्रयास करता है । वस्तुत: यह जीव विज्ञान की इस मान्यता को अपना वैचारिक आधार बनाता है कि जैविक रूप से स्त्री एवं पुरूष परस्पर भिन्न हैं, उनकी शारीरिक संरचनाएँ तथा क्षमताएँ अलग हैं एवं इस दृष्टिकोण से उनकी वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य भी अलग हैं' । तात्पर्य यह कि 'स्त्री' स्त्री है और 'पुरुष पुरुष है । चूँकि इनमें किसी प्रकार की साम्यता नही है इसलिये इनको एक ही दृष्टिकोंण से देखा एवं समझा नहीं जा सकता है । इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि स्त्रियों को पुरूष वर्चस्ववादी परम्परागत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में उनके मौलिक तथा समानता के अधिकारों से सुसज्जित करने तथा उनके संदर्भ में एक भेदभाव, शोषण एवं अत्याचार रहित समतामूलक वातावरण निर्मित करने के लिये स्त्रियों द्वारा स्त्रीवादी नारीवादी दृष्टिकोणों एवं उपागमों का विकास एवं प्रयोग किया जाये । इसमें पुरुष मानसिकता एवं पुरुषवादी संदर्भो का कोई स्थान नहीं होना चाहिये । कुल मिलाकर अतिवादी नारीवाद इस बात पर बल देता है कि स्त्रियों की स्त्रीपरक दुनिया में पुरुषों का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये क्योंकि स्त्रियाँ समानता के अवसर उपलब्ध रहने पर एक उच्चत्तर प्रकार की सामाजिक व्यवस्था निर्मित करने में सक्षम हैं ।

अतिवादी नारीवाद का यह उपागम वस्तुत: नारी -मुक्ति' के केन्द्रीय संदर्श पर आधारित है जो साठ के दशक में यूरोपीय एवं अमेरिकी वैचारिक जगत में जोर -शोर के साथ उभरा था । इसके प्रमुख समर्थक विचारकों एवं प्रवक्ताओं में केट मिलेट, जर्मन ग्रीर, फायरस्टोन इत्यादि हैं जो स्त्रियों को एक नितान्त पृथक तथा पुरुषों से सर्वथा भिन्न मनुष्य मानते हैं तथा पुरुषों से स्त्रियों के विलगाव (datschment) में 'स्त्री -मुक्ति' के रास्ते ढूंढते हैं । ये विचारक समाज के पितृसत्तात्मक समाज को स्त्रियों की हीन दशा का मुख्य कारण मानते है । इनके अनुसार शताब्दियों से लगातार प्रभावशाली रहे पितृसत्तात्मक समाजों ने ऐसे सामाजिक, मानसिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक उपकरण निर्मित कर लिये हैं कि बिना किसी दृश्य बल प्रयोग, हिंसा या जबरदस्ती के स्त्रियों को मनचाही रूढ -संरचनाओं एवं भूमिकाओं में ढालकर उसे अध्यारोपित त्यागशीलता एवं अनचाही हीनता के विघटनकारी भावों से जीवन भर बाहर नहीं आने दिया जाता ।

अतिवादी नारीवाद यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि विधि (iaw), परम्परा, संस्कृति, भाषा मूल्य मान्यताएँ, धर्म, ईश्वर, इतिहास, राजनैतिक एवं आर्थिक तंत्र, यहाँ तक कि काम (sex) आधारित जीवन, इन सबके विभिन्न संस्करणों पर पुरुषवादी परिप्रेक्ष्य की छाप है तथा इनका सृजन पुरुषवादी वर्चस्व को बनाए रखने एवं पुरूष हितों को साधने के उद्देश्य से किया गया है ।

जर्मेन ग्रीर की अपनी वैचारिकी के केन्द्र में काम -वासना आधारित प्रक्रियाएँ एवं तथ्य हैं। उन्होंने अपनी रचना 'दी फिमेल इयूंख 1960' के द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि पितृसत्तात्मक समाजों में विभिन्न आधारों यथा स्त्री की शारीरिक एवं भावनात्मक कोमलता पुरुषों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (वेश्यावृत्ति इत्यादि के संदर्भ में) तथा यौन -

मनोरंजन की वस्तु के रूप में (नारी विज्ञापनों अश्लील साहित्य इत्यादि के रूप मे) सौंदर्य प्रतियोगिताओं तथा उन्मुक्त एवं फंतासी आधारित यौन व्यवहारों के रूप में प्रयोग के द्वारा उसे एक प्रकार का यौन -दास (sexual slave) बना दिया जाता है । उन्होंने इसे स्त्रियों की हीन - दशा का एक प्रमुख कारण बताते हुए स्त्रियों की 'यौन -मुक्ति' की वकालत की । तथा साथ ही, इस संदर्भ में उन्होनें स्त्री -आंदोलनों के संचालन एवं स्त्रियों की यौन आवश्यकताओं सहित विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सिर्फ महिलाओं द्वारा निर्मित एवं संचालित समुदायों के प्रसार की आवश्यकता पर बल दिया ।

शुलामेथ फायरस्टोन अपनी चर्चित पुस्तक 'दी डायलेक्टिक ऑफ सेक्स, 1970 में उपरोक्त विचारों से कहीं आगे जाकर यह स्पष्ट करने के प्रयास करते हैं कि, स्त्री -असमानता एवं हीनता की जड़ें सामाजिक पितृसत्तात्मक तथा आर्थिक राजनीतिक -राजनीतिक शक्तियों के पुरुषों के हाथों में केन्द्रित होनो न होकर लिंग -वर्ग (Sex -class) पर आधारित भेदों एवं इन्ही पर आधारित शिशु -पालन एवं समाजीकरण है । यह एक जीवशास्त्रीय परिघटना है जो प्रजनन में महिलाओं की भूमिका तथा पुरूष -निर्भरता जैसे कारकों के साथ पुरुषों द्वारा स्त्रियों के शोषण की प्रक्रिया को उत्पेरित करती है । उनके अनुसार, इस जीवशास्त्रीय भेद आधारित लैंगिक दमन से मुक्ति का एक मात्र उपाय विज्ञान की सहायता से कृत्रिम प्रजनन तथा शिशु - पालन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का स्त्रीकरण है जिसमें मूल्यों, मान्यताओं, परम्पराओं, व्यवहार - प्रतिमानों तथा आदर्शो इत्यादि का नवीन स्त्रीपरक निर्माण हो सके ताकि आगामी पीढ़ियाँ पुरुषवादी मानसिकता के इतर एक स्वस्थ एवं समाजवादी दृष्टिकोण विकसित कर परम्परागत एवं पीढ़ीगत शोषणपरक पुरुषवर्चस्ववादी समाज को वांछित स्वरूप दे सके ।

अतिवादी नारीवाद की आधारभूत मान्यताएँ (Basic Assumption of Radical Feminism)

नारीवाद तथा इसके संदर्भ में अतिवादी नारीवाद का विश्लेषण करने पर हमें उन आधारभूत मान्यताओं का पता चलता है जिनके सहारे अतिवादी नारीवारद आगे बढता है, अपने एजेंडा की रूपरेखा तय करता है तथा अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु समाज, विशेषकर स्त्रियों को, तार्किक रूप से संतुष्ट करने के प्रयास करता है । इन मान्यताओं में से कुछ प्रमुख मान्यताएँ अधोलिखित है:

1. समाज का परम्परागत पितृसत्तात्मक स्वरूप स्त्रियों की हीन एवं परतन्त्र स्थिति का मुख्य कारण रहा है ।
2. पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था स्त्रियों के श्रम के बल पर पुरुष वर्चस्व वाली आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं का निर्माण तथा पोषण करती है । ये व्यवस्थायें स्त्रियों को उपकरण के रूप में प्रयोग तो करतीं हैं परन्तु इनके महत्त्वपूर्ण योगदानों को नकारती हैं ।
3. मानव संस्कृति का अधिकांश भाग पुरुषवादी दष्टिकोण से स्त्री हितों के मूल्य पर पुरुष स्वार्थपरकता की संतुष्टि हेतु सृजित किया गया है ।
4. उदारवादी या मध्यमार्गी नारीवाद भी पुरुष -केन्द्रित राजनीति का एक छद्म खेल है जो नारीवाद की धार को कुन्द करता है ।

5. स्त्री मुक्त तभी सम्भव है जब स्त्रियाँ शिशुओं के पालन -पोषण से लेकर आजीविका तथा यौन -सुखों तक के संदर्भ में स्वयं को पुरुषों से विभाजित कर एक स्वतंत्र जैविक इकाई के रूप में सामाजिक जीवन जीना प्रारम्भ करें । इस संदर्भ में यौन -सुखों की प्राप्ति हेतु समलिंगी सहवास एक उपयुक्त एवं उत्तम उपाय कहा गया है ।
6. विशिष्ट संस्थाएँ यथा राज्य, परिवार, विवाह इत्यादि स्त्री -दमन एवं शोषण के बहुप्रयुक्त अभिकरण हैं । इनकी समाप्ति या इनका स्त्री वाद रूपान्तरण नारी -मुक्ति हेतु अनिवार्य है ।

अतिवादी नारीवाद की आलोचना:

मानव समाज का इतिहास देश -काल -परिस्थिति के संदर्भ में सदैव समरूप नहीं रहा है। किसी समाज में अतीत का कोई काल -खण्ड कभी 'स्वर्ण -युग' तो वर्तमान को एक नकारात्मक एवं काले अध्याय' की भाँति वर्णित किया जाता है । इसके मूल में व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का असमरूप स्वरूप एवं गति रही है । नारीवाद का अतिवादी उपागम इस अर्थ में नकारात्मक प्रतीत होता है कि वह समाज में स्त्री -पुरूष के संदर्भ में विद्यमान सकारात्मकता एवं पारस्परिकता को सिरे से नकारते हुए इस पूर्व स्थापित मान्यता पर आगे बढता है कि पुरूष स्त्री का दुश्मन हे तथा इसका अपवाद नहीं है । यह एक एकांगी दृष्टिकोण होने के साथ -साथ स्त्री -पुरुष की नैसर्गिक पारस्परिकता एवं संपूरकता जैसे तथ्यों की भी जान -बूझ कर अवहेलना करता है तथा सकारात्मक परिवर्तनों के समन्वय आधारित उपायों के मार्ग को अवरूद्ध कर देता है ।

हालाँकि अतिवादी नारीवाद के प्रवक्ताओं की मान्यताएँ एवं परम्परागत सामाजिक व्यवस्था पर लगाये गये उनके आरोप तथ्यात्मक दृष्टि से सही भी प्रतीत होते हैं परन्तु हमें व्यापक रूप से समाज के बारे में विचार -विमर्श करने के क्रम में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भावनात्मक एवं संवेगात्मक आधारों की अनदेखी कर या उन्हे नकार कर संतुलित समाज एवं जीवन की नींव नहीं रखी जा सकती । अतिवादी नारीवाद की मान्यताओं एव परम्परागत सामाजिक व्यवस्था पर लगाये गये आरोपों की पुष्टि करते हुए 1960 के अपने प्रतिवेदन में संयुक्त राष्ट्र संघ वर्णित करता है कि "विश्व जनसंख्या का प्राय: आधा भाग महिलाओं का है । वो सम्पूर्ण श्रम -समय के दो -तिहाई भाग का कार्य करती है परन्तु विश्व आय का 10 वॉ भाग प्राप्त करती है तथा उनके पास विश्व की सम्पत्ति के सौं वे भाग से भी कम है ।" इस बिन्दु पर पुरुषवादियों एवं नारीवादियों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता क्योंकि प्रतिशोध के रूप में नारीवादी उसी त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया का विपरीत संस्करण अपनाना चाहते हैं जो अतीत से उनके साथ चलती आ रही है । व्यक्तिगत, सामूहिक या सामाजिक जीवन वस्तुत: समन्वयकारी एवं अनुकूलनकारी होना चाहिये ताकि न सिर्फ अपनी अपितु अन्यों की त्रुटियों से सीख लेकर एक बेहतर विश्व बनाया जा सके ।

18.05 नारीवाद के विभिन्न चरण

नारीवाद के संदर्श में वर्णित नारीवाद के उपरोक्त प्रकारों का विकास एक साथ और अचानक न होकर परिस्थितिजन्य क्रमबद्धता के अनुसार हुआ है । इसकी जड़ें अठारहवीं शताब्दी

में यूरोप द्वारा शेष विश्व के समक्ष प्रस्तुत आधुनिक परियोजना (Modern Project) में भी गहरी पैठी हुई हैं । इसके द्वारा यूरोप नें यूरोपीय राष्ट्रों के बीच विद्यमान वैमनस्यता प्रतिद्वन्द्विता एवं शत्रुता को समाप्त करने का घोषित कार्यक्रम निर्मित करने के साथ -साथ शेष -विश्व को सभ्यता एवं संस्कृति के स्तर पर परिष्कृत एवं परिमार्जित करने की उदघोषणाऐ भी की थीं । हालाँकि इन विचारो योजनाओं एवं कार्यक्रमो के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को लागू करने तथा इसे तार्किक सिद्ध करने के क्रम में हुए दुरूपयोग ने शेष -विश्व के संदर्भ में कालान्तर में इसे अप्रासंगिक एवं अनैतिक सिद्ध कर दिया ।

साथ ही, यूरोपीय पुनर्जागरण ने हालाँकि वर्ग (class) एवं प्रजाति (race) जैसे मुद्दों के सांचे में परिवर्तन की प्रक्रिया को ढाल कर विश्व के समक्ष सकारात्मक परिवर्तनों की आवश्यकता पर बल दिया परन्तु आश्चर्यजनक रूप से उसने स्वंय को 'लिंग (gender), जैसे अतिमहत्वपूर्ण एवं सांख्यिकीय रूप से सशक्त मुद्दे से दूर ही रखा । यह वो समय था जब सामाजिक विज्ञानो ने भी समाज के विकास के लिये प्रत्यक्षवाद च्चेपजपअपेउद्ध को एक अपरिहार्य उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया था । परन्तु विडम्बना के रूप में इन तमाम दावों की अनदेखी कर अधिकांश राष्ट्रों ने 1914 से 1942 की संक्षिप्त अवधि में दो -दो महायुद्धों के दंश सहे और पुनर्जागरण की तमाम मान्यताओं के ऊपर प्रश्न चिन्हों को लगते देखा । इस परिप्रक्ष्य में यदि नारीवाद के विभिन्न चरणों की बात की जाए तो हमें इसके तीन प्रमुख चरण दिखते हैं जिन्हें आगामी अनुच्छेदों के माध्यम से विश्लेषित किया गया है:

1. नारीवाद का प्रथम चरण (First Wave Feminism)

प्रथम विश्व -युद्ध का सर्वाधिक दुष्परिणाम युद्ध के पश्चात बच गई स्त्रियों पर पड़ा क्योंकि अपंग पुत्रों पतियों, रिश्तेदारों इत्यादि को 'अनावश्यक एवं अकारण' खो देने के पश्चात विनाशकारी प्रवृत्तियों के साथ अचानक प्रकट हो गए एकाकीपन एवं लैंगिक असमानता ने उन्हें कहीं का नहीं रखा था । युद्ध के पश्चात निर्मित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने उन्हें अपने लैंगिक अस्तित्व एवं भविष्य के परिप्रेक्ष्य में अपनी परिस्थितियों एवं भूमिकाओं के बारे में विचार करने तथा तदनुसार व्यवहार करने को प्रेरित किया । इस संदर्भ में उन्होंने बल देकर यह प्रतिवाद प्रस्तुत किया कि "पितृसत्तात्मकता एवं सेना का सम्बन्ध आप (पुरुष) निर्मित करते हैं, युद्ध एवं विनाशकारी प्रवृत्तियों के संबन्ध में निर्णय भी आप ही लेते हैं, तो फिर सिर्फ नकारात्मक एवं त्रासद परिणामों के सहने में हम सहभागी क्यों बनें, वो भी एकाकीपन की सीमा तक' '!

युद्ध के पश्चात का दौर वैश्विक आर्थिक मंदी (Great Depretion) का भी दौर था जिसने आर्थिक स्तर पर भी स्त्रियों के अस्तित्व, उनके अधिकारों तथा क्षमताओं को पुनर्परिभाषित किया एवं एक सीमा तक उनको स्वीकार भी किया । ग्रेट ब्रिटेन में इसी दौर में सर्वप्रथम स्त्रियों को राजनैतिक मताधिकार प्रदान किया गया । वस्तुत: यह नारीवाद के प्रथम चरण की एक सहज परन्तु महत्वपूर्ण उपलव्यि थी जिसमें स्त्री -स्वीकार्यता की पहल के माध्यम से सकारात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी ।

2. नारीवाद का द्वितीय चरण (Second Wave Faminism)

नारीवाद के प्रथम चरण के प्रारम्भ के पश्चात्, विशेषकर द्वितीय विश्व -युद्ध के कुछ वर्षो बाद तक, प्राय: सम्पूर्ण यूरोप एवं अमेरिका महाविध्वंस के बाद पुनर्निर्माण की समस्याओं में उलझ गया था । यह वो दौर था जिसकी पृष्टभूमि में लाखों युवा पुरुषों (सैनिकों तथा नागरिकों के रूप में) की हत्याओं ने लिंग एवं आय के संदर्भ में एक विषमतामूलक समाज बना दिया था । इसमें जर्मन नात्सियों द्वारा यहूदियों के नर -सहारों की यादें सम्पूर्ण मानवता को रह रह कर झकझोर रही थीं । इन नवनिर्मित हो रही परिस्थितियों में एक नवीन सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना ने जन्म ले लिया था । इसमे प्रकार्यवादी मान्यताएँ क्रमश: बिखरने लगी थीं तथा अस्तित्ववाद फिर से अपनी जड़ें जमाने लगा था । अति असंतोष पर आधारित आंदोलन उभरने लगे थे तथा प्रजातीय मुद्दों ने नारीवाद को नेपथ्य में भेज दिया था ।

साठ के दशक के आते -आते, जब यूरोप एवं अमेरिका का बौद्धिक जगत अपेक्षाकृत कुछ स्थिरता प्राप्त कर चुका था, नव -निर्माण एवं पुन -निर्माण की प्रक्रियाएँ परिभाषित एवं स्थापित हो चुकी थी, नारीवाद पुन: उभरना प्रारम्भ हुआ लेकिन परिवर्तित परिस्थितियों में स्त्रियों को मिली सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वीकार्यता तथा उनके द्वारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अपनाई गई प्रगतिशीलता ने नारीवाद को वो संस्करण निर्मित किया जिसकी मान्यता थी कि परम्परागत सामाजिक संस्थाएँ 'स्त्री -विरोधी' एवं 'स्त्री -दमनकारी' हैं तथा इनको सिरे से नकार देने में ही स्त्री उत्थान का मर्म छिपा हुआ है । इसे अतिवादी नारीवाद (पूर्व वर्णित) की संज्ञा दी जाती है जिसने पुरूष अस्तित्व की महत्ता को नकार कर महिला कम्यूनों, बिना विवाह के पुरुषों के -साथ रहने तथा स्वच्छन्दतापूर्वक सहवास करने (living in relation), अंत:वस्त्रों का परित्याग करने तथा समलिगी सम्बन्धों के माध्यम से यौन -सुख प्राप्त करने जैसे उपायों से स्त्रियों को आत्मनिर्भर एवं सन्तुष्ट बनने की राय दी ।

सिमेन -दी -बोउआर को नारीवाद के द्वितीय चरण की अग्रणी नेत्री के रूप में जाना जाता है । अतिवादी नारीवाद की उत्पत्ति के कुछ वर्षो तक इसकी काफी चर्चाएँ रही तथा इसे प्रभाव में कुछ अपरम्परागत तथा सर्वथा नवीन स्त्रीवादी प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों का उदय हुआ । परन्तु शीघ्र ही इसके अप्रासंगिक, कटुता आधारित होने तथा श्वेत, मध्य एवं एवं उच्च -मध्य वर्ग की महिलाओं तक केन्द्रित रहने के कारण इसका प्रभाव क्रमश: कम होता गया और इसके स्थान पर समन्वय एवं सहयोग के दृष्टिकोण पर आधारित नारीवाद के तृतीय चरण का उभार हुआ ।

हालाँकि इसके पीछे द्वितीय चरण में नारीवाद की विसंगतियों एवं फंतासी आधारित अव्यवहारिक, अस्पष्ट तथा अस्थायी मान्यताओं एवं गतिविधियों की भूमिका प्रभावी रही तथापि यह भी सत्य है कि इसने प्रथम चरण के नारीवाद की लुंज -पुंज स्थिति, अस्पष्ट मान्यताओं एवं अपरिभाषित लक्ष्यों के स्थान पर स्त्री की मौलिक आवश्यकताओं, पुरुष -वर्चस्व से मुक्ति तथा स्त्री -मन की वास्तविक झलक प्रस्तुत करने के संदर्भ में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा नारीवाद के तृतीय चरण के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि निर्मित की ।

3. नारीवाद का तृतीय चरण (Third Wave Feminism)

नारीवाद के द्वितीय चरण के अतिवादी संस्करण की विसंगतियाँ बीसवीं शताब्दी के अस्सी के दशक में क्रमश: स्पष्ट एवं आलोचित होने लगी थीं । इसकी अतिवादी मान्यताओं एव इनके प्रभाव में विघटित हो रहे परिवारों, विवाह -विच्छेदों तथा स्त्री -पुरूष के बीच निरन्तर पनपते जा रहे अविश्वास के वातावरण ने तार्किक स्तर पर इसके एक समन्वयकारी स्वरूप की वकालत प्रारम्भ की ।

नारीवाद नें अस्सी के दशक के अंत में तब और भी अधिक बल प्राप्त कर लिया जब एक झटके से मार्क्सवाद का मिथक बिखर गया । तब तक यह मान्यता, जिसे नारीवाद के द्वितीय चरण की एक महत्वपूर्ण स्थापना के रूप में देखा जाता है, कि "बिना विवाह के स्त्री -पुरूष सहवास संबन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक साथ रह सकते है" भी क्रमश: इस आधार पर अस्वीकृत एवं अमान्य की जाने लगी थी क्योंकि ऐसे सम्बन्ध मिथकीय है तथा वास्तविकता से इनका कुछ भी लेना -देना नहीं है। ऐसी मान्यताओ से परे हटकर, एक नवीन परिवेश में, जब सामाजिक एवं आर्थिक विकास की उपलब्धियाँ निरन्तर हासिल की जा रही थीं तथा सम्पूर्ण व्यवस्था में नारीवाद एवं अन्य स्त्री -प्रोत्साहक प्रक्रियाओं, वैचारिकियों एवं आन्दोलनों के प्रभाव में स्त्रियों की सामाजिक दशा अपेक्षाकृत सुधरने लगी थी तथा अतिवादी नारीवाद के प्रभाव में बिखरी सामाजिक संस्थाओं यथा विवाह, परिवार इत्यादि के विघटन के दुष्परिणाम स्पष्ट परिलक्षित होने लगे थे, नारीवाद का एक नवीन संस्करण उभरा ।

इसमें नारीवाद को पूर्व की भाँति एक विशुद्ध 'वाद' या आन्दोलन के रूप में नहीं देखकर स्त्रियों की स्थिति में क्रमिक एवं गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन लाने वाली एक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि स्त्री -पुरुष परस्पर विपरीत नहीं है बल्कि एक -दूसरे के 'पूरक' हैं, समाज रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं और दोनो का विकास एक दूसरे की पारस्परिकता में ही निहित है । नारीवाद का तृतीय चरण नारीवाद के संदर्भ में एक समन्वयवादी चरण है जिसमें अतिरजनाओ विसंगतियों एवं व्यावहारिक व्यतिक्रमों को किनारे कर पारस्परिक स्वीकार्यता, सहयोग, प्रोत्साहन एवं भूमिकाओं की साझेदारी के आधार पर एक बेहतर समाज बनाने की व्यावहारिक कल्पना की गई है ।

यह चरण पूर्व के दो चरणों की अपेक्षा कहीं अधिक सुव्यवस्थित, शांत, प्रभावी एवं उपलब्धियों भरा रहा है । हालाँकि स्त्रियों के प्रति अत्याचार, शोषण, कन्या -भ्रूण हत्या वेश्यावृत्ति इत्यादि जैसी नकारात्मक प्रक्रियाओं एवं घटनाओं इत्यादि के आलोक में इसमें अभी भी बीच -बीच में स्त्री -असंतोष एवं अतिवाद के मुद्दे उभरते रहे हैं, तथापि इस चरण की विशेषता यह रही है कि इसमें निरन्तर ऐसी प्रकृतियों, प्रक्रियाओं एवं घटनाओं को तार्किक रूप से समाप्त करने की दिशा में पहल भी किया जाता रहा है ।

नारीवाद के पूर्व वर्णित संस्करणों एवं चरणों के विश्लेषण क्रम में प्रसिद्ध समाजशास्त्री एन्टोनी गिडेन्स कहते हैं कि "पिछले कुछ दशकों में स्त्रियों को जो स्वतन्त्रता मिली है उसे वो छोड़ना नहीं चाहेंगी परन्तु इनका तात्पर्य यह नहीं है कि वो प्रत्येक स्तर पर अतिवादी होकर एकाकी एवं असमन्वयकारी प्रवृत्तियों का ही साथ दें" । नारीवाद के विश्लेषण के संदर्भ में यह एक अत्यन्त ही सटीक एवं संतुलित उक्ति प्रतीत होती है । सम्पूर्ण नारीवाद के बीज स्त्री -पुरुष

की एक दूसरे के प्रति पारस्परिक समझ, श्रम -विभाजन के स्थान पर श्रम के साझाकरण जैसी कोमल प्रवृत्तियों एवं सहज प्रक्रियाओं में निहित हैं क्योंकि जिन रास्तों पर, जिस गति के साथ अतिवादी नारीवाद चलने की बातें करता रहा है उनमें 'वापसी के विकल्प' नहीं हैं ।

18.06 सारांश

हालाँकि इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि नारीवाद ने स्त्री -दशा एवं अधिकारों के संदर्भ में परम्पराओं के नक्कारेखाने में बिगुल बजाने, लोगों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने तथा आवश्यक सुधारो की दिशा में प्रेरणा दायक योगदान दिया है तथापि इसके विभिन्न रूपों तथा उपागमों को लेकर इसे एक विवादास्पद 'वाद' एवं 'वैचारिकी' भी माना जा रहा है जो भ्रान्त तर्को अन्तर्विरोधों एवं असतुलित मान्यताओं से भरा पड़ा है ।

अग्रलिखित बिन्दु इसकी कतिपय आलोचनाओं को चिन्हित करने के प्रयास करते हैं.

1. नारीवाद परिवार, विवाह, नातेदारी इत्यादि जैसी मौलिक एवं अनिवार्य सामाजिक संस्थाओं को नकारता तो है परन्तु इनका कोई ठोस, उपयोगी एवं सर्वमान्य विकल्प प्रस्तुत नहीं करता है । ले -देकर, एक बार प्रभावित हो जाने के कुछ समय पश्चात नारीवादी स्वंय को एक विकल्पहीन, एकाकी और अनजान जगत में पाते हैं जहाँ उनके परम्परागत संदर्भ खो चुके होते हैं और नयों का स्वरूप अनिश्चित एवं बहुधा अस्थायी होता है ।
2. नारीवाद वस्तुतः नगरीय समाजों पर आधारित एवं केन्द्रित रहा है और उसमें भी मध्यम या उच्च मध्यम वर्ग की भी महिलाओं पर । इसका ग्रामीण परिवेश, संस्कृति एवं बहुसंख्यक ग्रामीण महिलाओं से प्रायः कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है ।
3. नगरीय संस्कृति एवं परिवेश तक सीमित रहने के साथ -साथ नारीवाद स्त्रियों की प्रजाति के संदर्भ में भी विभाजित दिखता है क्योंकि अश्वेत महिलाएँ यदा -कदा ही इसकी विषय -वस्तु बन पाई है ।
4. नारीवाद का अतिवादी संस्करण तमकपबंस अमतेपवदद्ध वस्तुतः सामाजिक विभाजन एवं वैयक्तिक विघटन की प्रकियाओं को प्रोत्साहित करता है । स्वतंत्रता, उन्मुक्ता एवं स्वच्छन्द में अन्तर होता है और यह स्त्रियों को स्वतंत्रता की अनुभूति प्रदान करने के स्थान पर उनमें उन्मुक्ता एवं स्वच्छंदता के भाव भरता है जो सामाजिक संस्थाओं को विघटन की ओर ले जाता है।

हालांकि, यह संतोष का विषय है कि भारत में अत्यंत ही समृद्ध एवं प्राचीनता से सुसज्जित सांस्कृतिक एवं सामाजिक विरासतों के परिप्रेक्ष्य में नारीवाद किसी आंदोलन की तरह न होगा सामाजिक सुधार के एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी उपकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इससे यहा का समाज स्त्रियाँ अतिवादी नारीवाद की विसंगतियों एवं वर्जनाओं से प्रायः सुरक्षित; एकाध अपवादो को छोड़कर रह सकी है । यह एक महत्वपूर्ण प्रकियात्मक उपलाभड़ी है जिसकी प्रशंसा करते हुए समाजशास्त्री आन्द्रे बेत्ते कहते हैं कि "स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में महिला शिक्षा के संदर्भ में क्रान्ति हुई है और यही उनकी दशा में सुधार की कुन्ती रही है ।"

18.07 बोध प्रश्न

1. नारीवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए । इसके प्रमुख प्रकार्यो का वर्णन कीजिए ।
2. नारीवाद सिद्धान्त की ऐतिहासिक संन्दर्भ में विवेचना कीजिए ।
3. नारीवाद सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

18.08 संदर्भ ग्रंथ

1. शीएला रोबॉथम: वुमेन, रेजिस्टेन्स एण्ड रिवॉल्युशन ए हिस्ट्री ऑफ वुमेन इन दी मॉडर्न वर्ल्ड, विन्टेज, न्यूयार्क, 1974
2. सीमन दी बोउआर: दी सेकण्ड सेक्स, हॉरमण्डस्वर्थ, पेंगुइन, 1949
3. एस0 फायर स्टोन: दी डायलेक्टिक ऑफ सेक्स, बैन्टम, न्यूयार्क, 1980
4. एन्टॉनी गिडेन्स: बियॉण्ड लेट एण्ड राइट, पॉलिटी प्रेस, कैम्बिज, 1996
5. मेरिया मीस ;संपा0द्ध: वुमेन, दी लास्ट कॉलोनी, लंदन, 1988

इकाई - 19

संस्कृतिवादी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.01 प्रस्तावना

19.02 ज्या बोड्रिलार्ड : आधुनिक समाज में उग्र टूटन

19.03 मिशेल फूको : शक्ति और जान का विमर्श

19.04 जॉक दरिदा : विखण्डन का सिद्धान्त

19.05 थियोडोर एर्डोनो

19.06 हेबरमॉस

19.07 मार्शल मेक्लूहानं : विश्व गाँव

19.08 सारांश

19.09 बोध प्रश्न

19.10 संदर्भ ग्रन्थ

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ से आप जान सकेंगे

- आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाज की स्थिति क्या है?
- बौड्रीलार्ड ने समाज की उग्र दूटन और उसकी मीमांसा की है जिससे संस्कृतिवाद को समझा जासकता है ।
- दरिदा ने विखण्डता का विवेचन भाषा, संकेत सिमयूलेशन और अति यर्थाथता के आधार पर संस्कृतिवाद को समझाने का प्रयत्न किया है ।
- एडोर्नो ने ज्ञानोदय के द्वंद के सिद्धान्त के आधार पर संस्कृतिवाद को समझाया है ।
- हेबरमॉस ने सस्कृतिवाद को संचार के आधार पर समझाने का प्रत्यन्त किया है ।
- मार्शल मेक्लूहानं ने विश्व की चर्चा गांव के आधार पर की है । इस आधार पर सामाजिक, सास्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक वैश्वीकरण को समझ पायेगे ।

19.01 प्रस्तावना

संस्कृतिवाद के संदर्भ में सिद्धान्तकारो ने जो सैद्धान्तिक अवधारणायें प्रस्तुत की हैं उनका आकर्षण मानव का उद्धार है । सभ्यता के विकास में संस्कृति के सार्वभौमिक मूल्यों का पण्यीकरण (Commodification) और विवेकीकरण (Retionalization) होता जा रहा हैं । सिद्धान्तकारों को मानना है कि ज्ञान की मीमासा इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह मानव समाज को सत्यम् शिवम और सुन्दरम की पराकाष्ठा की ओर ले जाये । मार्क्स ने सामाजिक सम्बन्धों को भौतिक वस्तुओं के साथ जोड़ा दिया सामाजिक सम्बन्ध तो मानों वस्तुएँ हैं, जिसमें हेर फेर किया जा सकता है, खरीदा जा सकता है और बेचा जा सकता है । मार्क्स ने

द्वंद का कारण विचार न मानकर भौतिकता माना है जो हीगल की विचारधारा के विपरित है । जिसे संस्कृतिवादी विचारक भी नहीं मानते । हीगल की तरह ये इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि समाज का आधार पदार्थ न होकर विचार है। आधुनिक समाज में संस्कृति एक वस्तु (commodity) है जिसका उत्पादन होता है विस्तार होता है । उनका सूत्र तो कुछ इस तरह है संस्कृति पण्य वस्तु है और पण्य वस्तु संस्कृति है । प्रस्तुत अध्ययन मे बोड्रिलार्ड, मिशेल, फूको दरिदा एडोर्नो हेबरमांस और मेक्लूहान की सैद्धान्तिक विचारधारा पर विचार विमर्श करेंगे ।

19.02 ज्यों बोड्रिलार्ड : आधुनिक समाज में उग्र टूटना

ज्या बोड्रिलार्ड (Jean Baudrillard,1929)

बोड्रिलार्ड फ्रांसीसी सिद्धान्तकार हैं, इनकी प्रमुख रूचि माँस मीडिया में रही है । उत्तर -आधुनिक समाज में इन्हें इनकी चार प्रमुख उपलब्धियों के कारण याद किया जाता है । बोड्रिलार्ड की इन उपलब्धियों को इस भाँति रखेंगे :

1. उत्तर -आधुनिक समाज एक माँस मीडिया समाज (Mass Media Society) है । संचार इसे बांधे रखता है ।
2. यह एक उपभोक्ता समाज (Consumer Societyt) है ।
3. इस समाज की संस्कृति पर सिम्युलेशन्स अर्थात् प्रतिकृति का प्रभुत्व होता है ।
4. बोड्रिलार्ड ने उत्तर -आधुनिक समाज का सिद्धान्त बनाया है ।

बोब्रिलार्ड की सैद्धान्तिक विचारधारा पर प्रभाव: मार्क्स का प्रभाव:

बोड्रिलार्ड के कृतित्व पर कई समाजशास्त्रियों और दर्शनशस्त्रियों का प्रभाव पड़ा है । अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में वे मार्क्स से अत्यधिक प्रभावित थे । मुख्य रूप से मार्क्स के अर्थशास्त्र में उनकी अत्यधिक रूचि थी । मार्क्स जीवन पर्यन्त उत्पादन सम्बन्धों की चर्चा करते रहे । इन उत्पादन सम्बन्धों से प्रेरित होकर बोड्रिलार्ड ने मार्क्स में सुधार किया । मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धों पर अपने आपको इतना अधिक केन्द्रित कर दिया कि उन्होनें उपभोग की कोई चर्चा ही नहीं की । उपभोक्तावाद इस तरह उनकी पकड़ से छूट गया अपने उत्तर -आधुनितावादी सिद्धान्त में बोड्रिलार्ड ने उपभोक्तावाद की चर्चा की और यही इनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रहा हैं।

बोड्रिलार्ड ने मार्क्स की आर्थिक -भौतिक स्थितियों को अपने सिद्धान्त का आधार बनाकर संस्कृति का विश्लेषण किया और संस्कृति के अन्य पक्ष जैसे मूल्य, भाषा प्रतीक आदि को छोड़ दिया था।

सोसोरे का प्रभाव.

बोड्रिलार्ड के जीवन पर संरचनावादियों का प्रभाव था । संरचनावादियों में भी भाषाविद् वैज्ञानिकों का प्रभाव बहुत ज्यादा था । इन भाषाविदों में फर्डिनेन्ड सोसोरे (Ferdiand Saussure) प्रमुख है। इन्हीं से प्रभावित होकर बोड्रिलार्ड ने स्थापित किया कि भाषा व्यक्तिगत धरोहर नहीं बल्कि सामूहिक होती है । इसी भाषाई संरचनावाद के आधार पर बोड्रिलार्ड ने अपने संकेतो (Signs) और सिम्यूलेशन्स (Simulations) या प्रतिकृति के सिद्धान्त को रखा है ।

सोसोरे से ही प्रभावित होकर बोड्रिलार्ड ने बाद में चलकर -प्रातीका, विनिमय (Symbolic Exchange) की अवधारणा को प्रस्तुत किया ।

दुर्खीम का प्रभाव:

मार्क्स और सोसोरे के अतिरिक्त बोड्रिलार्ड पर दुर्खीम का प्रभाव भी देखने को मिलता है।दुर्खिम ने आदिवासियों को उपहार (Gift) के विनिमय की जो परम्परा, है, जिसका अर्थ वस्तुओं को लेना ओर लौटाना वस्तुओं को देना ओर प्राप्त करना होता है । को समझना है । दुर्खीम की इस अवधारणा का प्रयोग बोड्रिलार्ड ने प्रतीकों के रूप मे रखा है । यदि दुर्खिम का विनिमय आर्थिक विनिमय है तो बोड्रिलार्ड का प्रतीकात्मक ।

बोड्रिलार्ड का कृतित्व (Works of Baudrillard)

यहाँ हम उनकी अंग्रेजी में अनुदित पुस्तकों का ब्यौरा देंगे ।

(1) सिलेक्टेड राइटिंग्स (सम्पादित) (Selected Writing)

(2) दी मिरर ऑफ प्रोडमान (The Mirror of Production,1975)

(3) सिस्यूलेशन्स (Simulations,1973)

(4) दी इस्टेसी ऑफ कम्युनिकेशन्स (The Ecstasy of Communications,1985)

(5) दी मासेज दी इम्प्लोजन ऑफ दी सोश्यल इन दी मीडिया (The Masses: The Implosion of the Social in the Media)

उत्तर -आधुनिकता:

सभी उतर -आधुनिकतावादी विचारक किसी न किसी रूप में ज्ञानशास्त्र (Phenomenology) की चर्चा आवश्यक करते है और समाज की यर्थाथता जानने की कोशिश करते है । सामान्यता ज्ञान की यह खोज आनुभविकता अर्थात अनुभव और तर्क के माध्यम से की जाती है । यह आनुभाविकता और तार्किकता के आधार पर ही है कि उचित और अनुचित का पता लगाया जाता है । बोड्रिलार्ड उसी ज्ञान का पता लगाना चाहते हैं ।

अपनी पुस्तक सिम्बोलिक एक्सचेंज एण्ड डेथ (Symbolic Exchange and Death,1976) में वे कहते हैं कि आधुनिक समाज मृत्यु शेय्या पर है, इसकी संस्कृति वस्तुत: मृत्यु की संस्कृति है । जो कुछ आज के इस आधुनिक समाज में हो रहा है वह और कुछ न होकर बहुत शीघ्र कफन ओढ़ने की तैयारी मात्र है । इस समाज की टूटन बहुत तीव्र और उग्र है। ऐसी अवस्था में इस समाज का एक मात्र विकल्प उत्तर -आधुनिक समाज है । बोड्रिलार्ड ने उत्तर -आधुनिकता की परिभाषा इस भाति की है उत्तर -आधुनिकता न तो आशावादी है और न ही निराशावादी है । यह तो अतीत के अवशेषों के साथ में खेलना मात्र है । इसी कारण हम इसे उत्तर (Post) कहते है । यहाँ आकार इतिहास थम गया है । इतिहास की प्रगति के स्थान पर यहाँ वस्तुएँ केवल परिचालन करती हैं । हम नहीं कह सकते कि आगे कोई तरक्की हो रही है ।

बोड्रिलार्ड ने समकालीन समाज का विश्लेषण किया है । इस समाज पर अब उत्पादन विधियों और उत्पादन सम्बन्धों का प्रभुत्व नहीं रहा । अब इस पर प्रभुत्व है साइबरनेटिक मॉडेलस (Cybernetic Models) स्टीरिग व्यवस्थाओं (Steering Systems), कम्प्युटर, सूचना प्रक्रियाओं मनोरंजन और ज्ञान से जुड़े उद्योगों का । पहले के समाज का उद्देश्य लोगों

का शोषण करना ओर मुनाफाखोरी करना था । अब इस उद्देश्य में बदलाव आ गया है । उत्तर -आधुनिक समाज पर संकेत (Signs) का प्रभुत्व है । पहिले संकेत की ओर इशारा करते हैं । ऐसी स्थिति में संकेत ओर वास्तविकता इस तरह मिल -जुल जाते हैं । कि यह पृथक करना कठिन हो जाता है कि कौन सी वस्तु वास्तविक या यथार्थ है और कौन सी वस्तु संकेत है । एक उदाहरण से संकेत और यथार्थ का मिला जुला स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा -त्वचा फूल जैसी कोमल है और इस कोमलता को बनाने के लिये कई विधियां काम में ली जाती हैं कोई एक प्रकार की क्रीम को काम में लेने की सलाह देता हैं, कोई दूसरे प्रकार की । क्रीम की त्वचा कोमल नामों से यानी संकेतों से यही स्थापित करता है कि इसके प्रयोग से त्वचा कोमल हो जाती है । इन संकेतों का प्रभाव समाज पर इस तरह पड़ता है कि त्वचा की यथार्थ स्थिति खो जाती है । यहां यथार्थ और संकेत दोनों मिल जाते है ।

मार्क्स के विश्लेषण के अनुसार समाज का वर्गीकरण उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर होता है । वर्ग उत्पादन सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होते हैं । अब उत्तर -आधुनिक समाज का वर्गीकरण कुछ दूसरे प्रकार का है । इसका निर्णायक आधार उपभोग है जो जितना अधिक उपभोग करता है, समाज में उतना ही अधिक ऊंचा उसका स्थान है । अब समाज के विशिष्टीकरण या विभेदीकरण (Differentation) का आधार उपभोग हो गया है । उत्तर -आधुनिक समाज के जिन आयामों या पहलुओं पर बोड्रिलार्ड ने अपने विचार रखे हैं, उन्हें हम क्रमबद्ध से निम्न बिन्दुओं में रखेंगे :

(1) मीडिया और जनता सिम्यूलेशन और अति यथार्थता (Media and Masses: Simulations or and Hyper reality)

(2) उपभोक्ता समाज (Consumer Society)

(3) प्रतीकात्मक विनिमय : प्रलोभन (Symbolic Exchange : Seduction)

(4) फैशन (Fashion)

(5) हर्षोन्माद (Ecastasy)

(1) मीडिया और जनता सिम्यूलेशन और अति यथार्थता

आज हम एक नई दुनिया में रह रहे हैं और यह दुनिया विशेष करके पश्चिमी दुनिया है। इस दुनिया को बोड्रिलार्ड सिम्यूलेशन (Simulation) की दुनिया कहते हैं। यहां सभी संचार के हषौन्माद (Ecstasy) में हैं। अब उत्पादन का युग गया। यहां सब वस्तुएं सतही है। पहिले व्यक्तिगत और सार्वजनिक में बड़ा अन्तर था। किसी का भी प्रवेश शयनकक्ष में नहीं था। रसोई घर में दाखिल होना वर्जित था। अब इस व्यक्तिगत जीवन को फिल्म और टीवी. ने सार्वजनिक बना दिया है।

बोड्रिलार्ड मीडिया और जनता के इन सम्बन्धों को दो मुख्य अवधारणाओं के मध्यम से प्रस्तुत करते है:

(1) सिम्यूलेशन और (2) अतियथार्थता

सिम्यूलेशन (Simulation) :

सिम्यूलेशन शब्द का प्रयोग बोड्रिलार्ड ने किया है। कहीं -कहीं वे पयार्यवाची शब्द के रूप में सिम्यूलेक्रा (Simulcra) को भी काम में लाते हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही हैं - प्रतिकृति अर्थात नकल। नकल मूल प्रति की होती है लेकिन उत्तर -आधुनिकता के इस संचार युग में मूल प्रति तो कोई होती ही नहीं है - सभी प्रतिकृतियां है।

बोड्रिलार्ड सिम्यूलशेन की कई श्रेणियां बताते हैं। इसकी पहले श्रेणी में जो आधुनिकता आई उसे वे प्रारम्भिक आधुनिकता (Early modernity) कहते है। इस आधुनिकता की अवधि पुनर्जागरण से लेकर औद्योगिक क्रांति तक की है। पुनर्जागरण की अवस्था से पहिले यह समाज वस्तुत: सामन्ती समाज (Feudal Society) था। इसमें सभी कुछ गैर बराबर था । इस युग मे वर्ग बन्द थे। उनमे गतिशीलता नहीं थी। यह एक भयानक गैर -बराबरी थी जिसने अराजकता को समाज में आने नहीं दिया।

इस प्रारम्भिक आधुनिकता को औद्योगिक क्रांति ने तोड़ा और यह सब दूसरी श्रेणी के सिम्यूलेशन से संभव हुआ। बाद में चलकर तकनीकी क्रांति हुई। इसने तीसरी श्रेणी के सिम्यूलेशन को गतिशील बनाया। यह अवस्था द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आई। यहां पहुँचकर बोड्रिलार्ड के अनुसार उत्तर -आधुनिकता का अविर्भाव होता है। मार्क्स ने आधुनिक समाज की व्याख्या केवल राजनीति अर्थव्यवस्था के रूप में की है। ऐसा करने में पूंजी के अतिरिक्त वे अन्य गैर -आर्थिक कारकों पर कोई बल नहीं देते। विज्ञापन, मीडिया, सूचना और संचार नेटवर्क का भी आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है पर इन सबके प्रति मार्क्स उदासीन है।

बोड्रिलार्ड ने अपनी चौथी श्रेणी के सिम्यूलेशन की व्याख्या ट्रान्सपरेन्सी ऑफ इविल (Transparency of Evil, 1990) पुस्तक में की है वे कहते है, कि आज हमारी संस्कृति एक ऐसी अवस्था में पहुँच गई है जहां वह केन्सर ग्रसित है। इसे कोई निदान नहीं बचा सकता। यहां कोई ऐसी आध्यात्मिक शक्ति नहीं जो इसके अन्त को थाम सके। अन्त ही इसकी नियति है। सिम्यूलेशन की यह चौथी श्रेणी ऐसी है जो अन्तहीन है और अनन्त रूप से व्यापक है। इस चौथी श्रेणी के सिम्यूलेशन को बोड्रिलार्ड ने फ्रेक्टल श्रेणी (Fractal Order) का नाम दिया। संकेतों की दुनिया का यह अंतिम पड़ाव है।

बोड्रिलार्ड ने अपने मीडिया के प्रबन्ध में चार बिन्दु मुख्य रूप से रखे हैं:

(1) संकेत (Sign)

(2) सिम्यूलेशन

(3) अतियथार्थता (Hyper -reality), और

(4) विनाश

अति यथार्थ (Hyper Reality) :

बोड्रिलार्ड का कहना है कि आज उत्तर -आधुनिक समाज में सिम्यूलेशन की व्यापकता इतनी अधिक है कि यहां अपने आप में यथार्थता जैसी कोई बात नहीं है। सभी और संकेत ही संकेत हैं। वे लिखते हैं:

आखिर में, इस समाज में अतियथार्थता ही यथार्थता है दूसरे शब्दों में कहें तो आज ढूंढने पर भी कहीं शब्दों वास्तविकता नहीं मिलती। मीडिया जिस अतियथार्थता को बताता है वह

ऐसी यथार्थता हैं जिसकी तार्किक रूप से कोई आलोचना नहीं ही जा सकती। एक रूचिकर बात यह है कि बोड्रिलार्ड की दृष्टि में मॉस मीडिया किसी भी अर्थ में संचार साधन (Means of Communication) नहीं है। संचार हमेशा दो -तरफा होता है। एक तरफा तो सूचना होती है। संचार के लिये दो या अधिक व्यक्तियों में बातचीत का आदान -प्रदान होता है। अत: इस अर्थ में टीवी सूचना का साधन है, संचार साधन नहीं। टी.वी. और दर्शक के बीच में कोई सीधा फीड बेक नहीं होता। ऐसी अवस्था में टी.वी. बिना किसी रोक -टोक के यथार्थता को अति यथार्थता के रूप में ही प्रस्तुत करता है। इसका मतलब हुआ टी.वी. जो कुछ देता है वह यर्थाथता ही है।

बोड्रिलार्ड के अनुसार तो आज के उत्तर -आधुनिक समाज में सब कुछ अति (Hyper) ही है। इस अति यर्थाथता का निर्माण टी.वी. कार्यक्रम करते हैं। ऐसी स्थिति में जिसे हमें यथार्थता कहते हैं वह वास्तविक रूप से यथार्थता नहीं है। यह तो टी.वी. द्वारा रचित यर्थाथता है।

उपभोक्ता समाज (Consumer Society) :

बॉड्रीलार्ड का मत है कि उत्तर -आधुनिक समाज मीडिया समाज है। उनका यह भी मत है कि यह समाज उपभोक्ता समाज है। मीडिया ही इस समाज को उपभोक्ता बनाता है। यह मीडिया ही है जो माँगों का सृजन या निर्माण करता है और अन्ततोगत्वा इस समाज को उपभोक्ता समाज बना देता है।

वे मार्क्स से आगे बढ़े ओर उन्होंने उत्पादन के दूसरे पहलू उपभोग पर अपने आपको केन्द्रित किया। उन्होनें देखा कि उत्तर -आधुनिक समाज की मुख्य बुनियाद उपभोग ही है और इसलिए इस समाज के स्तरीकरण का आधार उत्पादन विधि न होकर उपभोग होना चाहिए बोड्रिलार्ड आगे कहते हैं और इसलिये इन वस्तुओं का संकेत मूल्य (Sign Value) है। मार्क्स ने वस्तुओं को उनकी उपयोगिता के आधार पर देखा ओर इसलिये वे वस्तुओं के उपयोग मूल्य (Use value) पर जोर देते हैं। मार्क्स तो कहते हैं कि जिस वस्तु की उपयोगिता अधिक है, जो वस्तु अधिक टिकाऊ है, उसका मूल्य अधिक है। बोड्रिलार्ड का संदर्भ दूसरा है। वे कहते हैं कि जिस वस्तु को संकेत और सिम्यूलेशन जितना अधिक ऊंचा बताया है, उसका मूल्य उतना ही अधिक है। यहाँ उत्तर -आधुनिक समाज में संकेत ही मूल्य निर्धारित करते हैं। कुछ इसी तरह की ही बात 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमेरिका के विचारक वेब लिन (Veblin) ने कही थी। उन्होंने कहा कि अमेरिका के समाज में उत्कृष्ट उपभोग (Conspicous Consumption) की परम्परा बढ़ रही है।

बोड्रिलार्ड ने उपभोग समाज की व्याख्या वस्तुत: मार्क्स द्वारा अछूते पहलू को लेकर प्रारंभ की है। स्पष्ट है, बोड्रिलार्ड का झुकाव पूंजी के सांस्कृतिक पक्ष के विश्लेषण में है।

बोड्रिलार्ड परम्परागत मार्क्सवादियों की तरह रूढ़िगत उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर समाज की व्याख्या नहीं करते। उनकी व्याख्या का आधार उपभोग है और उपभोग संस्कृति से जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों मे बोड्रिलार्ड अपने विश्लेषण का आधार उपभोग और सांस्कृतिक दोनों को बताते हैं। बाद में चलकर बोड्रिलार्ड ने उपभोग को अपने विश्लेषण का आधार बना लिया।

प्रतीकात्मक विश्लेषण:

प्रतीकात्मक विश्लेषण आदिम समाजों में देखने को मिलते हैं। आदिम लोग जीवन के मुख्य अवसरों जन्म, विवाह और मृत्यु आदि पर प्रसन्नता और शोक प्रतीकात्मक रूप से मनाते है। वे आपस में मिलते हैं खाते -पीते हैं, शराब का प्रयोग करते हैं और इस तरह उनके मेल - मिलाप प्रतीकात्मक विनिमय का प्रयोग आये दिन होता रहता है।

बोड्रिलार्ड ने प्रतीकात्मक विनिमय के निम्न लक्षण दिये हैं:

(1) यह विनिमय सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से होता है। खान -पान, मद्यमान आदि प्रतीक हैं। विनिमय इन्हीं सम्बन्धों के माध्यम से होता है।

(2) इस विनिमय में वस्तु आभूषण आदि का प्रयोग नहीं होता। इस विनिमय की प्रकृति सामाजिक और सांस्कृतिक होती है।

(3) इस तरह के विनिमय में पारस्परिक और निरन्तरता होती है।

(4) इस प्रक्रिया में वस्तुओं का विनिमय नहीं होता। केवल सामाजिक सम्बन्धों का ही विनिमय होता हे। उत्तर -आधुनिक काल में प्रतीकातमक विनिमय नहीं है। वे कहते हैं : प्रतीकात्मक विनिमय आज के समकालीन समाज में समाप्ति पर है। उनके शब्दों में : आज की पूंजीवादी व्यवस्था ने मशीन और तकनीकी का जो अम्बार खड़ा किया है, इसमें उपहार, प्रति -उपहार, पारस्परिक आदान -प्रदान, खर्च ओर त्याग कोई मतलब नहीं रखते।

फैशन (Fashion)

बोड्रिलार्ड ने फैशन की व्याख्या वस्तु के रूप में की है। यह संस्कृति का एक हिस्सा है। उदाहरण के लिए कोई भी पुरूष साड़ी नहीं पहनता। साड़ी की फैशन होती है लेकिन पुरूष के पहिनने के लिये नहीं। इसलिये हर तरह से साड़ी संस्कृति का एक हिस्सा है। जिसे केवल स्त्रियां ही पहिनती है। फैशन मे मूल्य नहीं होते, इसमें नैतिकता नहीं होती, क्योंकि अन्ततोगत्वा यह एक वस्तु है। इसका आधार संकेत कोड और सिम्यूलेशन है और उत्तर -आधुनिक समाज का एक अनिवार्य अंग फैशन है।

बोड्रिलार्ड ने सकेतों का वर्गीकरण भी किया है। वे कहते हैं कि सभी संकेत समान नही होते, कुछ संकेत भारी (Heavy) होते हैं और कुछ हल्के (Light)। वे राजनीति, अर्थव्यवस्था, विज्ञान, संस्कृति, यौन आदि को भारी संकेतों की श्रेणी में रखते हैं जबकि फैशन हल्के संकेतों में आते हैं।

हर्षोन्माद (Ecstasy) :

बोड्रिलार्ड उत्तर -अधुनिक समाज को एक ऐसा समाज बताते हें जो हर्षोन्माद में है। सभी और मौज -मस्ती ही दिखाई देती है। किसी पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। सब मुक्त हैं।

वह किसी भी वस्तु को उसके उपयोगिता के मूल्य (Use -Value) से नहीं देखता। सभी लोग एक अजीब हर्षोन्माद में दिखाई देते हैं। इस समाज मे मार्क्स को पूरी तरह से भुला दिया गया है। यहाँ इतिहास का कोई मूल्य नहीं है।

मीडिया, संकेत, संकेत की आचार संहिता और संचार से जुड़े हुए कारक हैं जो उत्तर - आधुनिक समाज के सदस्यों को पलायनवादी बना देते है यहाँ व्यक्ति एक ऐसे उथले समाज का सदस्य है जिसमें अतियथार्थता के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है। इस व्यक्ति के लिये इस समाज

में सब कुछ उपलब्ध है, उसमें केवल खरीदने की शक्ति चाहिये। वाणिज्यीकरण (Commercialisation) और उपभोग (Consumption) इस समाज को हर्षोन्माद की स्थिति में पहुँचा देते हैं।

उत्तर आधुनिक समाज -सैद्धान्तिक मान्यता :

बोड्रिलार्ड के आधुनिक समाज के बारे में जो निश्चित निष्कर्ष हे, उन्हें यहां सैद्धान्तिक मान्यताओं के रूप में रखेंगे।

(1) आज के इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने अतीत के साथ हमारे जो भी सम्बन्ध थे, उन्हें नष्ट कर दिया है। उत्तर -आधुनिक समाज पीछे मुड़कर नहीं देखता। आज इस मीडिया ने जिस समाज को बनाया है, वह एकदम रीता या खाली समाज है। इसमें शून्यता और केवल शून्यता ही है, यह दुनिया अराजकता से परिपूर्ण है। जो मन चाहे करो, सब मुक्त है।

(2) इस उत्तर -आधुनिक समाज पर संकेत (Sign), सिम्यूलेशन (Simulations) और छवियों या आकृतियों (Images) का प्रभाव है। ये संकेत ही व्यक्तियों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं।

(3) बोड्रिलार्ड संरचनावाद से प्रभावित थे। उन पर फर्डिनेन्ड सोसोरे का प्रभाव था। वे कहते हैं कि उत्तर -आधुनिक समाज में अर्थ को शब्दों का पारस्परिक सम्बन्धों से निकाला जाता है न कि शब्दों के मनुष्यों के साथ सम्बन्धों से।

(4) उत्तर -आधुनिक समाज पर मीडिया का प्रभुत्व होता है कहना चाहिये यह एक मीडिया समाज है। सच में देखा जाये तो हमारा व्यवहार मीडिया में दी गई आकृतियों और संकेतों के प्रति होता है। हम शायद ही कभी वास्तविक व्यक्ति और स्थान के प्रति अपना व्यवहार रखते है। हमारे व्यवहार का अभिस्थापन संकेत और सिम्यूलेशन होते है।

(5) उत्तर -आधुनिक समाज में कुछ भी यथार्थ नहीं है। जो कुछ है वह मीडिया द्वारा निर्मित है। मीडिया ने अतियथार्थता (Hyper -reality) का निर्माण कर दिया है। इसमें वास्तविक यर्थाथता तो पूरी तरह से खो गई है।

बोड्रिलार्ड का सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory of Baudrillard) :

इस सिद्धान्त के निम्न बिन्दु महत्वपूर्ण हैं:

(1) बोड्रिलार्ड के उत्तर -आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त में कई उतार -चढाव हैं, कहीं समतल मैदान है, तो कहीं चोटी की चढाई। ई.1960 तक बोड्रिलार्ड अपने सैद्धान्तिक उपागम में मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी थे। वे मार्क्स के इस सिद्धान्त से प्रभावित थे कि उत्पादन सम्बन्ध सामाजिक सिद्धान्तों को निर्धारित करते हैं। 1980 में पहुंच कर उन्होंने उत्तर -आधुनिकतावाद के सिद्धान्त को रखा। इस अवस्था में उन्होंने मार्क्स को उपभोग (उत्पादन सम्बन्ध नहीं) सम्बन्धों की दृष्टि में देखना प्रारंभ किया। यहां पहुंचकर बोड्रिलार्ड ने आधुनिक समाज की व्याख्या उपभोग समाज के सन्दर्भ में की। उनके उत्तर -आधुनिक समाज के सिद्धान्त का यह पहला पड़ाव या निरूपण था। उन्होंने स्थापित किया कि उत्तर -आधुनिक समाज वस्तुत: एक उपभोग समाज है। अपने इस सिद्धान्त के निरूपण में बोड्रिलार्ड ने कहा कि मार्क्स अपनी राजनीतिक अर्थव्यवस्था में एकदम रूढ़िवादी थे। उनका

पूंजीवाद भी रूढ़िवादी था। कुछ इसी तरह बोड्रिलार्ड ने संरचनावाद की आलोचना की। आगे चलकर उन्होनें मार्क्सवाद और संरचनावाद दोनों को अस्वीकार कर दिया।

(2) बोड्रिलार्ड के सामाजिक सिद्धान्त की दूसरी विशेषता प्रतीकात्मक विनिमय (Symbolic Exchange) की हैं। वे आर्थिक विनिमय (Economic Exchange) को स्वीकार नहीं करते। आदिवासियों मे प्रतीकात्मक विनियम की प्रथा रही है वे प्राप्त करना और लौटाना, देना और लेना विनियम की वकालत करते है उपहारों के लेन -देन का यह चक्र बराबर चलता रहता है। मार्क्स के पूंजीवाद में प्रतीकात्मक विनियम को कोई स्थान नहीं था। बोड्रिलार्ड ने इसे स्थापित करने का प्रयास किया। प्रतीकात्मक विनिमय इस दृष्टिकोण से बोड्रिलार्ड का एक क्रान्तिकारी सैद्धान्तिक अभिस्थापन है।

(3) उत्तर -आधुनिक समाज, बोड्रिलार्ड कहते हैं, अब किसी भी अर्थ में उत्पादन समाज (Production Society) नहीं है। यह एक मीडिया समाज है। इस समाज में साईबरनेटिक मॉडेल, कम्पयूटर, सूचना मनोरंजन, शान के उद्योग आदि का प्रभुत्व है। उत्पादन का कतई नहीं।

(4) बोड्रिलार्ड का मानना है कि इस समाज में सिम्यूलेशन यानी कार्बन कॉपी ही सब कुछ है। इस कार्बन कॉपी की कोई ओरिजिनकल कॉपी ही नहीं है। यहां संकेत और यथार्थता दोनो ही एक दूसरे में समा जाते है। किसी की कोई पृथक पहिचान नहीं रहती।

(5) बोड्रिलार्ड के सामाजिक सिद्धान्त की एक और महत्वपूर्ण कडी अति यथार्थता (Hyper - reality) है। पहले यह समझा जाता था कि मीडिया समाज का दर्पण है। जैस समाज होगा वैसा ही मीडिया में दिखाया जायेगा। अब मीडिया जो कुछ प्रदर्शित करता है वह यर्थाथता नहीं है इसे बॉड्रिलार्ड अति यथार्थता कहते है।

(6) बोड्रिलार्ड का उत्तर -आधुनिक समाज को जो सामाजिक सिद्धान्त है इसकी एक और अवधारणा संस्कृति की हैं वे यह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि उत्तर -आधुनिक समाज की संस्कृति विनाशकारी परिवर्तन के दौर से गुजर रही है। अब लोग अधिक से अधिक निष्क्रिय हो रहे हैं।

आलोचना: बोड्रिलार्ड की एक सिद्धान्तवेता की हैसियत से बहुत उपलब्धियाँ है लेकिन अभाव भी हैं। कभी -कभी तो लगता हैं, जैसे वे सनकी हों। उदाहरण के लिय प्रतीकात्मक विनिमय के महत्व की चर्चा में वे इतने बह जाते है कि कह बैठते है कि आज के समाज मे आदिम समाज का प्रतीकात्मक विनिमय अवश्य आना चाहिये। ऐसा विनिमय कैसे आ सकता है, इस प्रस्ताव पर वे मौन हो जाते हैं बोड्रिलार्ड के पास में आधुनिक समाज का कोई रचनात्मक सिद्धान्त नहीं है। उनकी आलोचना करते हुए जोर्ज रिट्जर लिखते हैं। बोड्रिलार्ड के सामाजिक सिद्धान्त में कहीं भी मार्क्स जैसा क्रांतिकारी दर्शन नहीं है। न ही उनके समाज में सुधार की कोई संभावना दिखती है। जैसी दुरुखी ने देखी थी। ऐसा लगता है कि बोड्रिलार्ड सिम्यूलेशन, अतियथार्थता और सब तरह से बरबाद समाज मे रहने के लिये निर्दिष्ट है।

19.03 मिशेल फूको : शक्ति और ज्ञान का विमर्श

सैद्धान्तिक विचारधारा :

मिशेल फूको एक फ्रांसीसी विचारक है। फूको की विशिष्टता यह है कि वे विभिन्न विचारकों के सिद्धान्तों को लेते है। फिर उन्हें अपने सैद्धान्तिक सूत्रीकरण (Formulation) में ढाल देते हैं। इस कठिनाई के होते हुए भी फूको पर कई तत्कालीन विचारकों का प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिये वे वेबर की तर्कसंगतता (Rationality) से अत्यधिक प्रभावित थे। इसी तरह उनकी कृतियाँ में मार्क्स का प्रभाव प्रखर रूप से दिखाई देता है। वे समाजवाद से अभिभूत थे और उन्होंने अपनी छात्र राजनीति को मार्क्सवाद पर ही चलाया। मार्क्स से प्रेरित होकर उन्होंने शक्ति की सूक्ष्म राजनीति (Micro Politics of Power) की अवधारणा को विकसित किया।

फूको के मुख्य कृतित्व :

(1) मेडनेस एण्ड सिविलिजेशन (Madness and Civilization, 1961)

(2) दी बर्थ ऑफ दी क्लीनिक (The Birth of the Clinic, 1963)

(3) डिसिप्लीन एण्ड पनिश (Discipline, 1975)

(4) हिस्ट्री ऑफ सेक्सयूएलिटी (History of Sexuality Vol1. 1978)

फूको का उत्तर आधुनिकवाद

(1) उन्होनें अपराध शरीर, पागलपन और कामुकता पर बड़ी गहनता से लिखा है। इनके विश्लेषण मे वे आधुनिक संस्थाओं जैसे कि कारागृह अस्पताल आदि की भूमिका को स्पष्ट करते हैं और अन्त में अपने निष्कर्ष में कहते है कि इन संस्थाओं के माध्यम ये समाज पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

(2) फूको का तर्क है कि ज्ञानोदय और पुनर्जागरण अपने उद्विकास की अवस्था में सही थे। ये व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षघर था। लेकिन ज्ञानोदय का एक दूसरा पहलू भी है। इस दूसरे पहलू का सरोकार मनुष्य को नियन्त्रया में रखना है, उसे अनुशासन में बांधना है तथा उसकी हरकतों पर निगाह रखनी है। इस सन्दर्भ में वे शक्ति, वैचारिकी और विमर्श (Discourse) के पारस्परिक सम्बन्धों को आधुनिक संगठनात्मक व्यवस्था के सन्दर्भ में देखते हैं।

(3) समाजशास्त्रीय अध्ययनों में शक्ति का अध्ययन महत्वपूर्ण समझा जाता है। यहां फूको एक नई अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इसे वे डिस्कोर्स (Discourse) यानी विमर्श कहते है। विमर्श का मतलब किसी एक वस्तु के बारे में लोगों के बातचीत करने के तरीके या सोचने की पद्धति से है। ये तरीके मिलजुल कर लोगों की सामान्य धारणा को बनाते है।

फूको की अवधारणात्मक देन विमर्श (Discourse) है। कई लोग जिन्होंने सावधानीपूर्वक फूको को नहीं पढ़ा है, वे विमर्श का प्रयोग विवाद के रूप में करते हैं। अंग्रेजी शब्द डिस्कोर्स, जुदा के डिस्कशन से। इस शब्द के प्रयोग में फूको बहुत स्पष्ट है। उनके लिये विमर्श का अर्थ किसी एक निश्चित फ्रेमवर्क में किसी विषय के बारे मे सोचना है, धारणा बनाना हे और धारणा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं होती। सामान्य लोगों की होती है। अपराधियों के बारे में लोग क्या सोचते हैं, उनके बारे मे क्या विचार रखते हैं, यह सब विमर्श अर्थात डिस्कोर्स है।

(4) फूको ने केवल विमर्श की व्याख्या ही नहीं की है, वे इसके अर्थ को स्पष्ट करने के बाद कहते है कि लोग शक्ति का प्रयोग विमर्श के माध्यम से करते हैं। होता यह है कि सबसे पहले शक्ति होती है। यह शक्ति अपने आप मे कोई अर्थ नहीं रखती। इसे अर्थपूर्ण बनाने के लिये विमर्श को काम में लिया जाता है। वस्तुओं के बारे में लोगों की अभिवृत्तियाँ बदली जाती हैं। यह बदलने का काम शक्ति करती है। अर्थ बहुत स्पष्ट है शक्ति विमर्श के माध्यम से काम करती है।

(5) सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में फूको की सबसे बड़ी देन उनका वैज्ञानिक ज्ञान की प्रकृति के बारे में जो आम सहमति है, उसका विरोध करना। फूको विज्ञान के प्रति संशायात्मक दृष्टि से देखते हैं। सामान्य समाज वैज्ञानिक परिचित के आधार पर अपरिचित की व्याख्या करते हैं जबकि फूको अपरिचित की खोज के बाद परिचित की व्याख्या करते है।

19.04 जॉक् दरिदा : विखण्डन का सिद्धान्त

दरिदा उत्तर -आधुनिकवाद के विचारक समझे जाते हैं। दरिदा उच्च कोटि के भाषाविद् रहे हैं। हाल तक कोई पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मूल में सभी पुस्तकें फ्रेंच भाषा में लिखी गई हैं। इन पुस्तकों में आठ पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में अनुदित हुई हैं।

दरिदा की कृतियाँ

ये पुस्तकें इस तरह हैं :

(1) स्पीच एण्ड फिनोमिना एण्ड अदर एसेज (Speech and Phenomena and other essays, 1973)

(2) आफ ग्रामेटोलॉजी, गायत्री चक्रवती, स्पीवाक (Of Grammatology, 1967)

(3) राइटिंग एण्ड डिफरेन्स (Writing and Difference, 1967)

(4) पोजिशन्स (Positions, 1972)

(5) डिसमिनेशन (Dissemination, 1972)

(6) मार्जिन्स ऑफ फिलेसॉफी (Margins of Philosophy, 1972)

(7) ग्लास (Glass, 1974)

(8) दी ट्रूथ -इन पैंटिग (The Truth in Painting, 1987)

सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि (Intellectual Background) :

दरिदा ने अपने समकालीन उत्तर -आधुनिक विचारकों की तरह ज्ञान -मींमासा की समस्या को अपनी कृतियों मे उठाया। बोड्रिलार्ड और ल्योटार्ड का कहना है कि उत्तर -आधुनिकता इतिहास की केवल एक विशेष अवस्था (Historical Stage) है जिसमें वृतान्तों ने अपनी प्रासंगिकता खो दी है। इस अर्थ में इन दो लेखकों के अनुसार उत्तर -आधुनिकता वस्तुत: उत्तर इतिहास (Post History) है। दरिदा की स्थिति पृथक् है। दरिदा का तर्क है कि ज्ञान की मीमांसा उसके विशुद्ध रूप में होनी चाहिए। इसी कारण उन्हें विशुद्ध ज्ञान मीमांसक (Pure Epistomologis) कहते है।

दरिदा अपनी सैद्धान्तिक परम्परा में कतिपय दर्शनशास्त्रियों से भी प्रभावित है। देखा जाये तो विखण्डन (Deconstruction) पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उस पर लोक (Lock), बर्कल (Burkelely) और ह्यूम (Hume) का बहुत बडा प्रभाव है। इन दार्शनिकों की तरह दरिदा भी यह मानकर चलते हैं कि समाज के विखण्डन के विमर्श की चर्चा भाषा और ज्ञान - मींमासा के सन्दर्भ के बिना नहीं की जा सकती। दरिदा इन्हीं पश्चिमी दार्शनिकों से प्रभावित होकर यह स्वीकार करते हैं कि भाषा, उसके अर्थ और सत्य की कोई भी व्याख्या सत्ता - मीमांसा (Ontology) की धारणाओं के बिना नहीं हो सकती।

दरिदा के कृतित्व पर सबसे बड़ा प्रभाव पश्चिमी दर्शन का है। इस दर्शन का बुनियादी आधार तर्क है। दरिदा जब विखण्डन की बात करते हैं, तब वे इसी तर्क को निरस्त करते हैं। दरिदा की कृतियों यथा स्पीच एण्ड फिनोमिना, राइटिंग एड डिफरेन्स तथा ऑफ ग्रामोटोलॉजी पर पश्चिमी तर्क और दर्शन का गहरा प्रभाव है। पश्चिमी दर्शन में मुख्य मुद्दा एकात्मकता का है इसी को दरिदा ने चुनौती दी है जो निम्न है -

(1) एकात्मता का सिद्धान्त (The Law of Identity): जो कुछ है, वह है।

(2) प्रतिवाद का सिद्धान्त (The Law of Contradiction) कोई भी दोनों नहीं हो सकता और कुछ भी नहीं हो, ऐसा भी नहीं हो सकता।

(3) बहिष्कृत मध्यवर्ती सिद्धान्त (The Law of Excluded Middle) प्रत्येक को या तो होना है या नहीं।

ये सिद्धान्त जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है पश्चिमी विचारों के सिद्धान्त हैं। इनमें सम्बद्धता (Coherence) है। पश्चिमी दर्शन यह मानकर चलता है कि इस संसार में वास्तविक रूप से कोई न कोई यथार्थ (Reality) अवश्य है। इस यथार्थता का उद्‌गम (origin) भी अवश्य है। यदि तार्किक सम्बद्धता की दृष्टि से देखें तो किसी भी प्रकार प्रतिवाद (contradiction) नहीं होना चाहिए। इसमें जातीयता (Homogeneity) होनी चाहिये। पश्चिम की दार्शनिक विचारधारा से दरिदा ने विखण्डन और भेद (Difference) की अवधारणाओं को विकसित किया है और विखण्डन तथा भेद की यह अवधारणाएँ ही उनकी देन है। जब दरिदा विखण्डन की बात करते हैं तब वे इसकी खोज पश्चिमी तात्विक (Metaphysical) परम्परा में खोजते हैं। और इसकी बुनियाद एकात्मता (Identity) में देखते हैं। यहाँ वे रूपों की ओर मुड़ते है और इस तरह दर्शन के माध्यम से विखण्डन की अवधारणा को विकसित करते हैं।

विखण्डन की अवधारणा:

विखण्डन की अवधारणा का सीधा सम्बन्ध भाषा से है। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों में भाषा कहीं से आई ? दरिदा इसकी व्याख्या पश्चिमी दर्शन से करते हैं। दर्शन एकात्मता (Identity) को पहचानना चाहता है। समाजशास्त्र में एकात्मता की अवधारणा प्रतिकात्मक अन्त: क्रियावाद से जुड़ी है। इसके अनुसार आदमी के मस्तिष्क (Mind), स्व (Self) और समाज (Society) के बीच में अन्त: क्रिया होती है। वास्तव में हर्बर्ट मीड (Herbert Mead) ने अपनी पुस्तक माइन्स, सेल्फ और सोसायटी (Mind, Self and Society) में स्व (Self) के

विकास की समस्या उठाई है। वे कहते है कि व्यक्ति के स्वय यानी एकात्मता का विकास समाज के साथ स्थापित सम्बन्धों से होता है। इस स्वयं के सम्बन्ध समाज के साथ कैसे होते हैं? स्पष्ट हैं, यह सम्बन्ध भाषा के माध्यम से होता है। अर्थात् भाषा एक शक्तिशाली साधन है और इसके माध्यम से व्यक्ति अपने स्वयं यानि एकात्मता को पहचानता है। भाषा और एकात्मता पर दरिदा एक दृष्टान्त देते हैं। वे रूसी का सन्दर्भ देकर कहते है कि हम सबको प्रकृति की आवाज को सुनना चाहिये। प्रकृति ही सब कुछ है, प्रकृति अपने आप में पूर्ण है। इसमें कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है, और न घटाने की है। प्रकृति की पहचान उसकी पूर्णता में है।

रूसो प्रकृति की पूर्णता को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि इसमें कहीं न कहीं कुछ न कुछ कमी अवश्य है यह कुछ इस तरह है कि माँ अपने आप में बच्चे के लिये पूर्ण है, पर इसमें कभी -कभी कमी अवश्य होती है। वह बच्चे को दूध नहीं पिला सकती क्योंकि उसके दूध आता ही नहीं है। यह प्राकृतिक कमी है। अर्थ हुआ प्रकृति में भी स्वायत्तता नहीं है। उसमें भी अभाव है। अब इस अभाव को पूरक साधनों द्वारा पूरा किया जा सकता है। प्रकृति में जो अभाव या कमी है उसे समाज पूरी करता है। यह अभाव एकात्मता की चेतना भाषा द्वारा पूरी होती है। दरिदा कहते है :

मनुष्य को चेतना लाने के लिये माध्यम की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता भाषा के आईने से पूरी की जाती है।

कुल मिलाकर दरिदा का कहना है कि मनुष्य के स्व (Self) की पहचान समाज से होती है। जैसा समाज होता है, वैसी की स्व की चेतना आती है। इस चेतना को लाने का माध्यम भाषा होती है और भाषा का सरोकार पाठ यानी टैक्सट (Text) से होता है। जब हम किसी पाठ को पढ़ते हैं। इस पाठ में कुछ अर्थ स्पष्ट (explicit) होते हैं लेकिन कुछ अर्थ ऐसे होते है जो हमारे लिये अव्यक्त या अस्पष्ट (Implicit) होते हैं। ऐसी स्थिति में विखण्डन का पहला काम है जो अस्पष्ट है, उसके अर्थ को बाहर निकालना या स्पष्ट करना है। स्पष्ट करने जो अर्थ तर्क या कारण (Reason) की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता उसका विखण्डन करना है। इस भाँति विखण्डन की प्रक्रिया पाठ से अस्पष्ट की है।

विखण्ड की व्याख्या करते हुए दरिदा कहते है :

विखण्डन का मतलब होता है मूल पाठ को उसके निर्देश, संकेत, अनिश्चितता आदि के सन्दर्भ में पढना। ऐसा करते हुए यह देखना कि इसमें कौन से अर्थ स्पष्ट है और कौन से अस्पष्ट। अस्पष्ट अर्थ को निकालना और तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरने पर उसे अस्वीकार करना ही विखण्डन है।

दरिदा के सिद्धान्त की मान्यताएँ

दरिदा के विखण्डन और भेद यानि डिफरेन्स के बारे में जो भी सिद्धान्त रखा है, उसे सार रूप में निम्न बिन्दुओं में देखेंगे :

(1) विखण्डन की अवधारणा के माध्यम दरिदा पश्चिमी विचारों के संपूर्ण सिद्धान्त को अस्वीकार हैं। ऐसे करने से प्लेटो से चलकर आधुनिक दर्शन का विमोचन करते हैं।

(2) उनके अनुसार पश्चिमी दर्शन में जो तत्वमीमांसा है, वह दोषपूर्ण है। यह मीमांसा यथार्थता की खोज करती है। इसके प्रणेताओं मे डेकारटे, डेविड ह्यूम और कान्त है। यह यर्थाथता अस्पष्ट है क्योंकि तत्व -मीमांसा के इस दर्शन ने भाषाशास्त्र और व्याकरण की अवेहलना की है। दर्शन की तत्वमीमांसा को अस्वीकार करने के लिए दरिदा सोसोरे के भाषा सम्बन्धी संरचना को अपनाते हैं।

(3) विखण्डन का अर्थ है मूल पाठ को स्पष्ट और अस्पष्ट सन्दर्भ में देखना। भाषा के शब्द के पर्यायवाची अर्थ होते है। अत: मूल पाठ का अर्थ वस्तुनिष्ठा यानी यर्थाथता को जानना होना चाहिए।

(4) दरिदा यह मानकर चलते हैं कि पश्चिमी तत्व मीमांसा भाषा के गलत अर्थ पर निर्भर है। जिस संकेत (Logo) की चर्चा यह तत्व मीमांसा करती है, वह झूठ पर आधारित है। पश्चिमी इस तत्वमीमांसा के संकेत गलत अवधारणा के कारण है। इसलिये इस तत्वमीमांसा का विखण्डन होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, विखण्डन से दरिदा का तात्पर्य पश्चिमी तत्व मीमांसा को रद्द करना है।

(5) दरिदा की अध्ययन विधि व्याकरण है। उन्होंने अपने ढंग से व्याकरणशास्त्र (Grammatology) विकसित किया है। अपने इस तरह के उपागम में दरिदा अकेले नहीं है। उन्होंने नीत्शें और हैडेगर का अनुसरण किया है।

(6) दरिदा व्याकरण की व्याख्या नये संदर्भ में करते है। वे कहते हैं कि वाणी (Speech) का स्थान लेखन (writing) से ऊँचा है। वाणी की व्यंजना भाषा की तुलना में अधिक ताकतवर होती है। भाषा का यही भेद विखण्डन का मुख्य आधार है। भाषा जब इतनी शक्तिशाली है, तब आश्चर्य होता है, पश्चिमी मीमांसा ने इसकी इतनी बड़ी उपेक्षा कैसे कर दी।

दरिदा ने भाषा की व्याख्या सामाजिक सन्दर्भ में की है। भाषा किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है। इसे किसी एक व्यक्ति ने नहीं बनाया है। भाषा अपनी प्रकृति और संरचना में सामाजिक सांस्कृतिक है। किसी भी यथार्थ की और सत्य की खोज भाषा की अनुपस्थिति में नहीं की जा सकती। यह सबसे बड़ा पश्चिमी दर्शन में रहा है। डेकार्टे, स्पीनोजा कान्त आदि ने तत्व मीमांसा में भाषा की उपेक्षा की है। इस अभाव के कारण पश्चिमी तत्व मीमांसा दरिदा को स्वीकार नहीं है। अत: उसका विखण्डन।

19.05 थियोडोर एडोर्नो

एडोर्नो फ्रेंकफर्ट स्कूल के प्रमुख विचारकों में से हैं। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान उन्होनें अमेरिका में कार्य किया था। युद्ध की संधि के बाद वे पुन: पश्चिमी जर्मनी चले गये। एडोर्नो उच्च कोटि के विचारक थे।

एडोर्नो की कृतियाँ (Works of Adorno) :

एडोर्नो के मन मे एक तरह की खोज थी। उनकी परेशानी नाजी सत्ता का दमन था। इस युग में दार्शनिकों की रूचि तत्व मीमांसा में थी। वे समाज के बारे में किसी अन्तिम सत्य की खोज में थे। यदि इस सत्य का पता लग जाये तो समाज की यर्थाथता को समझा जा सकता था। लेकिन दार्शनिकों के इस प्रयास से एडोर्नो सहमत नहीं थे। उनका तर्क था कि ज्ञान

के क्षेत्र में ऐसा कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वे अपने अध्ययन में मार्क्स के सिद्धान्तों की पुन: खोज करना चाहते हैं। उनकी कृतियों में होखिमर की भागीदार बहुत अधिक है।

(1) आथोरिटेरियन परसनालिटि (The Authoritarian Personality 1950)

(2) प्रिसम्स (Prisms 1995)

(3) डाइलेक्टिक ऑफ एनलाईटमेंट (Dialectic of Enlightement 1973)

(4) द जारगन ऑफ ऑथेनटीसीटी (The Jargon of Authenticity 1973)

(5) मीनीमा मोरेलिया (Minima Moralia 1951)

ज्ञानोदय का द्वन्द्व (The Dialectic of Enlightenment) :

वास्तव में एडोर्नो और होरखेमर दोनो ही थे जिन्होंने ज्ञानोदय में निहित द्वन्द्व को उठाया था। 1942 और 1944 की अवधि में ये दोनों विचारक अमेरिका के लॉस एन्जीलिस में रह रहे थे इन दोनों ने मिलकर दि डालेक्टिक ऑफ एन्लाइटमेंट (Dialectic of Enlightenment) पुस्तक को लिखा। यह पुस्तक, फ्रेंकफर्ट स्कूल की एक उल्लेखनीय कृति समझी जाती है। इस पुस्तक में इन दोनों लेखको ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न रखा है : यह किस तरह है कि मानव जाति जिसे सही अर्थो में मानवीय जीवन मिलना चाहिये आज घनघोर बर्बरता की शिकार हो गई है? वे इस प्रश्न के उत्तर को ज्ञानोदय के द्वन्द्व में खोजते हैं। जब ज्ञानोदय का आविर्भाव हुआ था, तभी आधुनिक समाज का जन्म हुआ। ज्ञानोदय से यह आशा थी कि मनुष्य का जीवन सही अर्थो में एक सुखी जीवन हो जायेगा। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। ज्ञानोदय ने जिस आधुनिक समाज को जन्म दिया, उस समाज ने मनुष्य को अंधेरे में धकेल दिया। यह ज्ञानोदय द्वन्द्व था ।

एडोर्नो और होखिमर इस द्वन्द्व की विस्तार से व्याख्या करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञानोदय पीछे मुड़ गया है और इसने मनुष्य को पुन: गुलाम बना दिया है। ज्ञानोदय हमेशा के लिये पीछे हट गया है और आज यह एक मिथक मात्र बन गया है।

एडोर्नो और होखिमर अपनी इस कृति में यह स्थापित करते हैं कि ज्ञानोदिय ने वस्तु विनिमय की प्रक्रिया में पूंजीवाद को ऐसा अवसर दिया है कि वह खुलकर आम आदमी का शोषण कर सके। जिस तरह वस्तु विनिमय में श्रम शक्ति का शोषण होता है वैसे ही ज्ञानोदय के कारण सभी मानव मूल्यों को विनिमय होने लगा है। ज्ञानोदय सभी को समान बना देता है, सभी विशिष्टताओं को बराबर कर देता है और अन्तत: सभी एक दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। ज्ञानोदय ने इस संपूर्ण द्वन्द्व के निराकरण भी ज्ञानोदय से ही माना है। कैसी विचित्र स्थिति है। ज्ञानोदय द्वन्द्व पैदा करता है और ज्ञनोदय ही द्वन्द्व का इलाज है। एडोर्नो ओर होखिमोर ज्ञानोदय के इतने खिलाफ हैं कि वे इसे सर्वसत्तात्मक (Totalitarian) समाज के निमार्ण को लाने वाला कहते हैं। इतना कह देने के बाद भी यह निश्चित है कि ये दोनों लेखक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ज्ञानोदय ने आदमी को अपने चिंतन -मनन में स्वतंत्र कर दिया है। अब तक आदमी जिस अपरिपक्व स्थिति में था कम से कम उससे तो उबर गया है।

एडोर्नो और होखिमर की ज्ञानोदय के द्वन्द्व की व्याख्या अभी पूरी नहीं हुई है। वे कहते हैं कि यदि हम ज्ञानोदय के द्वन्द्व को दार्शनिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि ये दोनों लेखक अपने इस ग्रन्थ में कार्य -कारण को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।

यदि द्वन्द्व की इस पुस्तक को सामाजिक सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाये तो इन दोनों लेखकों ने इसमें मेक्स वेबर की तर्क संगतता को तथा मार्क्स के वस्तु विनियम सिद्धान्त को जोड़कर देखने की बात कही है।

सत्तावादी व्यक्ति की अवधारणा :

एडोर्नो की दी ओथेरिटेरियन पर्सनेलिटी एक उल्लेखनीय कृति हैं। वे कहते है कि समाज में या किसी भी राष्ट्र में कुछ विशेष प्रकार या जाति (Type) के लोग होते हैं जिनका समाजीकरण कुछ इस तरह का होता है कि उनके सोचने का तरीका रूढ़िबद्ध होता है, वे लीक से हटकर किसी भी वस्तु पर सोच नहीं सकते। एडोर्नो इस तरह के व्यक्तियों के चरित्र को सत्तवादी व्यक्तित्व (Authoritarian Personality) कहते हैं। हमारे यहाँ खलापुर (उ.प्र.) के राजपूतों के व्यक्तित्व का अध्ययन सामने आया है। इसमें एक दृष्टान्त हैं। राजपूत का लड़का स्कूल मे रोज पीटकर घर आता है। उसकी माँ कहती है: कैसा राजपूत का लड़का है जो स्कूल से पीटकर आता है - राजपूत का लड़का तो हमेशा दूसरे लड़कों को स्कूल मे पीट कर घर आता है। यह राजपूत जाति का समाजीकरण है जो दूसरी जातियों से भिन्न कर देता है। एडोर्नो ऐसे ही व्यक्तित्व को सत्तावादी व्यक्तित्व कहते हैं।

19.06 हेबरमॉस :

हेबरमॉस जर्मन विचारधारा की उपज है। वे बराबर आधुनिक समाज की आलोचना करते है। थियोडोर एर्डोनो और होखिमर के विचारो का उन पर बड़ा प्रभाव रहा है। वे इस समाज को एक -आयामी (One dimensional) समाज मानते हैं जिसमें तकनीकी -वैज्ञानिक संस्कृति है तथा जहाँ पूंजीवाद ही सम्पूर्ण जीवन का निचोड़ है। हेबरमॉस इस समाज का पुननिर्माण करना चाहते है और इसके लिये वे विवेक या तर्कसंगतता (Rationality) को आधार बनाना चाहते है। होखिमर और एडोनों के अतिरिक्त हेबरामॉस पर हीगेल, कॉत, हसरेल का भी पर्याप्त प्रभाव है।

हेबरमॉस की कृतियाँ :

हेबरमॉस का सम्पूर्ण लेखन जर्मन भाषा में हुआ है। हेबरमॉस का लेखन बहुत समृद्ध है इनकी बहुत बड़ी खासियत यह है कि ये जन आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी करते हैं। इनकी अनुदित कृतियाँ इस प्रकार हैं। -

(1) थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस (Theory and Practice, 1963)

(2) नॉलेज एण्ड ह्यूमन इंटरेस्ट्स (Knowledge and Human Interests, 1968)

(3) टुवर्ड ए रेशनल सोसायटी (Toward a Rational Society, 1970)

(4) लेजीटिमेशन क्राइसिस (Legitimation Crisis, 1973)

(5) कोम्युनिकेशन एण्ड इवोल्यूशन ऑफ सोसायटी (Communication and Evolution of Society, 1979)

(6) दी थ्योरी ऑफ कोम्युनिकेटिव एक्शन (The Theory of Communicative Action 1981)

(7) दी फिलोसोफिकल डिस्कोर्स ऑफ मोडरनिटी (The Philosophical Discourse of Modernity, 1988)

(8) मोरल कोन्श्यसनेस एण्ड कोम्युनिकेटिव एक्शन (Moral Consciousness and Communicative Action, 1990)

(9) पोस्ट -मेटाफिजिकल थिंकिंग (Post -Metaphysical Thinking, 1992)

सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि :

1960 के दशक में यूरोप में हेबरमॉस की प्रतिष्ठा एक सिद्धान्तवेत्ता की तरह स्थापित हो गई। हेबरामॉस फ्रेंकफर्ट स्कूल की परम्परा के एक मूर्धन्य नव -मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता हैं। उनके सिद्धान्त को आलोचनात्मक सिद्धान्त भी कहते हैं। मूलरूप से मार्क्सवादी होकर भी हेबरमॉस ने सिद्धान्तों की विभिन्न परम्पराओं को लेकर अपने आलोचनात्मक सिद्धान्त का निर्माण किया है। उनके इस सिद्धान्त का उद्देश्य अभिव्यक्तिशील क्रिया (Communicative Action) के माध्यम से सांस्कृतिक उद्विकास की उच्च अवस्था को समझना है। यद्यपि उनका यह सिद्धान्त एडोर्नो होखिमर तथा अन्य मार्क्सवादियों से जुड़ा हुआ है फिर भी इसकी अपनी एक पृथक पहिचान है। वे लीक से हटकर एक व्यवस्थित सिद्धान्त को बनाते हैं जो अभिव्यक्तिशीलता को प्राथमिकता देता है। उनके इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता तर्कसंगतता या विवेक है। अभिव्यक्ति में हम विवेक को एक निश्चित स्थान देते हैं। और इसे हेबरमॉस ने अपने सिद्धान्त में स्थान दिया है।

जब हेबरमॉस मार्क्स की आलोचना करते हैं। तब वे निश्चित रूप से आधुनिक पूंजीवाद पर भी अपने विचार व्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में आज का पूंजीवाद पूरी तरह से विरोधाभास से भरा पड़ा है। इसमें निहित ज्ञान भ्रष्ट ज्ञान है। इसके कारण हैं। अब पूंजीवाद राज्य की गिरफ्त में है और यह भी इस पकड़ से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करता। मार्क्स और हेबरमॉस में पूंजीवाद की व्याख्या के अतिरिक्त एक और अन्तर है। जहाँ मार्क्स कार्य और श्रम पर अत्याधिक जोर देते हैं, वहाँ हेबरमॉस अभिव्यक्तिशीलता और भाषा को अपने विश्लेषण का केन्द्रीय आधार मानते हैं। अभिव्यक्तीशीलता और भाषा उनकी पुस्तक दि थ्योरी ऑफ कोम्युनिकेशन एक्शन (The Theory of Communication Action, 1981) उनके इस सिद्धान्त का मुख्य मुद्दा है। हेबरमॉस का तर्क है कि हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जो स्वतंत्र और अभिव्यक्तिपरक हो तथा जहाँ, व्यक्ति को सम्प्रेषण पूर्ण तथा सभी बन्धनों से मुक्त हो। हेबरमॉस आधुनिकता में पूरा विश्वास है। वे महान वृतान्तों (Mega Narratives) के हिमायती है और इसी कारण प्रकार्यवादी पारसंस और मार्क्सवादी फ्रेंकफर्ट स्कूल के समर्थक है।

हेबरमॉस के सिद्धान्त निर्माण का उपागम :

हेबरमॉस सिद्धान्त निर्माण में एकदम मुक्तहस्त हैं वे उत्तर -आधुनिकता को जहाँ नकारते हैं वहीं आधुनिकता में भी संशोधन करते हैं। आधुनिकतावादी जब देखो, ज्ञानोदय के गीत गाते हैं पर ये गीत हेमरमॉस को रास नहीं आते। वे ज्ञानोदय में द्वन्द्व यानी प्रतिकूलता

देखते हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञानोदय दोहरा (Double Size) है। एक स्थान पर ज्ञानोदय यानी सोपान व्यवस्था को स्वीकार करता है और दूसरी और स्वतंत्र तथा समान समाज की वकालत करता है। मुक्त हस्त हेबरमॉस सिद्धान्त निर्माण की एक अवस्था में पहुंचकर भाषाई मोड़ (Lingustic Turn) को ले लिया। इससे प्रभावित होकर वे कहते हैं कि किसी भी व्याकरण (Grammar) की तरह सार्वभौमिक ज्ञान (Universal Knowledge) और सार्वभौमिक नैतिकता (Universal Morality) के नियम बनाये जा सकते हैं।

सैद्धान्तिक विवेचना :

इनके आलोचनात्मक सिद्धान्त में दो तथ्य स्पष्ट हैं पहला काम तो मार्क्सवाद का खण्डन करना है। इसके लिये उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्त पर बड़ी कटु टिप्पणियाँ की हैं। मार्क्स का दूसरा काम आज के आधुनिक समाज की आलोचना का है। वे इस आधुनिक समाज को एक आहत समाज (Wounded Society) मानते हैं। हेबरमॉस ने, मार्क्स के विपरीत, ज्ञानोदय का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि आधुनिक समाज की आलोचना केवल एक तर्क (Single Reason) यानी आर्थिक निर्धारणवाद से नहीं की जा सकती। आधुनिक समाज कई तर्क हैं और इन सबको हम देखना पड़ेगा। सत्य कभी भी निरपेक्ष (Absolute) नहीं होता। इसमें कई अवयव होते हैं और एक समाज वैज्ञानिक इस सापेक्षिक (Relative) सत्य की पड़ताल करता है। हेबरमॉस स्थापित करते हैं कि सत्य वह जिसे लोग अपने दिन -प्रतिदिन के अभिव्यक्तिशील विनिमय (Communicative Exchange) में पाते हैं, उससे रूबरू होते हैं। उत्तर - आधुनिकतावादी न होकर भी यहाँ हेबरमॉस सापेक्षिक सत्य (Relative Truth) की पहचान करते है। इधर मार्क्सवाद पूर्ण रूप से सापेक्षिक विरोधी है। सत्य वह है जिसे समाज कहता है, समाज स्वीकार करता है।

हेबरमॉस जब सत्य को सापेक्षिक कहते हैं जो निश्चित रूप से उनका संकेत समाज से है। समाज सभी समान नहीं होते परम्परागत समाज, आधुनिक समाज, आदिवासी समाज, आदि। प्रत्येक समाज सत्य सापेक्षिक होता है। जो बात एक समाज के लिये सत्य है, वह दूसरे के लिये नहीं। जिसे एक समाज पाप कहता है वह दूसरे समाज के लिये पुण्य है। मतलब हुआ पाप और पुण्य सापेक्षिक हैं। सत्य पर भी यह बात लागू होती है। यही हम हेबरमॉस के आलोचनात्मक सिद्धान्त के प्रमुख लक्षणों का उल्लेख करेंगे।

वेबर और उसकी तर्कसंगतता का हेबरमॉस पर प्रभाव:

हेबरमॉस पर वेबर की तर्कसंगतता का प्रभाव था। इनका प्रयास यह था कि आधुनिक समाज के विश्लेषण के लिए वे एक ऐसा सिद्धान्त बनाना चाहते थे। जो मार्क्स के प्रबन्ध का संशोधन भी करे तथा समाज के विश्लेषण का एक विकल्प भी प्रस्तुत करे। संस्कृति के उद्विकास के विश्लेषण में हेबरमॉस वेबर के उद्विकास को लेते हैं। वेबर का मानना था कि समाज विज्ञान जिस ज्ञान को पैदा करते हैं। वह ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत सीमित होता है। कोई भी ज्ञान सभी युगों के लिये सही नहीं होता। उसकी प्रांसगिकता इतिहास के एक विशेष काल तक की होती है। देखा जाये तो मानव जीवन का एक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) पहलू होता है और समाज विज्ञानों को इस पहलू पर ध्यान देना चाहिये। यहाँ हेबरमॉस जहाँ मार्क्स

की आलोचना करते हैं, वहीं वे क्रिया की युक्ति संगतता पर जो देते हैं। मार्क्स ने अपने संपूर्ण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में व्यक्ति को हाशिये पर खड़ा कर दिया हैं यह अनुचित है। व्यक्ति का युक्तायुक्त क्रिया (Rational Action) का भी ज्ञान के उत्पादन में योगदान है। इस तथ्य को हेबरमॉस ने वेबर से लिया। वेबर की तरह हेबरमॉस का कहना है। कि मनुष्य की समझ (Verstehen) अन्तर - व्यक्तिनिष्ठ (Intersubjective) होती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अन्तःक्रियाओं द्वारा एक दूसरे को समझते हैं और इसमें तर्क होता है। व्यक्ति किसी भी क्रिया को बिना किसी उद्देश्य के नहीं करता। ज्ञान का उत्पादन इन पारस्परिक क्रियाओं द्वारा होता है। ऐसा ही कुछ निष्कर्ष हेबरमॉस ने अपने सिद्धान्त में रखा है।

फ्रायड और हेबरमॉस (Freud and Habermas) :

फ्रायड के मनोविश्लेषण से भी हेबरमॉस प्रभावित है। उनके सिद्धान्त में मनोविश्लेषण को पर्याप्त स्थान है। फ्रायड का यह दावा था कि उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त को विकसित किया है जो हर दृष्टि से आनुभाविक है और जो मनुष्य के व्यक्तिगत संसार को भली प्रकार से जानता है। यह फ्रायड का वैज्ञानिक सिद्धान्त है। फ्रायड ने अपने इस सिद्धान्त निर्माण में मनोविश्लेषण को आधार बनाया है। यहाँ हमें बहुत स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिये कि हेबरमॉस का आलोचनात्मक सिद्धान्त वस्तुतः एक अभिव्यक्तिशील क्रिया (Communicative Action) का सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त में फ्रायड को मनोविश्लेषण एक निर्णायक स्तम्भ है।

भाषाविद् उपागम (Linguistic Approach) :

हेबरमॉस जिस आलोचनात्मक सिद्धान्त को आधुनिक समाज के विश्लेषण के लिए रखते हैं, उसमें उन्होंने भाषा विज्ञान से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। इनमें वे नोम चोम्स्की (Noam Chomsky) से अत्यधिक प्रभावित हैं, इनका तर्क है कि भाषा को प्रयोग में लाकर हम सार्वभौमिक नियमों को बना सकते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में जिस तरह जैविकीय संरचनाएँ होती है, वैसी ही संरचनाओं का निर्माण समाज में भी होता है। चोम्स्की ने जो कुछ कहा है उस पर विवाद हो सकता है लेकिन हेबरमॉस ने भाषा के इस नियम को संस्कृति के उद्विकास के अध्ययन पर लागू किया है। उन्होंने संस्कृति के तत्वों के अर्थ (Meaning) का भाषा के संदर्भ में समझने की कोशिश की है। हेबरमॉस ने भाषा के नियमों या व्याकरण के नियमों की तरह समाज को अभिव्यक्तिशील संदर्भ में प्रस्तुत किया है।

अभिव्यक्तिशीलता का युक्तायुक्त सिद्धान्त (Rational Theory of Communication)

जिसे हम हेबरमॉस का आलोचनात्मक या नव -मार्क्सवादी सिद्धान्त कहते हैं, वह वस्तुतः अभिव्यक्ति का युक्तायुक्त सिद्धान्त है। मनुष्य की अभिव्यक्ति किन्हीं सामाजिक दशाओं में होती है। वे युक्तायुक्त उद्देश्य -परक क्रिया (Rational Purposive Action) और अतिभव्यक्तिशील क्रिया (Communicative Action) में अन्तर करते हैं। युक्तायुक्त -उद्देश्य - परक क्रिया का रूझान भौतिक पर्यावरण के प्रति होता है। इस क्रिया का लक्ष्य पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने का होता है जबकि अभिव्यक्तिशीलता क्रिया को हम सामान्यतया कार्य (Work) और श्रम (Labour) के अर्थ में लेते हैं। क्रिया को इस भांति अवधाराणात्मक रूप में प्रस्तुत करके हेबरमॉस आधुनिक समाज की व्याख्या करते हैं और यही उनका सिद्धान्त है।

19.07 विश्व गाँव : मार्शल मेक्लूहान

विश्व गाँव की अवधारणा के प्रणेता कनाड़ा के लेखक मार्शल मेक्लूहान (Marshal Mcluhan) हैं। उनका मानना है कि इलेक्ट्रोनिक संचार (Electronic Communication) ने सम्पूर्ण संसार को एक सूत्र में बांध दिया है। इस तरह दुनिया भर के लोग टेलिविजन द्वारा प्रसारित खबरों और घटनाओं को साथ -साथ देखते हैं। जैसे किसी गाँव के लोग हर निवासी को -पड़ौसी ओर नातेदार को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, किसी से कोई दूराव नही है, वैसे ही दुनिया भर के लोग एक दूसरे को जानते हैं। मैक्लूहान का कहना है कि मीडिया ने सम्पूर्ण दुनिया को एक छोटा सा गाँव बना दिया है।

विश्व गाँव की अवधारणा की ऐसी व्याख्या करना एकदम सामान्यीकरण है। वास्तव में 1964 में मेक्लूहान ने यह प्रबन्धन माना था कि संस्कृति एक स्थान से दूसरे स्थान पर और सभी स्थानों पर विकसित होती है। इस विवरण में संचार तथा तकनीकी यंत्र की भूमिका बहुत भारी होती है। इस तंत्र ने समय और स्थान के बंधन को उखाड़ फैंका है। अब सारे संसार के लोग एक दूसरे के साथ संवाद में जुट गये हैं। इस संवाद का उद्देश्य सम्पूर्ण परिवर्तन को लाना है। और यह परिवर्तन बहुआयामी है -मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। अब पुराने समूह और संगठन बेमतलब हो गये है। राज्य और राष्ट्र -राज्य जैसे संगठनों पर गर्द चढ़ गई है। मैक्लूहान लिखते है। नये तकनीकी तंत्र की जो भावना है, उससे आगे और कुछ नहीं है। तकनीकी तंत्र सभी आवश्यकताओं का स्थान है और इसमें सब कुछ अपने स्थानों पर है।

विश्व नगर (Global City):

टोक्यो, फ्रैंकफर्ट, न्यूयार्क, लंदन, मुम्बई और नई दिल्ली आदि विश्व नगर के दृष्टांत है। विश्व नगर, अवधारणात्मक रूप थे, वह नगर है जो नई वैश्वीय अर्थव्यवस्था का संगठनात्मक केन्द्र है। मुम्बई का स्टाक एक्सचेंज भारत की तिजारेदारी का केन्द्रीय स्थान है। विदेशी मुद्रा का लुढ़कना और उठाना यह केन्द्र ही निर्धारित करता है। ससकिया ससेन (Saskia Sassen, 1998) का कहना है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया यद्यपि राज्यों के बीच में होती है, पर वास्तव में यह प्रक्रिया बड़े -बड़े नगरों के बीच में होती है। वास्तव में वैश्वीकरण बड़े शहरों और महानगरों में होता है। ससकिया ससेन ने वैश्वीकरण और बड़े शहरों के इस विवाद को अपने पुस्तक दी ग्लोबल सिटी (The Global City, 1991) में सबसे पहली बार उठाया था। विश्व नगर से उनका तात्पर्य उन नगरों से है जो बहुराष्ट्रीय निगमों, वित्तीय संगठनों परामर्शदाताओं के मुख्यालय हैं। इन्हीं नगरों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है और ये नगर ही पूँजीवाद के विकास के केन्द्र हैं। ससकिया ससेन ने विश्व नगरों के मुख्य लक्षण इस तरह दिये हैं:

(1) ये विश्व नगर वैश्वीकरण की रीति -नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वैश्वीय अर्थव्यवस्था इन्हीं के हाथों गढ़ी जाती है।

(2) ऐसी नगर वित्तीय और विशेष परामर्श के केन्द्रीय स्थान होते हैं । इन नगरों का उद्देश्य वस्तुओं का उत्पादन करने का न होकर आर्थिक विकास को प्रभावित करने का होता है।

(3) ये नगर नये आविष्कारों के केन्द्र होते हैं।

(4) ये शहर वस्तुत: बाजार होते हैं जिनमें वित्तीय और सेवा उत्पादनों की खरीद होती है, बिक्री होती है या उन्हें फैंक दिया जाता है।

ससेन की विश्व नगर की अवधारणा को कई अन्य लेखकों ने विकसित किया है। उनका कहना हे कि ज्यों -ज्यों वैश्वीकरण का विकास होता है, त्यों -त्यों विश्व नगरों की तालिका भी आकार में बढ़ने लगती है। इन विश्व नगरों के इर्द -गिर्द अब क्षेत्रीय केन्द्र (Regional Centres) भी बनने लगे है। एक क्षेत्रीय केन्द्र में कई विश्व नगर सम्मिलित होते हैं।

सामाजिक सांस्कृतिक वैश्वीकरण की अवधारणा:

वैश्वीकरण के आर्थिक पहलू की अपेक्षा इसके सामाजिक - सांस्कृतिक पहले अधिक जटिल और पेचीदा हैं। यह इसलिये कि इसके अन्तर्गत हम लगभग सम्पूर्ण मानव -जीव को सम्मिलित करते है। समाज वैज्ञानिकों के परिवार में, सबसे पहिले समाजशास्त्रियों ने वैश्वीकरण की व्याख्या एक नपे -तले रूप में करने का प्रयास किया। इन समाज वैज्ञानिकों में नपे - समाजशास्त्री अग्रणी हैं। समाजशास्त्रियों में गिडेन्स, रोबर्स्टन और मेलकॉप चोटी के विश्लेषक हैं जिन्होंने वैश्वीकरण को इसकी प्रारम्भिक अवस्था मे ही परिभाषित किया यह परिभाषा गैर - आर्थिक पहलुओं की थी यानी समाजशास्त्रीय थी। गिडेन्स ने कहा कि वैश्वीकरण एक प्रकार से दुनिया भर के लोगों का सामाजिक सम्बन्धों का एक ताना बना है। दूर -दराज क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के व्यवहार पर दुनिया भर का प्रभाव देखने को मिलता है। रोबर्स्टन जहाँ यह कहते है कि वैश्वीकरण में समय और स्थान सिमट गये हैं वहीं वे कहते है कि अब दुनिया भर के लोगों मे यह चेतना आ गई है कि वे एक विशाल संसार के भागीदार हैं। यह व्यक्तिनिष्ठ चेतना वैश्वीकरण की बहुत बड़ी उपलब्धि है। रोबस्टर्न कहते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण की अवधारणा का सम्बन्ध संसार का सिमट जाना है और यह दुनिया एक है इसकी चेतना का गहरा जाना हे। वैश्वीकरण अपने आप में संपूर्ण विश्व की चेतना है।

राजनीतिक वैश्वीकरण (Political Globalization) :

आज के वैश्वीकरण के युग के डेनयल बैल कहते हैं कि हमारे जीवन की बड़ी समस्याओं का निराकरण करने के लिए राष्ट्र -राज्य बहुत छोटा है। पहिले प्रत्येक राष्ट्र अपने आप में किसी कछुए की तरह सिमटा हुआ और अलग -थलग था। आज आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से दुनिया भर के राष्ट्र एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस जुड़ाव के होते हुए भी प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक स्थानीयता है, क्षेत्र है, सीमाएँ है ओर निर्णय लेने की एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है। एक परिवर्तन आया है कि और यह परिवर्तन पक्का है। अब राष्ट्र के निर्णय और उसकी गतिविधियाँ वैश्वीकरण द्वारा प्रभावित होती हैं। इसी को हम राजनीतिक वैश्वीकरण कहते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह संस्कृतिवाद की खोज भी समाज की वास्तविक संरचनाओं का पता लगाना है। यह नवीन संस्करण वस्तुनिष्ठावाद को स्वीकार नहीं करता। इसका आग्रह है कि मनुष्य जो कुछ बोलता है, करता है, और जैसा भी रहता है वह सब विज्ञान का स्वरूप ही है। प्रयोगशाला में जिसे विज्ञान कहते हैं, वही भाषा के माध्यम से - वार्तालाप, भाषण और प्रवचन में दिखाई देता है। यह संसार इस

प्रकार मूल पाठ (Texts) की श्रृंखलाओं में बंधा हुआ है। इन मूल पाठों का निर्वचन उनके पारस्परिक सम्बन्धों से किया जा सकता है।

विज्ञान का एक उपागम बहुत स्पष्ट है। इसका यह आग्रह है कि दुनिया भर की भौतिक और प्राकृतिक वस्तुओं में से सम्बद्धता (Cohesion) होती है। सम्पूर्ण प्राकृतिक दुनिया मे एकता है। इसी को विज्ञान देखता है संस्कृतिवाद इस एकता और सम्बद्धता को नहीं देखता। इसका केन्द्रीय अध्ययन तो विभिन्नता (Different) है। जब उत्तर -संरचनावादी आनुभविक मूल पाठ और परम्परागत मूल पाठ की तुलना करता है तो उसे अन्तर मिलता है। यह अन्तर ही सांस्कृतिवाद के अध्ययन की सामग्री है।

19.08 सारांश

प्रस्तुत पाठ में हमने जाना आधुनिक समाज में संस्कृतिवाद के परिणाम स्वरूप उग्र टूटन को बोड्रीलार्ड ने अपने सिद्धान्त द्वारा समझाया। दरिदा ने विखण्डता की अवधारणा में भाषा की भूमिका को महत्वपूर्ण बताया है। एडोर्नो ने ज्ञानोदय को द्वन्द्व समझाते हुये इसे प्रारम्भ और अन्त दोनो कहा है। हेबरमॉस के सिद्धान्त से संचार की प्रकृति मे भाषा को महत्वपूर्ण माना है। मार्शल मक्लूहान ने आधुनिक समाज की परिकल्पना विश्व गांव के रूप में की है। संस्कृतिवाद के इन सिद्धान्तों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति किस प्रकार वस्तु बनती जाती है।

19.09 बोध प्रश्न

1. संस्कृतिवाद की अवधारणा को समझाते हुए इसकी विशेषताएँ समझाइये।
2. बोड्रिलार्ड की सैद्धान्तिक अवधारणा स्पष्ट करिये।
3. दरिदा के विखण्ड सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिये।
4. ज्ञानोदय का द्वन्द्व के सिद्धान्त के आधार पर आधुनिक समाज में संस्कृतिवाद को समझाइये।
5. विश्व गांव के प्रत्यय को समझाइये।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बोड्रिलार्ड : सिलेक्टेड राइटिंग्ज (सम्पादित) (Selected Writings, 1988)
2. दरिदा : स्पीच एण्ड फिनोमिना एण्ड अदर एसेज (Speech and Phenomena and other essays, 1973)
3. एडोर्नो : (1) The Authoritarian Personality (1950) आथोरिटेरियन परसनालिटी
4. हेबरमॉस : टुवर्ड ए रोशनल सोसायटी (Toward a Rational Society, 1970)
5. हेबरमॉस : लेजीटिमेशन क्राइसिस (Legitimation Crisis, 1973)
6. लुक्कास : हिस्ट्री एण्ड क्लास कोन्सीयसनेस (History and class conciousness, 1922)

इकाई-20

उत्तर - आधुनिकतावादी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.01 प्रस्तावना

20.02 उत्तर -आधुनिकतावाद: परिभाषा

20.03 उत्तर -आधुनिकतावाद: ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

20.04 उत्तर -आधुनिकतावाद: विशेषताएँ एवं मौलिक मान्यताएँ

20.05 उत्तर -आधुनिकतावाद: सीमाएँ तथा आलोचना के बिन्दु

20.06 सारांश

20.07 बोध प्रश्न

20.08 संदर्भ ग्रन्थ

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप मे उत्तर -आधुनिकतावाद को समझ सकेंगे।
- उत्तर -आधुनिकतावाद की ऐतिहासिक एव बौद्धिक पृष्ठभूमि तथा इसके विकासक्रम की जानकारी ले सकेंगे।
- उत्तर -आधुनिकतावाद की प्रमुख मान्यताओं एवं प्रस्थापनाओं को समझ सकेंगे।
- उत्तर -आधुनिकतावाद की आलोचना के बिन्दुओं को समझ सकेंगे।

20.01 उत्तर -आधुनिकता: प्रस्तावना

शाब्दिक रूप से उत्तर -आधुनिकता (Post -Modernism) का तात्पर्य 'आधुनिकता (Modernism), की अग्रगामी प्रक्रिया तथा आधुनिकता के 'पश्चात् (Post)' की स्थिति के हैं। स्वंय आधुनिकता भी परम्परागत समाजों के बाद की स्थिति अथवा 'अधुनातन' स्थिति का परिचायक है।

देश, काल एवं परिस्थिति के स्तर पर यदि देखा जाये तो आधुनिकता तथा उत्तर -आधुनिकता के अवधारणात्मक संदर्श संबद्ध समाजों की सामाजिक तथा परिवर्तन की प्रक्रियाओं, विकास की दशाओं एवं दिशाओं, संरचनाओं व्यवस्थाओं, वैचारिकियों एवं विमर्श, सिद्धान्तों, मूल्यों, मान्यताओं तथा संस्कृतियों इत्यादि के विशिष्ट एव संश्लिष्ट अवधारणात्मक संस्करण है जो संदर्भित समाज या समाजों को एक स्वरूपगत विशिष्टता प्रदान करते हैं। वस्तुत: आधुनिकता एवं उत्तर -आधुनिकता दोनो ही बहु मुखी प्रक्रियाएँ है परन्तु दोनो में संदर्भ, उपागम, प्रक्रिया, प्रभावोत्पादकता तथा स्वरूप इत्यादि के स्तरों पर पर्याप्त अन्तर एवं विरोधाभास है।

उत्तर आधुनिकता एक प्रकार आधुनिकता का प्रतिकार तथा इसके द्वारा समाज के समक्ष निर्मित प्रश्नों एवं चुनौतियों को प्रत्युतर के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात निर्मित सामाजिक, राजनीतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक तथा यहाँ तक कि वैयक्तिक संदर्भों से सम्बधित क्षेत्रों एव नवीन परिस्थितियों में उत्तर -आधुनिकतावाद की एक लहर उभरी जिसने परम्परागत मान्यताओं, विधियों, सिद्धान्तों एवं श्रेणीक्रमों को त्याग कर स्वच्छन्द एवं इच्छा के अनुरूप जीवन -शैली, वैचारिकी, कला समाज इत्यादि के निर्माण के नवीन कार्यक्रम, कार्यविधियाँ एवं प्रस्ताव रखे।

20.02 उत्तर -आधुनिकता : परिभाषा

उत्तर -आधुनिकता का जो चरित्र एवं विशेषताएँ हैं उनके आलोक में इसको किसी एक परिभाषा से परिभाषित करना अथवा किसी एक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना न तो सहज है और न ही तक्रसंगत। उतर -आधुनिकतावाद से संबद्ध विचारकों एवं विश्लेषकों की भी यही मान्यता है कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में उत्तर -आधुनिकता एक संश्लेषणात्मक सिद्धान्त है जिसकी पृष्ठभूमि एवं सैद्धान्तिक अभिमुखीकरण अन्तर्विषयक एवं बहुविषयक (Inter -Discipilinary and Multi -Discipilinary) उपागमों से निर्मित एवं सुसज्जित होती है। पारिभाषिक स्तर पर इसे विश्लेषित करने वाले उत्तर -आधुनिकतावादी सिद्धान्तवेत्ताओं में डगलस केलनर (1980), जे. ल्योटार्ड (1984) जीन वाउद्रिय (1989) तथा विलियम वोगार्ड (1990) इत्यादि के नाम प्रमुख हैं।

डगलस कोलनर के अनुसार "उत्तर -आधुनिकतावाद कोई विशिष्ट एकीकृत सामाजिक सिद्धान्त न होकर उत्तर -आधुनिकतावाद के एकाधिक भिन्न सिद्धान्तों का समाविष्ट स्वरूप है।" हालाँकि उपर वर्णित उत्तर -आधुनिकतावादियों ने भी इसे परिभाषित करने के अपने -अपने स्तर से प्रयास किए हैं तथापि उनमें अस्पष्टता तथा अन्तर्विरोधों एवं आलोचनाओं के तत्व ही अधिक परिलक्षित होते हैं।

परन्तु उत्तर -आधुनिकतावाद के वर्तमान स्वरूप तथा अब तक की इसकी विकास यात्रा को देखते हुए इसकी सैद्धान्तिक अस्पष्टता एवं बहुवैषयिक संदर्भ कहीं से अस्वाभाविक भी नहीं प्रतीत होते हैं। वास्तविकता भी यही है कि उत्तर -आधुनिकतावाद ने अपना सृजन तो कर लिया है लेकिन अभी तक यह कोई ठोस उद्देश्यात्मक स्पष्टता एवं व्यवहारिक तथा सवस्वीकार्य सहज उपागम विकसित नही कर सका है। वस्तुत: जिस उत्तर -आधुनिक समाज के निर्माण की कल्पना के नींव पर यह आधारित है, उसकी सटीक संरचना क्या होगी, किस प्रकार की होगी, उसकी कार्य -प्रणालियॉ तथा मूल तत्व क्या होंगे, ये सभी अभी प्राय: अस्पष्ट ही हैं। हालॉकि इस दिशा में उत्तर -आधुनिकतावाद सतत रूप से गतिशील दिखता है लेकिन विद्यमान परिस्थितियाँ इसके अभी भी संक्रमणकाल मैं ही होने के संकेत देती हैं।

20.03 उत्तर -आधुनिकता: ऐतिहासिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिकता के स्तर पर यदि देखा जाए तो अपने प्रक्रियात्मक स्वरूप में आधुनिकता पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में सत्रहवीं शताब्दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के बीच सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक स्तरों पर उत्पन्न हुए प्राय: सकारात्मक परिवर्तनों की श्रोत -प्रक्रिया है।

हंटिंग्टन के अनुसार यह मानव चिन्तन तथा क्रिया -कलापों के समस्त क्षेत्रों में परिवर्तन लाने वाली एक बहुमुखी प्रक्रिया है। आधुनिकतावाद अपनी स्थापनाओं, मान्यताओं विमर्शों एवं संदर्भों इत्यादि के आलोक में कल्पित प्रगतिशीलता एवं विकास के कतिपय मानदण्डों की प्राप्ति के उद्देश्यों के साथ स्वयं को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती थी जो मानव समाज के समक्ष संतुलित विकास, समरुपता, समरसता एवं व्यक्ति के जीवन के सुखान्त इत्यादि के वायदे करता थी।

परन्तु समय के साथ, विडम्बनापूर्ण ढंग से आधुनिकतावाद की क्रमिक परिणति इसके उद्देश्यों के इतर विरोधाभासी परिणामों के रूप में सामने आने लगी। निर्धन, अभावग्रस्त तथा वंचितों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि, निर्धनता के नए वैश्विक परिणामों के उदय तथा निर्धनों एवं धनवानों के बीच निरन्तर बढती खाई, सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के बहुकोणीय संघर्ष, स्त्रियों, प्रजातियों, जातियों से सम्बन्धित नकारात्मकता को उभारने वाले मुद्दों का क्रमिक उभार, सामाजिक असंतोष, आतंकवाद इत्यादि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं आधुनिकता के दौर की प्रमुख विफलताओं के रूप में उभरे हैं। इन विफलताओं ने आधुनिकता से आगे और भिन्न दिशाओं में भिन्न एवं प्रासंगिक वैचारिकियों एवं प्रक्रियाओं हेतु एक वैश्विक आधार निर्मित किया है। उत्तर -आधुनिकता इसी आधार का प्रयोग स्वयं को स्थापित, प्रसारित एवं प्रभावी करने में कर रहा है।

हालाँकि उत्तर -आधुनिकता की कोई एक निश्चित दिशा स्वरूप या सैद्धान्तिक अभिमुखीकरण नहीं है तथा इस कारण यह आलोचनाओं का शिकार भी बनता रहा है, तथापि यह मानवीय जीवन के विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में गुणवत्ता एवं वैकासिकता के आयाम जोड़ने के दावे करता है। स्पष्टतया यह स्थापित परम्पराओं, रूढियों, मान्यताओं, मूल्यों, कार्यविधियों, सिद्धान्तों, वैचारिकियों दृष्टिकोणों, इतिहास दृष्टियों तथा भविष्य के प्रति कार्य -योजनाओं एवं कल्पनाओं इत्यादि को सिर्फ इस आधार पर मान्यता प्रदान करने एवं अपनाने से बचता है कि ये कुछ या अधिक लोगों के लिये उपयोगी है, इनकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है अथवा ये परम्पराओं द्वारा अनुमोदित हैं। यह प्रासंगिकता, आवश्यकता एवं उपयोगिता के आधार पर चीजों एवं प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता तथा इसके आधार पर योजनाएँ एवं सिद्धान्त निर्मित करता है। अपनी सीमाओं में इन योजनाओं एवं सिद्धान्तों का केन्द्रीय संदर्श प्राय: सम्बद्ध समूहों या समाजों की संतुष्टि, सुख -वृद्धि तथा विकास रहा करता है।

उत्तर आधुनिकता का वस्तुत: कला -क्षेत्र से प्रारम्भ हुआ जो शीघ्र ही, विशेषकर यूरोपीय जगत में, मानव जीवन से सम्बद्ध प्राय: प्रत्येक क्षेत्र तथा दर्शनशास्त्र एवं सामाजिक विज्ञानों इत्यादि में समाने लगा एवं प्रभाव दिखाने लगा।

वस्तुत: उत्तर -आधुनिकता का एक अवधारणा तथा पद के रूप में सर्वप्रथम विकास कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास लेखन, नीतिशास्त्र, स्थापत्य तथा संस्कृति के क्षेत्रों में देखने को मिलता है। समाजशास्त्रीय संदर्भ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग 20 वीं शताब्दी के अंत में ब्तपजपबंस जीमवतल में देखने को मिलता है जब 1970 में जॉन वॉटकिन्स चैपमैन ने चित्रकला की उत्तर -आधुनिक शैली के विकास की बात कही।

1917 में रूडोल्फ पैनविट्ज ने इस पद का प्रयोग दर्शनोन्मुख संस्कृति की विवेचना के क्रम में किया था। उत्तर -आधुनिकता के संदर्भ में उनका यह विचार नित्शे की आधुनिकता सम्बन्धी आलोचनाओं से अभिप्रेरित था। इसके बाद इस पद एवं अवधारणा का सतत प्रयोग अन्य दूसरे क्षेत्रों में भी होने लगा। विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात के उत्तर -औपनिवेशिक काल (Post -colonisanism) में सांस्कृतिक सापेक्षवाद (cultural relativism) तथा 'कोई व्यक्ति वस्तुपरक या उद्देश्यात्मक श्रेष्ठ जीवन -शैली या विश्वास का स्वामी नहीं बन सकता जैसे विचारों के उभार के साथ नये प्रकार के जीवन -दर्शन उभरने लगे। हाइडगर, लुडविग विटगिन्स्टाइन, देरिदा, मारक्यूस, फान्ज कॉका, अर्नेस्ट हेमिंग्वे, ज्यॉ बारदयू तथा माइकेल फूको जैसे दार्शनिकों एवं विचारकों के नाम इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

साठ के दशक में उत्तर -आधुनिकतावाद का एकबार बीजारोपण हो जाने के पश्चात् सामाजिक विज्ञानों के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य भी इसके प्रभाव में आने लगे। सैद्धान्तिक रूप से उत्तर -आधुनिकतावादी संदर्भ प्रस्तुत करने वाले प्राथमिक उत्तर -आधुनिकतावादियों में जीन फेंकोज -ल्योटार्ड का नाम प्रमुख है जिन्होंने 1984 में अपनी पुस्तक 'दी पोस्ट -मॉडर्न कंडीशन (The Post -Modern Condition)* में आधुनिकतावाद तथा आधुनिकतावादियों की जम कर आलोचना की और यह कहा कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रस्तुत किये गये महा -सिद्धान्त (Great Theories) कोरे भव्य मिथकों के सिवाय कुछ नहीं हैं। न तो मात्र विज्ञान मानवता का उद्धार कर सकता है और न ही दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण ज्ञान का उद्गम या एकीकृत रूप है।

20.04 उत्तर -आधुनिकतावाद की विशेषताएँ :

सैद्धान्तिक एवं अवधारणात्मक रूप से विश्लेषित किया जाए तो हम इसकी निम्नांकित विशेषताओं को चिन्हित कर सकते हैं:

1. उत्तर -आधुनिकतावाद आधुनिकतावाद के नकार पर आधारित है तथा यह आधुनिकतावाद की प्राय: प्रत्येक सैद्धान्तिक स्थापनाओं, व्यवहारिक कार्य -प्रणालियों एवं सामाजिक विश्लेषण के वृहद उपागमों को खारिज कर उनके स्थान पर व्यक्ति, समूह, संस्कृति, स्थान इत्यादि पर केंद्रित विकल्पों को प्रस्तुत करने की बात करता है।
2. यह अपेक्षाकृत अताक्रिक अविवेकी एवं लोचदार सिद्धान्त है जो सापेक्षता पर बल देता है एवं विषयों, परिस्थितियों, संदर्भों इत्यादि के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

3. उत्तर -आधुनिकतावाद प्रत्यक्षवाद, संरचनावाद, आदर्शवाद, अनुभववाद इत्यादि की भाँति कोई एकाकी, विशिष्ट एवं विशुद्ध सिद्धान्त न होकर एक संश्लिष्ट सिद्धान्त है जिसमें कई सिद्धान्त -उपसिद्धान्त मिलते भी है और निकलते भी है।
4. उत्तर -आधुनिकतावाद महान एवं वृहद सैद्धान्तिक अभिस्थापनाओं की आलोचना करता है तथा यह सिद्ध करने के प्रयास करता है कि जिन महान एवं वृहद सिद्धान्तों को संपूर्ण समाज के संदर्भ में विकसित किया गया माना जाता है उनका समाज की व्यावहारिक प्रक्रियाओं एवं आवश्यकताओं से कोई तारतम्य नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए जार्ज रिट्जर 1994 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कंटेम्परी सोशियोलाजिकल थ्योरी (Contemporary Sociological Theory)* में लिखते हैं कि 'उत्तर -आधुनिकतावाद सामान्य तौर पर एवं प्रथम दृष्टया महान वृतान्तों को अस्वीकार करता है तथा विशेषकर समाजशास्त्र में वृहद सिद्धान्तों की उपेक्षा करता है।
5. इसका मानना है कि प्रत्येक समूह तथा समाज के अपन -अपने यथार्थ एवं वास्तविकताएँ हैं और उनको उन्हीं के दृष्टिकोण एवं परिप्रेक्ष्य में जाना समझा एवं विश्लेषित किया जा सकता है। आंग्ल -संस्कृति के संदर्भ में विकसित सिद्धान्त इस्लाम की संस्कृति के संदर्भ में पूर्णतया प्रासंगिक, संतुलित एवं ताक्रिक नहीं हो सकते हैं।
6. सैद्धान्तिक संरचना के स्तर पर उत्तर -आधुनिकतावाद को उत्तर -संरचनावाद (Post - Structuralism) से जोड़कर देखा जाता है जिसके देश -काल -परिस्थिति पर आधारित स्वयं के संदर्श हैं। सिद्धान्त -निर्माण के संदर्भ में यह किसी विशिष्ट, विशुद्ध एवं एकायामी प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करके सूक्ष्मतम से बृहत्तम सामाजिक इकाइयों, संरचनाओं व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं इत्यादि से आवश्यक आदान -प्रदान करता है एवं पारस्परिक निर्भरता के अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करता है।

20.04.1 आधुनिकतावाद तथा उत्तर -आधुनिकतावाद के प्रमुख लक्षण:

उत्तर -आधुनिकतावाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम आधुनिकता या आधुनिकतावाद, जिसके नकार अथवा अगले चरण के रूप में उत्तर -आधुनिकतावाद को देखा - समझा जाता है, के प्रमुख लक्षणों तथा तत्पश्चात उनके प्रकाश में उत्तर -आधुनिकतावाद के प्रमुख लक्षणों को भी जान लिया जाए।

- आधुनिकतावाद के प्रमुख लक्षण (Key Features of Modernism) :
- आर्थिक उत्पादन: सामाजिक संस्तरणों का निर्माण करने वाले सामाजिक वर्गों वाले औद्योगिक एवं पूँजीवादी समाज,
- नगरीकरण: नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया के साथ नगरीय जीवनशैली तथा संस्कृति का विकास,
- नौकरशाही आधारित राज्य: अपेक्षाकृत सशक्त केन्द्रीय सरकार एवं प्रशासन,
- ज्ञान: धार्मिक विश्वासों तथा पारम्परिक मान्यताओं के स्थान पर विज्ञान एवं ताक्रिक ज्ञान पर आधारित,
- प्रगति: विज्ञान, तकनीकि एवं आर्थिक व्यवस्था पर आधारित।

20.04.2 उत्तर -आधुनिकतावाद के प्रमुख लक्षण (Key Features of Post - Modernism):

- सेवा -क्षेत्र का विकास: निर्माण -कार्यों में क्रमिक कमी के साथ सेवा -क्षेत्र का क्रमिक विस्तार एवं विकास; तत्जन्य अनिश्चिततापूर्ण बेरोजगारी में वृद्धि,
- भूमंडलीकरण का विस्तार: राष्ट्रीय सीमाओं के परे व्यापार, व्यापारिक उद्धमों, बहु -राष्ट्रीय कम्पनियों, अंतराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा संस्कृतियों का बहुआयामी प्रचार -प्रसार,
- सामाजिक जीवन: क्रमश: बहु -सांस्कृतिक समाजों एवं सामाजिक जीवन का विकास एवं प्रचलन,
- ज्ञान: विज्ञान एवं ताक्रिक ज्ञान पर आधारित ज्ञान के प्रति अनास्था का विकास तथा ज्ञान के 'अन्य' विकल्पों विशेषकर नृजातीय, पारम्परिक एवं 'सापेक्षिक सत्य' से संबन्धित, की खोज के प्रयास,
- सिद्धान्त: प्रकार्यवाद माक्रसवाद इत्यादि जैसे महा -सिद्धान्तों का नकार तथा क्षेत्र, परिस्थिति एवं समाज -विशेष पर आधारित सरल, प्रासंगिक तथा ग्राहय लघु एवं मध्यम प्रकृति के सिद्धान्तों की मान्यता तथा विकास।

उत्तर -आधुनिकतावाद की मौलिक मान्यताएँ (Basic Assumptions of Post - modernism) :

सैद्धान्तिक स्तर अन्य सामाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की भाँति पर उत्तर -आधुनिकतावाद भी कुछ आधारभूत प्रस्थापनाओं पर आधारित है। अपनी उपादेयता, प्रासंगिकता एवं ताक्रिकता की संपुष्टि के क्रम में यह अपनी कुछ मौलिक मान्यताओं को बौद्धिक एवं वैचारिक जगत में अनुमोदन, मूल्यांकन तथा समालोचना हेतु प्रस्तुत करता है। इसकी कुछ प्रमुख मौलिक मान्यताओं को अग्र -लिखित बिन्दुओं के मध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है -

1. प्रचलित वृहद सिद्धान्त एवं सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्राय: अप्रासंगिक. अनुपयोगी तथा बौद्धिक अलंकरण मात्र है:

उत्तर -आधुनिकतावाद सामाजिक विज्ञानों मानव -शास्त्र, दर्शन इत्यादि विषय -अनुशासनों द्वारा विकसित वृहद सिद्धान्तों तथा सैद्धान्तिक मान्यताओं को व्यवहारिकता के स्तर पर अप्रासंगिक, अनुपयोगी तथा अताक्रिक मानता है। इसके अनुसार वैचारिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के आलोक मे अब तक निर्मित अधिकांश सिद्धान्तों की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं हैं और इसलिए इनको महिमा मंडित करने के स्थान पर सामाजिक जीवन से तात्पर्य रखने वाले सिद्धान्तों के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये। उत्तर -आधुनिकतावाद की इस मान्यता को बिन्दुवत् स्पष्ट करते हुए जार्ज स्ट्रिजर कहते हैं कि

अ. यह वृहद् सिद्धान्तों को सर्वथा अस्वीकार करता है।

ब. इसलिए, यह स्थानीय स्तर पर सामाजिक सरोकार वाले लघु -स्तरीय विचारों, अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों पर ध्यान केन्द्रित करता है।

स. यह अब तक प्रचलित सिद्धान्तों की अधिकांश मान्यताओं को प्रथम दृष्ट्या खारिज कर इनके उपयोगी भागों के संश्लेषण के द्वारा उपयोगी सैद्धान्तिक सृजन की बात करता है।

द. समाजशास्त्र की उपयोगिता, प्रासंगिकता एवं वैकासिकता इसी में निहित है कि यह शान की विविध शाखाओं के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुपयोगी एवं आडम्बरपूर्ण भागों को त्याग कर शेष उपयोगी भागों को समेकित करते हुए उपयोगी, प्रासंगिक एवं गुणवत्तापूर्ण सैद्धान्तिक अभिस्थापनाएँ प्रस्तुत करें।

2. **ज्ञान का रूपान्तरण संभव एवं वांछित है:**

उत्तर -आधुनिकतावाद की जड़ें किसी विशेष नव -सृजन में निहित नहीं होकर प्रचलित विचारों एवं विद्यमान ज्ञान के उपयोगी रूपान्तरण में हैं। इसकी मान्यता है कि ज्ञान का रूपान्तरण संभव है तथा विकास एवं कल्याण के संदर्भ में ज्ञान का रूपान्तरण किया भी जाना चाहिए। वस्तुत: यह सांस्कृतिक मानवशास्त्र की इस मान्यता का अनुमोदन है कि 'आविष्कार की अपेक्षा सीखना अधिक सहज एवं उपयोगी होता है।

उत्तर -आधुनिकतावाद इस मान्यता के केन्द्र में भाषा (Language) को रखता है क्योंकि इसकी दृष्टि मे भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जो वैचारिक अभिव्यक्ति को संभव बनाता है। इसलिये भाषा एवं संचार से सम्बन्धित मुद्दों एवं समस्याओं के संदर्भ में आवश्यक वैज्ञानिक अध्ययन 'भाषा -विज्ञान' (Linguistic) जैसे सशक्त साधन से करना चाहिये। समय के साथ इसके लिये ज्ञान -भंडार से संचित करने तथा संचार को अधिकतम स्तर तक स्पष्ट एवं तीव्र बनाने की आवश्यकता होती है। यह शान के रूपान्तरण के द्वारा ही संभव है। ज्ञान का परिमाणीकरण (Quantification) आज के युग, जिसमें कम्प्यूटर एवं संचार क्रान्ति ने जीवन एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं को तीव्र पथ पर डाल दिया है, की महती आवश्यकता है।

उत्तर -आधुनिकतावाद, ज्ञान की अब तक की यात्रा के आलोक में, यह संकेत करता है कि आने वाले समय में ज्ञान क्रमश: शक्ति एवं सम्पन्नता के केन्द्र में आता जायेगा तथा निरन्तर महत्वपूर्ण होता जायेगा क्योंकि सूचना एवं संचार क्रान्ति की जड़ें ज्ञान के विश्व में ही पोषित एवं विकसित हुई हैं। इनके क्रमिक तथा युग -संबन्धित विकास के साथ -साथ ज्ञान तथा इसके रूपान्तरण की अपरिहार्यता भी क्रमश: स्थापित होती जाएगी।

3. **विवरणात्मक ज्ञान (Narrative Knowledge) अनावश्यक है:**

उत्तर -आधुनिकता की प्रमुख मान्यताओं में यह एक महत्वपूर्ण मान्यता है कि 'विवरणात्मक ज्ञान' अनावश्यक है तथा यह बौद्धिक एवं वैचारिक भण्डारों को निरूद्देश्यात्मक ढंग से प्रदूषित करते रहते हैं। उत्तर -आधुनिकतावाद की दृष्टि में जन -श्रुतियों, गल्पों, मिथकों एवं धार्मिक कथाओं तथा यही तक कि वौज्ञानिक दिवास्वपनों (दिजेंपमे) के स्तर तक लोकप्रिय महापुरूषों की चमत्कारिक जीवन गाथाओं के कुछ मनोवैज्ञानिक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक निहितार्थ हो सकते हैं परन्तु सामान्यतया ये स्वस्थ सामूहिक मन एवं सामाजिक व्यवस्था हेतु अनावश्यक एवं नकारात्मक है क्योंकि ये अताक्रिकता, अप्रमाणिकता एवं अन्धविश्वासों को प्रोत्साहित एवं स्थापित कर समाज एवं विकास की प्रक्रिया के स्वाभाविक प्रवाह को बाधित करते रहते हैं।

4. **वैज्ञानिक ज्ञान स्वयं मे सम्पूर्ण नहीं है:**

उत्तर -आधुनिकता यह मानता है कि हालाँकि वैज्ञानिक ज्ञान तुलनात्मक रूप से अधिक उपयोगी, तर्कसिद्ध एवं स्पष्ट होता है तथापि इसकी सीमायें भी स्पष्ट हैं। न ज्ञानिक ज्ञान को सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता है क्योंकि अब तक के इतिहास मे स्थापित वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी कई बार नकारा एवं खारिज किया जा चुका है तथा उनके स्थान पर नए तथा पुन: परिमिति अथवा किए जा सकने वाले सिद्धान्तों को समय -समय पर प्रस्तुत किया जाता रहा है। वैज्ञानिक ज्ञान इसलिए भी सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि यदि व्यक्ति ज्ञान के किसी स्वरूप अथवा ज्ञान -विशेष से परिचित नहीं है तो उसके लिए वह ज्ञान भी विवरण एवं गल्पों के सिवाय कुछ और नहीं है।

जिस प्रकार वैज्ञानिकता की अपनी सीमायें है वैसे ही वैज्ञानिक ज्ञान भी सीमित परिप्रेक्ष्य का है। इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित संरचनाएँ, उत्पादन एवं वितरण प्रणालियों इत्यादि भी अब तक सामाजिक अर्थो मे सम्पूर्ण विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सकी हैं। ऐसे मे उन वैकल्पिक प्रणालियों की खोज आवश्यक है जो देश -काल -परिस्थिति के अनुरूप अपनी प्रासंगिकता। उपयोगिता एवं वैकासिकता को निरन्तर परिवर्तित होती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भी सिद्ध कर सके।

कुल मिलाकर, उत्तर -आधुनिकतावाद की अब तक की यात्रा स्वयं को सैद्धान्तिक स्तर पर स्थापित कर अपनी स्पष्टता को रेखांकित करती रही है। इस यात्रा मे इसने विभिन्न विषय -अनुशासनों से उपयोगी संदर्भों एवं तत्वों को ग्रहण कर एक संश्लिष्ट सामाजिक सिद्धान्त के महा -निर्माण की दिशा में कार्य किए हैं। इससे उपयोगी अंतर्वैषयिक उपागम को मान्यता मिली है तथा ज्ञान के क्षेत्र में अन्तर्वैषयिकता का प्रचलन बढ़ा हैं। इसने निश्चित रूप से दो या अधिक विषयों सिद्धान्तों तथा वैचारिकियों के बीच की विभाजन रेखाओं को स्थान -स्थान पर धूमिल किया है और कहीं -कहीं तो मिटा भी दिया हे। साथ ही, इसने समाज के संदर्भ मे सैद्धान्तिकता के निर्माण एवं विकास हेतु वैषयिक विशुद्धतावाद एवं लक्ष्मण -रेखाओ की आवश्यकता के मिथकों को भी इस तक्र के आधार पर तोड़ने के प्रयास किए हैं कि 'जब ज्ञान के क्षेत्र में वैषयिक संपूर्णता ही नही हैं तो वैषयिक विशुद्धता या अलगाव की स्थिति कहाँ और किस प्रकार निर्मित होती है'।

किसी भी वैचारिकी तथा सिद्धान्त के केन्द्र मे समाज होता हैं। चूँकि समाज एक बहुआयामी संरचना एव व्यवस्था के रूप में गतिशील हैं इसलिए इसको एकांकी तथा सीमित आयाम वाले तथाकथित विशुद्धावादी विषय -अनुशासनों के विशेषीकृत एवं पूर्वाग्रही दृष्टिकोणों के सहारे जाना, समझा एवं विश्लेषित नहीं किया जा सकता हैं।

20.05 उत्तर -आधुनिकतावाद: सीमायें तथा आलोचनायें:

ज्ञान के विकास के क्रम मे कई प्रक्रियाओं एवं उपागमों को चिन्हित किया गया है। 'वाद -विवाद -संवाद जीमेपेए दजप.जीमेपेए लदजीमेपेद्ध' इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण आयाम निर्मित करता है। इसी प्रकार, ज्ञान के विकास को सरल से क्रमश: जटिल' तथा 'सामान्य से क्रमश: विशिष्ट की ओर' होता बताया जाता हैं। इसी प्रकार, उत्तर -आधुनिकतावाद आधुनिकता के प्रतिकार, विरोध तथा इसकी विफलताओं की नींव पर प्रथमत: आधारित हुआ तथा कतिपय

मुद्दों एवं उपागमों को साथ लेकर क्रमश: आगे बढ़ा। लेकिन जिस उपागमात्मक संपूर्णता की तलाश में इसने अपनी यात्रा प्रारम्म की थी वह बहु -सांस्कृतिक विश्व, सामान्य तथा विशिष्ट बहुरूपीय सिद्धान्तों एवं समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं से अभी तारतम्य स्थापित नही कर सकी है। इसके आलोचकों ने इसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप में नकारत्मकता एवं विसंगतियों के बिन्दु तलाशे हैं और निम्नांकित के रूप मे इसे अपनी आलोचनाओं के दायरे मे रखा हैं:

1. उत्तर -आधुनिकतावाद अभी तक कोई निश्चित सैद्धान्तिक स्वरूप ग्रहण नही कर पाया हैं। तमाम बौद्धिक प्रयासों के बावजूद यह अभी तक अव्यवस्थित एवं विभ्रांत प्रकृति का ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए अपने वर्तमान स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में इसे वृहद् सिद्धान्तों की आलोचना करने एवं उनको सर्वथा नकार देने की उद्घोषणाओं से बचना चाहिए।
2. उत्तर -आधुनिकतावाद सांस्कृतिक सापेक्षतावाद (cultural relativism) से भी दो कदम आगे बढ़कर संदर्भहीनता की बाते करता है। वर्तमान युग की वैश्वीकृत व्यवस्थाओं में समय के साथ पिछड़े रह गए समाजों एवं समूहों के समक्ष संदर्भहीनता की स्थिति व्यवहारिक एवं प्रासंगिक नहीं है। वैश्वीकरण के प्रभाव से संदर्भित समाज एवं समूह प्राय: अछूते नहीं रह पाये है जबकि उत्तर -आधुनिकतावाद उनको उन्हीं के दायरे मे रख कर विकास की बाते करता हैं। यह उनके समक्ष वैकासिक विलंबनाओं (development lags) एवं विडंबनापूर्ण स्थितियों का निमार्ण कर अप्रत्यक्षत: उन्हे विकास की मुख्यधारा से दूर रखने के प्रयास करता है।
3. उत्तर -आधुनिकतावाद विश्व -व्यवस्था में परंपरागत और अनिवार्य रूप विद्यमान संस्तरणों, शक्ति एवं सम्पत्ति के प्रतिमानों ज्ञान के विविध प्रारुपों, प्रतियोगिता तथा होड़ तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद इत्यादि जैसी अनिवार्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं को नकारता तो है परन्तु इनका कोई सुव्यवस्थित एवं सुपरिभाषित विकल्प अभी तक प्रस्तुत नही कर पाया है। अगर इसकी अर्ध -निर्मित मान्यताएँ एवं अस्पष्ट अवधारणाएँ प्रभावी होतीं है तो इससे प्रक्रियात्मक एवं व्यवस्थात्मक व्यतिक्रम उत्पन्न होंगे जो सम्भवतः नकारात्मक प्रक्रियाओं को जन्म देंगे एवं वैचारिक तथा सैद्धान्तिक उहापोह का वातावरण निर्मित करेगें।
4. उत्तर -आधुनिकतावाद व्यापक स्तर पर संवेदनाहीन एवं मूल्यहीन व्यवस्थाओं एवं उप -व्यवस्थाओं के निर्माण की अप्रत्यक्ष योजनाएँ प्रस्तुत करता है। मानव समाज संवेदना के स्तर पर शून्य की स्थिति में प्रगतिशील नही रह सकता है। उत्तर -आधुनिकतावाद इस दृष्टिकोण से अभिप्रेरणा रहित, विलगित एवं परंपरा विहीन समाजों के निर्माण की ओर लक्षित करता हैं। ऐतिहासिक साक्ष्य यह बताते है कि संस्था, व्यवस्था परंपरा एवं ज्ञान इत्यादि से वंचित समाज शीघ्र ही अराजकता के दलदल में फंसते रहे हैं। इस आलोक में उत्तर -आधुनिकतावाद एक 'वाद' के रूप में एक यूरोपियन समाज तथा प्रतिपल परिवर्तित होती रहने वाली दिवास्वप्नों के परिदृश्य निर्मित करता प्रतीत होता हैं।
5. उपरोक्त के अलावा यह आधुनिकीकरण की केन्द्रीयता की अवधारणा को भी स्पष्टतया नकारता है। केन्द्रीयता के तत्व समाज में व्यवस्थापरक संतुलन एवं अनुशासन की स्थापना

में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाते रहे हैं। राज्य, परिवार, नातेदारी इत्यादि जैसी संस्थाओं का प्राचीन काल से बने रहना इसका प्रमाण है। हालाँकि निश्चित तौर पर सीमान्तों (margins) पर अव्यवस्थित समूह, उप -व्यवस्थायें, परम्परायें इत्यादि भी समान रूप से महत्वपूर्ण है तथा मानवतावादी दृष्टिकोण से इनको समरूप माना भी जाता रहा है तथापि सिर्फ सीमाओं को महत्व देने के लिये केन्द्रों को महत्वहीन सिद्ध किया जाये यह तर्क संगत नहीं है।

6. समाज का ऐतिहासिक विकास -क्रम यह बताता है कि कोई भी 'केन्द्र' या 'सीमा' चिरस्थायी नहीं है अपितु इसके वास्तविक संदर्भ समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। आज व्यवस्था के केन्द्र मे रहा कोई तत्व कल सीमा पर जा सकता है और कल तक अवहेलित एवं उपेक्षित रहा कोई सीमान्त तत्व व्यवस्था के केन्द्र में भी आ सकता है। उत्तर -आधुनिकता निश्चित रूप से इसे समझने में उपागमात्मक त्रुटि करता है।
7. न्यॉम चॉमस्की इसकी आलोचना में कहते हैं कि एक प्रकार से देखा जाए तो उत्तर -आधुनिकतावाद अर्थहीन प्रतीत होता है क्योंकि यह विश्लेषणात्मक अथवा विवरणात्मक ज्ञान में किसी भी प्रकार का संवर्धन नही करता है।

20.06 सारांश

अपने वर्तमान स्वरूप में उत्तर -आधुनिकतावाद स्वयं के बारे में अपेक्षाकृत एक जटिल, संश्लिष्ट तथा जन -सामान्य के संदर्भ मे अस्पष्ट छवि प्रस्तुत करता है। लोगों को या तो यह अनेक दिशाओं में परिभ्रमण करता हुआ या फिर एकदम से दिशाहीन प्रतीत होता है। लेकिन हमें इसे इसकी अस्पष्टता, दिशाहीनता एवं योजना हीनता के संदर्भ में परिभाषित एवं विश्लेषित नहीं करके इसकी पृष्ठभूमि तथा विशेषताओं के संदर्भ में ही देखना चाहिए। सैद्धान्तिक विकास एक अनवरत चलती रहने तथा निरन्तर परिमार्जित होती रहने वाली बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम होता है। इसका प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ संबंध उत्तर -संरचनावाद से है और विशिष्ट अर्थों मे यह इसकी दिशा, स्पष्टता एवं व्यावहारिक बोधगम्यता का भी प्रतीक है।

संरचनाएँ एवं व्यवस्थाएँ परस्पर भिन्न हों सकती हैं परन्तु पारस्परिकता एवं सम्पूरकता के आधार पर सर्वथा विभाजित नही होती हैं अपितु इनका स्वरूप सदैव ही परिस्थिति -विशेष पर आधारित रहा है। इनमें परिलक्षित होने वाले विभाजनों, संस्तरणों, अंतर्विरोधों, शक्ति के केन्द्रों एवं स्त्रोतों इत्यादि का कोई ना कोई सकारात्मक पक्ष अवश्य ही होता है। समाज स्वयं ही निष्क्रिय, अप्रासंगिक एवं हानिकारक इकाइयों तथा प्रवृत्तियों को नष्ट करने के प्रयास करता रहता है। इसी में सामाजिक निरन्तरता के बीज छुपे हुए हैं। उत्तर -आधुनिकतावाद यदि इस परिप्रेक्ष्य को भली -भाँति समझ ले तो इसका सैद्धान्तिक विकास और भी तीव्र एवं स्वीकार्य हो जायेगा।

20.07 बोध प्रश्न:

1. उत्तर आधुनिकवाद का अर्थ व लक्षण बताए।

2. उत्तर आधुनिकवाद किन मौलिक मान्यताओं पर आधारित है और यह आधुनिकवाद को कैसे नकारता है?
3. आलोचनात्मक दृष्टि से उत्तर आधुनिकवाद की व्याख्या कर इसकी विशेषताएँ बताए।

20.08 संदर्भ ग्रन्थ:

1. जीन ल्योटार्ड, पोस्ट -मार्डन कंडीशन, मिमासोटा प्रेस, 1989
2. फ्रेडरिक जॉनसन, कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म, वर्सो, लंदन, 1991
3. डेविड हार्वे, दी कंडीशन ऑफ पोस्ट मार्डर्निटी, ऑक्सफोर्ड, 1989
4. डेनियल बेल, दी कमिंग ऑफ पोस्ट इण्डस्ट्रियल सोसाइटी, न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1973
5. माइकल फूको, दी आर्डर ऑफ किंग्स, टॉविस्टॉक, 1970
6. जुर्गन हेबरमास, मार्डर्निटी वर्सेज पोस्ट माडर्निटी, न्यूजर्मन क्रिटिक, 1976

इकाई - 21

विकासवादी सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.01 प्रस्तावना

21.02 विकास का अर्थ एवं उद्देश्य

21.03 सस्टेनेबल विकास (Sustainable Development)

21.04 भारतीय संदर्भ में विकास की नीति एवं कार्यक्रम

21.05 भारतीय समाजशास्त्र में विकासलक्षी अध्ययनों के प्रमुख उपागम

21.5.1 संरचनात्मक -प्रकार्यात्कम उपागम

21.5.2 मार्क्सवादी उपागम

21.5.3 विकास का सांस्कृतिक उपागम

21.06 संचार और विकास

21.07 विकास के मार्ग में आते मानविक अवरोध (Human Problems involved in Development)

21.08 समीक्षा

21.09 सारांश

21.10 बोध प्रश्न

21.11 संदर्भ ग्रन्थ

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सस्टेनेबल विकास के बारे में जान सकेंगे ।
- विकास और प्रगति का अर्थ समझ सकेंगे ।
- विकास एवं आधुनिकीकरण के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- विकास से संबंधित संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक उपागम, मार्क्सवादी उपागम, विकास के सांस्कृतिक उपागम के बारे में जान प्राप्त कर सकेंगे ।
- विकास के मार्ग में संचार की भूमिका से अवगत हो सकेंगे ।

21.01 प्रस्तावना

सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों में समाज के सामाजिक आर्थिक एवं राजकीय आयामों के उभरते प्रारूपों के विश्लेषणों मे विकास को केन्द्र में रखकर हुए अध्ययनों का एक विशेष स्थान रहा है। विशेषतौर से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस प्रकार के अध्ययनों का विशेष महत्व रहा है। पश्चिम के विकसित समाजों की तुलना में संस्थानवाद की बेडीयों से एशिया, अफ्रीका

तथा लेटिन अमेरिका के मुक्त हुए राष्ट्रों के पिछड़ेपन तथा दयनीय हालात ने इन अध्ययनों को प्रोत्साहन दिया ऐसा कहे तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

एक अन्य महत्व की बात यह भी जाननी चाहिये कि विकास के अध्ययनों में अधिकतर आर्थिक पहलुओं पर ही प्रारम्भ से विशेष भार दिया जाता रहा हैं। आज भी विकास का आर्थिक पक्ष इन अध्ययनों में प्रमुख स्थान पर पाया जाता है। अगर आप गम्भीरता से सोचें तो पायेंगे कि विकास का प्रारूप करने में, विकास के कार्यक्रमों में अमलीकरण की रणनीति निश्चित करने में तथा विकास के प्रयासों के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों के मूल्यांकन आदि में आर्थिक पहलू का ही प्रभुत्व है। फिर भी पिछले कुछ दशकों से विकास का अर्थ समझाने में आर्थिक पहलुओं को ही एकमात्र निर्णायक नहीं माना जाता है। सामाजिक -सांस्कृतिक आयामों को भी विकास के अन्तर्गत महत्व का स्थान दिया जाने लगा है।

21.02 विकास का अर्थ एवं उद्देश्य

विकास सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया समाज के सदस्यों के जीवन की विविध प्रवर्तीयों से जुड़ी होती है। इसके फलस्वरूप समाज में सतही परिवर्तनों के साथ -साथ समस्त सामाजिक ढाँचे का रूपान्तर हो सकता है।

सामाजिक विज्ञानों के श्री गणेश के साथ ही विकास की एक अवधारणा के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस अवधारणा का मूल स्रोत प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) में रहा है। सामाजिक विज्ञानों में जैसा कि आगे उल्लेख किया है, विकास का अर्थ आर्थिक वृद्धि (Economic Growth) के पर्याय के रूप में होता आया है। अक्सर समाजशास्त्रीय साहित्य में विकास की अवधारणा का उपयोग सामाजिक ढाँचे में पाये जाने वाले परिवर्तनों को स्पर्श करती कुछ अन्य अवधारणाओं के साथ भी जोड़ा जाता रहा है। हालाँकि विकास की अवधारणा का उपयोग एक निश्चित प्रकार के परिवर्तन की द्योतक होती है। यहाँ विकास और ऐसी ही कुछ महत्व की अवधारणाओं के बीच पाये जाने वाले वास्तविक अन्तर की बात करेंगे।

(i) **विकास और आर्थिक वृद्धि (Development and Economic Growth):** जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है, सामाजिक विज्ञानों मे अब विकास का अर्थ एक ऐसी परिवर्तन की प्रक्रिया से होता है जिसमें समाज के सदस्यों के जीवन से स्पर्श करती है। ऐसी तमाम गतिविधियों का समावेश होता है जो उनके जीवन की सुखकारी तथा मानवीय गौरव तथा सामाजिक न्याय के साथ जीवन यापन करने के अवसर उपलब्ध कराती है। इससे भिन्न वृद्धि (Growth) का अर्थ आर्थिक विकास की गतिविधियों से होता है। खासतौर से आर्थिक उत्पादन के न्यूनतम साधनों से अधिकतम उत्पादन के पहलू पर विशेष भार दिया जाता है। इसके अलावा आर्थिक वृद्धि की गति राष्ट्रीय -आय
प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय उत्पादन तथा विदेशी व्यापार के परिमाणों पर भी आंकी जाती है।

(ii) **विकास एवं उद्धविकास (Development and Evolution)** : समाजशास्त्र में उद्धविकास की अवधारणा जैवकिय उद्धविकास के सिद्धान्तों में से आई है हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने ग्रन्थ "सोशियल स्टेटीक्स" तथा 'प्रिन्सिपलस् ऑफ सोशियोलॉजी' में विस्तार से 'समाज' तथा 'जीव' के तुलनात्मक समरूपता को समझाया है। इसके अलावा स्पेन्सर ने समाज तथा

जीव की उद्धविकास की भी बात की है। सामाजिक उद्धविकास के विश्लेषण में टायलर, डबल्यू.एफ़.ऑगबर्न, गोर्डन चाईल्ड एवं गिन्सबर्ग की टिप्पणियों का भी समाजशास्त्रीय, साहित्य में महत्व का स्थान है। टी.बी. बोटोमोर (T.B.Boromore) का कहना है कि समाजशास्त्र के प्रारम्भ से ही विकास एवं उद्धविकास की अवधारणाओं का एक -दूसरे के पयार्य के रूप में उपयोग होता रहा है, जिसके फलस्वरूप इन अवधारणाओं के अर्थ एवं उपयोग के क्षेत्र में अनेक अस्पष्टताएँ भी समाजशास्त्रीय साहित्य का एक अंग बन गई है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच जो वास्तवीक भेद है उस तरफ आपका ध्यान ले जाना उचित होगा।

(अ) उद्धविकास की प्रक्रिया सरल से जटिल की और अग्रसर होती है। इस अर्थ में उद्धविकास एक -रेखीय प्रक्रिया है, जबकि विकास की प्रक्रिया में यह बात लागू हो यह जरूरी नहीं है।

(ब) उद्धविकास की प्रक्रिया में एक अवस्था (Stage) से दूसरी अवस्था (Stage) में प्रयास सुनिश्चित होता है। अत: उद्धविकास में जैविकी या सामाजिक प्रक्रिया के विविध चरण देखे जा सकते है जबकि विकास की प्रक्रिया में सुनिश्चित चरण स्वत: प्रकट होते हो ऐसा नहीं होता।

(क) उद्धविकास की प्रक्रिया के चरण अनुक्रमिक होते है, ओर इस क्रम को बदला नहीं जा सकता है। विकास की प्रक्रिया में सुविचार पूर्वक हस्तक्षेप करके परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन लाया जा सकता है।

(ड) टी.बी.बोटोमोर के मतानुसार उद्धविकास शब्द का एक निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ होता है जबकि विकास के सम्बन्ध में ऐसा न होने के कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को विकास की प्रक्रिया के रूप में समझतें वक्त उसकी जटिलता बढ़ जाती है।

(इ) उद्धविकास की प्रक्रिया वृहद समाज (macro -level) के स्तर पर दीर्घकालीन परिवर्तन समझाने में उपयोगी होती है, जबकि विकास वर्तमान समय के धरातल पर कोई निश्चित परिवर्तन की घटना या प्रवाह को समझाने में काम आती है।

इस तरह विकास और उद्धविकास सामाजिक परिवर्तन की घोतक है, फिर भी ज्ञान की एक शाखा -समाजशास्त्रीय ज्ञान में इन अवधारणाओं का सूक्ष्म रूप में एक दूसरे से भिन्न तात्पर्य होता है।

(iii) **विकास और प्रगति (Development and Progress):** विकास की अवधारणा की तरह समाजशास्त्र में प्रगति की अवधारणा का भी व्यापक उपयोगी होता आया है। प्रसिद्ध सामाजिक विचारक हो हाउस (Hob House) ने अपने योगदान में विकास शब्द का अर्थ 'प्रगति' की अवधारणा के पर्याय के रूप में किया है। हालांकि हों हाउस ने सामाजिक उद्धविकास और सामाजिक प्रगति केर बीच वास्तविक भेद की बात भी की है। सरल शब्दों मे कहें तो हो हाउस के मतानुसार सामाजिक प्रगति का अर्थ सामाजिक जीवन में प्रकट होते उस सामाजिक परिवर्तन से होता है जिसके साथ मानव तार्किक रूप से या फिर स्वाभाविक रूप से "मूल्य" (Values) जोडते है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रगति समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों की दिशा में होने वाला सकारात्मक परिवर्तन होता है। यही बात विकास के साथ जोड़कर कही जाय तो विकास के प्रयास साधन (Means) का रूप धारण करते हैं और प्रगति इन प्रयासों के

फलस्वरूप जन्म लेने वाला साध्य (end) होती है। परन्तु कभी -कभी। यह सुक्ष्म अन्तर बनाये रखना संभव नहीं होता है, खासतौर से सामाजिक -परिवर्तन के सन्दर्भों में यह समस्या अक्सर खड़ी होती है। टी.बी. बोटोमोर कहते हैं कि हो हाउस के उपदानों में ये दोनों प्रक्रियाऐं मिली -जुली पाई जाती है, और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं पाया जाता है जहाँ सामाजिक विकास के किसी नकारात्मक घटना की बात की गई हो। तथापि हो हाउस इतना अवश्य कहते है कि सामाजिक जीवन के किसी एक निश्चित क्षेत्र में हुई प्रगति का अन्य किसी क्षेत्र में अवांछनीय प्रभाव पड़ सकता है।

19वीं शताब्दी के अन्त के बाद में प्रगति की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में लुप्त होती गई है। इसका प्रमुख कारण पाश्चात्य समाजों में समाजशास्त्र को एक विज्ञान का स्तर दिलाने के प्रयास में समाजशास्त्रीय अध्ययनों को मुल्य -मुक्त (value -free) रखने की जो बौद्धिक कोशिश हुई उसमें निहित है। परन्तु इससे एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन -अमेरिका के गरीब देशों में प्रचलित निरक्षरता, कुई -स्वास्थ्य, पिछड़ापन तथा शोषण आदि की प्रचंड समस्याओं का हल ढूँढ़ने हेतु एक या दूसरे स्वरूप में प्रगति की अवधारणा उपयोगी साबित होती रही हैं।

विलबर्ट मूर (Wilbert Moore) आपने ग्रंथ 'सोशियल चेन्ज' में लिखते है कि प्रगति का विचार अपने आप में कोई एक वैज्ञानिक अवधारणा नहीं है, अपितु यह तो एक मूल्य आधारित परिवर्तन (Value -Judgement Change) को निर्देश करता है । ये परिवर्तन अल्पकालीन या दीर्घकालीन हो सकते है ।

(iv) **विकास एवं क्रान्ति (Development and Revolution):** सामाजिक ढांचे के परिवर्तन से जुड़ी एक अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा 'क्रान्ति' है । परिवर्तन की यह प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया से निम्न रूप से भिन्न पाई जाती है ।

(अ) विकास की प्रक्रिया विद्यमान सामाजिक ढाँचे की सीमाओं में रहकर विपरीत एवं अन्यायपूर्ण परिस्थितियों में क्रमश: बदलाव लाने का प्रयास होता है, जबकि क्रान्ति विद्यमान सामाजिक ढाँचे का संपूर्ण रूपान्तरण करने के उद्देश्य से प्रकट होती है ।

(ब) विकास की प्रक्रिया अहिंसक तथा शान्त आन्दोलन के रूप में चलती है जबकि क्रान्ति में हिंसा तथा संघर्ष का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है ।

(क) विकास की प्रक्रिया में लोक -सहभागिता अत्यन्त महत्व की होती है, जबकि क्रान्ति में केवल क्रान्तिकारीयों की भूमिका ही महत्व की होती है ।

(v) **विकास एवं आधुनिकीकरण (Deveploment and Modernization):** वर्तमान समय में विकास की अवधारणा के साथ -साथ आधुनिकीकरण की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यापकरूप मे उपयोग से आने लगी है। वास्तव मे एस.सी. दुबे (S.C. Due)के मतानुसार इन दोनों अवधारणाओं के बीच रहा तात्विक भेद उड़ गया है । आज ये दोनों अवधारणाएँ एक दूसरे के पयार्य के रूप में उपयोग में आती हैं।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की बौद्धिक जड़े व्यावहारात्मक विज्ञानों (Behavioural Science) में रही है, जबकि विकास की जड़े (Roots) अर्थशास्त्र के साथ संलग्न है । एक

अन्य दृष्टिकोण से देखें तो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पाश्चात्य विकसित समाजों की तुलना में एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के पिछड़े समाजों की गरीबी, पिछड़ापन, निरक्षरता तथा शोषण आदि की सामाजिक आर्थिक बुराइयों को दूर करने के आशय से इन समाजों के आधुनिकीकरण की बात उठाई गई ओर इसका एक मात्र मार्ग विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी आधारित औद्योगिकरण इन समाजों के लिये रामबाण इलाज माना जाने लगा। इसी वैचारिकता को आधार बनाकर विकासशील समाजों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की भिन्न -भिन्न आर्थिक अनुदान तथा ऋण देती संस्थाओं के जरिये मदद दी जाने लगी ताकि इन समाजों का भी पश्चिम के समाजों की तरह आर्थिक और सामाजिक विकास हो सके । परन्तु कालान्तर में पाया गया कि आधुनिकीकरण की यह प्रकिया तो केवल एक छल कपट की बात है । सही अर्थ में पाश्चात्य देश अपनी औद्योगिक उत्पादनों को पिछड़ेपन से ग्रसित समाजों में खपाने के प्रयास में नव - संस्थानवाद फैला रहे है । इसका अर्थ यह हुआ कि विकसित राष्ट्र विविध शर्तो के अधीन विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक रूप से आर्दता में फँसाकर इन राष्ट्रों की राजनीति पर परोक्ष रूप से अपना आधिपत्य जमा रहे हैं । इस प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाएँ विकासशील राष्ट्रों के बौद्धिकों में से ही आती रहीं । आगे चलकर समाजशास्त्रीय साहित्य में इन बौद्धिक प्रतिक्रियाओं ने आधुनिकीकरण की व्यूहरचना का खण्डन करते हुए आश्रितता के सिद्धान्त (Theories of Dependency) तथा उत्तर आधुनिकीकरण के सिद्धान्तों (Theories of Post Modernism) को जन्म दिया ।

इस तरह से समाजशास्त्रीय साहित्य मे विकास की अवधारणा एक ओर सामाजिक परिवर्तन से जुडी अन्य कई अवधारणाओं के पयार्य के रूप में प्रयोग में आती रही है तो दूसरी ओर इस अवधारणा के अर्थ में मानव -जीवन से जूड़े विभिन्न पहलू भी समाविष्ट होते रहे है । जिसके फलस्वरूप विकास का अर्थ एक मात्र आर्थिक वृद्धि (Economic growth) तक ही सीमित न होकर न्यूनतम मानवीय आवश्यकताओं की परिपूर्ति, गरीबी और शोषण से मुक्ति मानवीय गौरव से सुसंगत सामाजिक न्याय तथा अवसरों की उपलब्धी, ज्ञान का विकास एवं प्राकृतिक पर्यावरण पर नियंत्रण आदि का समावेश भी होता है । संक्षेप में कहें तो विकास की अवधारणा में आज एकमात्र आर्थिक विकास की बात अधचरी होती है । ऐसा भी पाया गया है कि एकमात्र आर्थिक -विकास कई अवांछनीय परिणामों को भी जन्म देता है । अत: विकास के अन्तर्गत सामाजिक हेतुओं का समावेश करना नितान्त आवश्यक माना जाता है । कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) तथा प्रतिव्यक्ति आय (Per Capital Income) के आंकड़े अक्सर भ्रामिक (Deceptive) होते हैं, और उनके पीछे दरिद्रता तथा पिछडेपन की भयानक वास्तविकता ढंक जाती है । इसी संदर्भ में एस.सी.दुबे कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) के स्थान पर सामाजिक विकास में कुल राष्ट्रीय कल्याण अर्थात Gross National Welfare (GNW) को समाविष्ट करते हैं । वे सामाजिक विकास के जो उद्देश्य बताते हैं, वे सामाजिक विकास को उसके आज के अर्थ को समझने में अत्यन्त उपयोगी है । ये उद्देश्य निम्न रूप से दर्शाये गये हैं ।

(i) व्यक्ति के स्थान पर गरीबी से पीड़ित विशाल वर्ग पर ध्यान केन्द्रित करना ।

(ii) मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा जीवन स्तर में सुधार (Improvement in quality of life) पर भार देते हुए विकास के सामाजिक लक्ष्यों की पुन: परिभाषा

(iii) आर्थिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों के बीच एक सेतु के रूप में काम कर सकें इस आशय से आयोजन की व्यूहरचना तथा उसके अमलीकरण में प्रभावात्मक परिवर्तन ।

(iv) पुन: परिभाषित नये लक्ष्यों को सिद्ध करने हेतु नये संस्थात्मक ढांचों (Institutional Structure) का निर्माण

(v) उभरते सामाजिक प्रवाहों तथा सामाजिक प्रगति के मूल्यांकन के लिये सक्षम परिमाणों या सूचकांकों (Indicators) का निर्धारण करना ।

(vi) ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण करना कि जो विकास की प्रक्रिया क्षति रहित सक्षम रूप से चलती रहे और किसी भी परिस्थिति में तय की गई सीमाओं का उल्लंघन न हो ।

(vii) विकास के दौर में जो भी संभावित अवरोध और समस्याएँ खड़ी हों उनके शीघ्र तथा प्रभावात्मक समाधान के लिये आगे से ही जरूरी तैयारी हो ।

(viii) ऐसी मानसिकता तथा पर्यावरण तैयार हो जिसमें विद्यमान सामाजिक वास्तविकताओं के औचित्य पर खुले मन से विचार विमर्श किया जा सके और विद्यमान संस्थाओं एवं परिपाटियों को नया रूप देने के लिये सामूहिक रूप से काम किया जा सके ।

जे.एफ.पैवा (J.F.Paiva) सामाजिक विकास के दो प्रमुख परिमाण बताते हैं, जो एक दूसरे से घनिष्ट रूप से जुड़े होते हैं । प्रथम, लोगों में ऐसी क्षमताओं (Capacities) का निर्माण करना कि जिसके फलस्वरूप वे अपने निजी तथा समस्त समाज के कल्याण के लिये निरन्तर काम कर सकें । दुसरा, समाज की संस्थाओं में जरूरी रूपान्तर अथवा पुनर्गठन जिससे वे समाज के सभी स्तर के लोगों, खासकर के निम्न स्तर के लोगों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में उपयोगी साबित है । इस प्रयास में मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के गुणात्मक तथा प्रमाणत्मक (qualitative and quantitative) परिमाणों में से दोनों का पूरा - पूरा ध्यान रखना आवश्यक है । इसके अलावा उपलब्ध साधनों (Resource) के अधिकतम उपयोग का ध्यान रखना भी नितान्त आवश्यक होता है ।

अंत में कहा जाय तो आज सामाजिक विकास को व्यापक अर्थ में समझा जाना है इसका एकमात्र लक्ष्य मानवता के आधार पर (humanistic society) समाज की रचना करना होता है । इस व्यवस्था की यह खासियत रहेगी कि उसकी संस्थाएँ तथा संगठन मानवीय आवश्यकताओं (human needs) को संतुष्ट करने में विशेषरूप से प्रभावक रहेंगी ।

21.03 सस्टेनेबल विकास (Sustainable Development)

आपने देखा कि विकास की अवधारणा का लगभग सौ वर्षों से सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में मानव जीवन के विविध पहलुओं से सम्बन्ध जुड़ता आया है । इसी दौर में गत कुछ दशकों से सस्टेनेबल विकास की अवधारणा को समाज विज्ञानों के साहित्य में तथा मानवीय आवश्यकताओं की सुयोग्य संतुष्टि की व्यूहरचना के क्षेत्र में व्यापक उपयोग होने लगा है । सूक्ष्म रूप से देखें तो सस्टेनेबल का तात्पर्य निरंतरता (Continuation) से जूड़ा है, जबकि विकास का सम्बन्ध परिवर्तन से है ।

साधारण शब्दों में कहें तो सस्टेनेबल विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें प्राकृतिक स्रोतों का निवेश की दिशा, तकनीकी विकास का मार्ग तथा संस्थाकिय परिवर्तन आदि तमाम को (I) वर्तमान की आवश्यकताओं तथा (ii) भविष्य की आवश्यकताओं के साथ सुसंगत किया जाता है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहे तो सस्टेनेबल विकास के निम्न दो प्रमुख आधार होते हैं ।

(I) उपभोक्ता के रूप में मानव -जाती तथा दाता के रूप में प्राकृतिक व्यवस्था के बीच पारास्परिक निर्भरता के सम्बन्ध (Symbiotic Relationship)

(II) अर्थव्यवस्था तथा पर्यावरण व्यवस्था के बीच सहोदरता (Compatibility) के सम्बन्ध

उपरोक्त धरातल पर सस्टेनेबल विकास को सार्थक बनाने की निम्नलिखित पूर्व -शर्तें (Pre -conditions) होती है

(अ) समानता एवं सामाजिक न्याय (Equity and Social Justice)

(ब) अर्न्तनिहित विकल्प (Endogenour Choice)

(स) आर्थिक -दक्षता (Economic Efficiency)

(द) पारिस्थीतीय सुसम्बन्ध (Ecological Harmony)

ई.स.1987 में ब्रून्टलेंड आयोग (Brundtland Commission) ने सस्टेनेबल विकास की जो परिभाषा दी वह आज भी व्यापक रूप से अपनाई जाती है । इस परिभाषा के अनुसार "सस्टेनेबल विकास (एक ऐसा विकास है जो भविष्य की पीढ़ी की अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की योग्यता के साथ किसी भी प्रकार का समाधान किए बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करना है ।

सस्टेनेबल विकास के दो पहलू होते हैं । (1) सामाजिक सस्टेनेबल विकास और (2) पर्यावरणीय सस्टेनेबल विकास इस सम्बन्ध में जानने योग्य महत्व की स्पष्टता यह है कि सामाजिक विकास की सस्टेनेबिलिटी की जो बात है वो अभ्यन्तर (Subjective) अवधारणा है, अत: उसका मापन (Measurment) लगभग असम्भव है, जबकि पर्यावरणीय सस्टेबिलिटी वस्तुनिष्ठ (Objective) होती है अत: इसे मापा (Measure) जा सकता है । महात्मा गाँधी समाज और प्राकृतिक पर्यावरण के बीच रही पारस्परिकता सही अर्थों में देख पाये थे । उनका मानना था कि एक समुदाय की संस्कृति उसकी आत्मा (Soul) होती है ओर प्राकृतिक पर्यावरण उसका देह या शरीर (Body) होती है । महात्मा गाँधी दृढ़ता पूर्वक मानते थे कि प्रत्येक समुदाय के उसके प्राकृतिक पर्यावरण क साथ नैसर्गिक सम्बन्ध होते है तथा इससे समुदाय को अलग नहीं किया जा सकता है । प्रत्येक समुदाय प्राकृतिक पर्यावरण की गोद मे विकसित होता है तथा अपनी विशिष्ट अस्मिता प्राप्त करता है । इसी तरह प्रत्येक समुदाय की अपने प्राकृतिक पर्यावरण से निरन्तर होती रहती अंतर्रक्रियाओं में से उसके अपने विशिष्ट रिवाज परम्परा, धार्मिक आस्था तथा स्थानिक संस्कृति का निर्माण होता है अत: संक्षेप में कहें तो समुदाय और पर्यावरण एक ऐसी एकता (unity) में बँधे होते है कि जिसे तोड़ा नहीं जा सकता । सस्टेनेबल विकास की अवधारणा की आत्मा भी समुदाय और पर्यावरण के बीच पारस्परिकता के सम्बन्धों के पोषण और संवर्धन के प्रयासों में पाई जाती है ।

पियर्स (Pearce) सस्टेनेबल विकास के बारे में लिखते है कि समय गुजरने के साथ इच्छित मानवीय हितों को करने की परिस्थितियो का विनाश न हो यही बात सस्टेबल विकास सुनिश्चित करने का प्रयास करना है और इसी प्रयास में सामाजिक आर्थिक एवं प्राकृतिक व्यवस्थाओं का विवेकपूर्ण एवं उचित ढंग से देखभाल की जाती है । इसका अर्थ यह हुआ कि सस्टेनेबल विकास में वर्तमान पीढी और आने ताली पीढ़ीयों समानता के आधार को केन्द्र में रखकर प्राकृतिक साधनों के भण्डार का उपयोग हो ताकि आने वाली पीढ़ियों के हितों को नुकसान न हो । इसी तरह कालान्तर में आनेवाली पीढ़ियों की दक्षता पर भी प्राकृतिक साधनों के विनाशक उपयोग के फलस्वरूप कोई विपरीत प्रभाव न पड़े इस शर्त को भी सुनिश्चित किया जाना है।

अंत में कहें तो सस्टेनेबल विकास कोई अचानक या अनायास होती घटना नहीं है । यह एक ऐसा सुव्यवस्थित एवं संवदेनशील प्रयास की प्रक्रिया होती है, जिसमें वर्तमान पीढ़ी के साथ -साथ आनेवाली पीढ़ियों के हितों संरक्षण और उच्च जीवन -स्तर की सुरक्षा केन्द्रीय बात होती है। इसी तरह से प्राकृतिक साधनों का विनाश या हनन न हो इस बात का विशेष ध्यान रखकर उनके संवर्धन के प्रयास होते हैं । इस तरह से सस्टेनेबल विकास में एक तरह मानवीय विरासत और दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधन या स्रोत दोनो के संरक्षण एवं संवर्धन के प्रयास किये जाने है। वर्तमान समय मे विकासशील समाजों में नियोजित विकास (Planner Development) के प्रयासों मे सस्टेनेबल विकास के सूत्रों को केन्द्र में रखकर सामाजिक आर्थिक विकास एवं प्राकृतिक साधनों के संवर्धन की व्यूहरचना तय की जाती है ।

21.04 भारत में विकास की नीति एवं कार्यक्रम (Development Policy and Programmer in India)

ई.स. 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ उस वक्त राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक और सामाजिक नव निर्माण की विराट समस्या थी । राष्ट्र के विभाजन के फलस्वरूप विस्थापिनों के पूर्नवास की भी एक भारी समस्या थी । इसके अलावा समस्त राष्ट्र छोटे -छोटे रजवाड़ों (Princely states) में विभाजित था, अत: भारतीय संघ (Union of India) के निर्माण हेतु इन रजवाड़ों का एक राष्ट्र के रूप में विलीनीकरण नितान्त आवश्यक था । इन समस्याओं के उपरान्त एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में तात्कालिक समस्याओं को ध्यान में रखकर कोई सर्वमान्य हल आवश्यक था । उस समय राष्ट्र के समक्ष अकाल -भूखमरी, गरीबी, निरक्षरता, बेकारी, कु -स्वास्थ्य तथा सामाजिक आर्थिक भेदभाव आदि की राक्षसी समस्याएँ थी । कृषि प्रधान देश होते हुए भी अनाज की भारी कमी की दूर करके कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना आवश्यक था ।

औद्योगिक क्षेत्र में भी अत्यन्त निराशा जनक चित्र था । राष्ट्र की कुल आबादी में से केवल 70 प्रतिशत लोग औद्योगिक रोजगार से जुड़े थे । राष्ट्रीय स्तर पर प्रवर्तमान दुर्दशा का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है जब प्रति व्यक्ति वार्षिक आय केवल 255 रूपये (दो सो पच्चावन) थी । राष्ट्रीय भावना के संदर्भ में देखें तो भारत के एक विशाल वर्ग में राजनैतिक चेतना का घोर अभाव था । जाती प्रथा के फलस्वरूप समूह के प्रति भक्ति अपनी -अपनी जाति

तक ही मर्यादित थी तथा राष्ट्र के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का व्यापक अभाव था । सांप्रदायिक वैमनस्य एवं संघर्ष भी लगभग सर्वव्यापी थे । इन विकट परिस्थितियों के बीच आजादी के बाद भारत के राष्ट्रीय नव निर्माण का मार्ग ढूँढना तत्कालीन समय की एक भरी चुनौती थी ।

इस चुनौती से निपटने के लिये भारत ने एक कल्याणकारी राज्य (welfare State) का रूप धारण किया तथा 1949 में भारतीय संविधान पारित किया । भारत का संविधान इस संदर्भ में एक ऐसी रूपरेखा प्रदान करता है, जिसके जरिये आजादी के बाद के भारत में एक इच्छित समाज (A desired society) की अवधारणा को मूर्त स्वरूप देने की प्रतिज्ञा की गई है । इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत नये समाज के जो चार आधार स्तम्भ भारत के संविधान में दर्शाये गये है वे (1) सामाजिक न्याय, (2) स्वतंत्रता (3) समानता तथा (4) भातृत्व है । ये चार आधार स्तम्भ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिये किसी भी प्रकार के भेदभाव से मुक्त एवं मानवीय गौरव के साथ जीवन यापन करने के तथा राष्ट्रीय एकता की परिस्थिति को सुनिश्चित करते हैं । इसके अलावा भारतीय संविधान में राज्यों के नीति निर्देशक तत्वो को भी प्रावधान है जो राज्यों को अतिरिक्त कल्याणकारी कार्यो को हाथ पर लेने का मार्ग सुचित करते हैं ।

भारतीय संविधान में निहित प्रतिबद्धता तथा तत्कालीन समस्याओं को हल करने के संगठित प्रयासों का सुसंगत रूप से वास्तविक परिस्थितियो में रूपान्तरित करने के लिये नियोजित विकास (Planned Development) का मार्ग अपनाया गया । इस तरह से भारत मे पंचवर्षीय योजनाओं का युग आया । इन योजनाओं के अन्तर्गत उठाये जाने वाले विकास के कदमों के पीछे "आर्थिक विकास के साथ सामाजिक -न्याय (Economic Growth) का मंत्र था। हालांकि आजादी के पहले भी भारत में नियोजित विकास के महत्व को समझा जाने लगा था। उदाहरण के तौर पर 1938 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के आश्रय में नेशनल प्लानीय कमेटी का गठन हुआ था । इसी तरह से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद नवनिर्माण की जो विभिन्न योजनाएँ बनी थी उनमें से बॉम्बे प्लान, गांधी प्लान तथा पीपुल्स प्लान आदि का उल्लेख जरूरी है। आजादी के बाद मार्च 1950 में योजना आयोग का गठन हुआ । योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना का मसौदा तैयार किया जिसके आधार पर अप्रेल 1951 से भारत में राष्ट्रीय स्तर पर नियोजित विकास के प्रयासों का श्री गणेश हुआ । चूंकि भारत की 80 प्रतिशत से भी ज्यादा आबादी गाँवों मे रहती थी और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अपने निर्वाह के लिये कृषि पर आश्रित /निर्भर थी अत: प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि तथा संलग्न व्यवसायों एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। ग्रामीण विकास के माध्यम से ही राष्ट्रीय विकास संभव है । इस बात को भी स्वीकार किया गया । इसी परिपेक्ष्य मे भारत मे विकास के कार्यक्रमों मे ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना को सामाजिक परिवर्तन के एक शान्त आन्दोलन के रूप में अपनाया गया ।

एस.सी.दुबे इस ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना के तात्कालिक (Immediate) तथा (ultimate) लक्ष्यों का निम्न रूप से रेखांकित करते है

1. कृषि क्षेत्र मे प्रचुर उत्पादन और संचार, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं आरोग्य तथा ग्रामीण क्षेत्र की शिक्षण व्यवस्थाओं में सुधार लाना ।

2. गाँवों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को रूपान्तरित करने के हेतु से सांस्कृतिक परिवर्तन की एक सुसंगठित प्रक्रिया को प्रारम्भ करना ।

ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना को उपरोक्त लक्ष्यों के साथ राष्ट्रीय स्तर पर कार्यान्वित किया गया उसके साथ आगे के जो प्रयोग थे, उन्हें ध्यान में रखते हुए आर.एन. हल्दीपूर (R.N.Haldipur) भारत के सामुदायिक विकास के इतिहास के दो भागों मे विभाजित करते हैं।

1. सामुदायिक परियोजनाओं के प्रारम्भ से पहले का समय, और
2. सामुदायिक कार्यक्रमों के कार्यान्वित होने के बाद का समय

प्रथम चरण को वो पुन: दो विभागों मे बाँटते है । (अ) 1921 से 1930 तक का प्रारम्भिक प्रयासों का समय तथा (ब) 1945 से 1952 तक का प्रयोगों का समय ।

दुसरे चरण को एस.सी. जैन के योगदान का आधार लेकर वे निम्न तीन विभागों में बाँटते हैं ।

(i) 1952 से 1955 तक का प्रशासनिक व्यवस्था खड़ी करने का युग ।

(ii) 1956 से 1958 तक का तकनिकी विकास का युग और

(iii) 1959 से लेकर आगे का प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का युग ।

नियोजित विकास की प्रक्रिया पंचवर्षीय योजनाओं के मार्ग को अपनाने के बाद आयोजन की निजी तथा कार्यक्रमों के इतिहास में प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण के आशय से अस्तित्व में आई पंचायती राज की व्यवस्था है । नियोजित विकास के प्रयास में प्रथम पंचवर्षीय योजना के दरम्यान ही ऐसा अनुभव किया गया था कि जब तक स्थानिक लोगों को विकास के प्रयासों में सहभागी नहीं बनाया जायेगा तब तक विकास के कार्यक्रमों को सुचारू ढंग से चलाने हेतु जरूरी संस्थागत व्यवस्था खड़ी करना नितान्त असम्भव होगा । अत 1957 मे राष्ट्रव्यापी बलवंतराय महेता कमेटी का गठन किया गया और इस कमेटी के सुझावों के आधार पर 1959 में पंचायती राज की स्थापना हुई । बलवंतराय मेहता समिति ने त्री -स्तरीय व्यवस्था के आधार पर पंचायती राज के गठन का सुझाव दिया जो कुछ राज्यों के अपवाद के साथ सारे भारत में स्वीकार किया गया । इस तरह ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद पंचायती राज संस्थाओं के रूप में अस्तित्व में आई ।

अत: उपरोक्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि आजादी के बाद के भारत में ग्रामीण समुदायिक विकास योजना तथा पंचायती राज व्यवस्था आर्थिक विकास एवं सामाजिक रूपान्तरण के राज्य संचालित एवं नियंत्रित प्रभावकारी बल के रूप में कार्यरत है। इनके संयुक्त प्रयासों के अन्तर्गत जो कार्य आते हैं उन्हें संक्षेप में निम्न रूप से बताया जा सकता है ।

1. कृषि -विषयक विकास ' एवं गरीबी निवारण का कदम उठाना ।
2. स्वास्थ्य, शिक्षण एवं सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम शुरू करना ।
3. पशुपालन एवं पशु संवर्धन को बढावा देना ।
4. महिला सशक्तिकरण के प्रयास करना ।
5. नये नेतृत्व का विकास करना ।

6. प्रजातांत्रिक व्यवस्था में लोगों के अधिकारों तथा कर्तव्यों से सम्बन्धित जन जागृति लाना।
7. ग्रामीण विकास में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित करना ।
8. विकास के उद्देश्यों की दिशा को ध्यान में रखते हुए स्थानिक स्तर पर लोगों की मदद से संस्थागत आधार तैयार करना ।

सामुदायिक विकास योजना के साथ -साथ पंचायती राज के माध्यम से हुए विकास के कार्यक्रमों की सफलता के मूल्यांकन से अन्य कई कठिनाइयों के उपरांत यह भी पाया गया कि विकास के आर्थिक भार तथा अन्य चुनौतियों का सामना करने के लिये पंचायती राज संस्थाओं को सीधा संविधान के साथ जोड़कर ही सशक्त बनाया जा सकता है । अत: 1992 में संविधान में 73वा संशोधन पारित हुआ । इस संशोधन के अंतर्गत संविधान की 11 वीं सूची में पंचायती राज संस्थाओं का समावेश हुआ । साथ ही पंचायतों को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के कार्यक्रम तैयार करने के उपरांत उक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने की सत्ता भी प्राप्त हुई। इसके अलावा पंचायतों को अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये नियत मात्रा में केन्द्र सरकार से सीधी आर्थिक सहायता भी मिलने लगी ।

विकास के इन नियोजित कार्यक्रमों में समय के साथ अनके जरूरी कदम एवं कार्यक्रम अस्तित्व में आने गये । विशेषतौर से ऐसे कार्यक्रम निश्चित लाभार्थी को चुनकर या विशिष्ट समस्याओं से पीड़ित प्रदेशों के आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण के लिये अस्तित्व में आये। ऐसे कार्यक्रमों की श्रृंखला में "अन्त्योदय की योजना" से लेकर समन्वित ग्रामीण विकास योजना (IRDP) का समावेश होना है ।

1991 से भारत की आर्थिक नीति मे बदलाव आया । आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के दर्शन पर आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्थान "खुले -बाजार" की अर्थव्यवस्था ने लिया । जिसके फलस्वरूप उदारीकरण, निजी निवेश और वैश्वीकरण (LPG) की विश्वव्यापी प्रक्रिया का छुपे कदम प्रवेश हुआ । इस समस्त प्रक्रिया के कारण और परिणामों की समझ आधुनिकीकरण से सम्बन्धित प्रकरण में प्राप्त करेंगे । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नई आर्थिक नीति (New Economic Policy) के सामुदायिक विकास एवं कल्याणकारी के प्रयासों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्षरणा से कई प्रभाव पड़े है । इन नये प्रवाहों के प्रति अपनी बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ देते हुए अनके विद्वानों का मानना है कि आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय की बात अब ठीक सकेगी या नहीं यह एक बड़ा प्रश्न खड़ा हुआ है ।

21.05 भारतीय समाजशास्त्र में विकासवादी अध्ययनों के प्रमुख उपागम

आपने देखा कि आजादी के बाद भारत में सामाजिक आर्थिक नवनिमार्ण के संन्निष्ट प्रयासों का एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चला । विकास के इन कार्यक्रमों के पिछे राज्य का सबल होना रहा है, और कालान्तर में विकास के इन कार्यक्रमों में अपनी सहभागिता के माध्यम से स्वयं स्थानिक लोग, स्थानिक साधनों तथा स्थानिक नेतृत्व द्वारा इनका वहन स्वयं करने लगेंगे । विकास का इतना विराट प्रयास निरन्तर चलता रहे एवं राज्य अपनी नीतियों तथा

कार्यक्रमों द्वारा जरूरी निवेश करता रहे यह परिस्थिति भारत के सामाजिक जीवन में एक नई वास्तविकता के रूप में उभर आई है । राज्य संचालित एवं नियंत्रित विकास कार्यक्रमों से प्रभावित होकर अनेक सामाजिक वैज्ञानिक खासतौर से समाजशास्त्री और सामाजिक नृवंशशात्री इनकी कार्यप्रणाली के मूल्यांकन के लिये आकर्षित हुए । इन प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय सामाजशास्त्र में विकासवादी अध्ययनों को प्रोत्साहन मिला । इन अध्ययनों मे वास्तविक परिस्थितियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करने में भिन्न -भिन्न बौद्धिक, दृष्टिकोणों का प्रभुत्व स्पष्टरूप से दिखाई देना है एक अन्य रूप से देखे तो ये बौद्धिक दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय ज्ञान में वृहद स्तर पर प्रकट हो रही सामाजिक आर्थिक वास्तविकताओं को समझने के उद्देश्य से 19वी सदी के प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं । पश्चिम के समाजों में औद्योगिक -पूँजीवाद के विकास ने इन दृष्टिकोणों को एक या दूसरे रूप से प्रोत्साहन दिया, जिससे समाजशास्त्र के ज्ञान के भण्डार में असाधारण वृद्धि हुई है । आपको आगे के पृष्ठों मे विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख उपागमों का परिचय दिया जायेगा ।

(i) सरंचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम (Structural Functional Approach)

आप जानते है कि समाजशास्त्र में इस उपागम का अवतरण सामाजिक नृवंशशास्त्र के योगदानों में से हुआ है । इसी तरह नृवंशशास्त्र में इसे जीवशास्त्र में से अपनाया गया । इस उपागम की आधारभूत धारणाओं के अनुसार समाज एक सुग्रथित व्यवस्था होती हैं । जिसके ढाँचे की इकाईयाँ पारस्परिक क्रियाशीलता के आधार पर समग्र सामाजिक ढांचे तथा उसकी इकाईयों का अस्तित्व तथा कार्य सुचारू ढंग से चलाने में योगदान करती है । सामाजिक ढ़ाचे के किसी एक पहलू में आया परिवर्तन उसके अन्य पहलुओं तथा समस्त ढांचे को प्रभावित करना है।इसी तरह अगर कोई विपरीत प्रभाव करने वाली घटना जन्म लेनी है तो सामाजिक ढांचे में अर्न्तनिहित क्षमता ऐसे विपरीत प्रभावी को पचा कर अपनी निरंतरता तथा कार्यशीलता । बिना किसी असहाय विक्षेप से स्वत: बनाये रखती है । इस उपागम में संघर्ष की संभावनाओं की अनुपस्थित मानकर संपूर्ण व्यवस्था के संग्रथन एवं उसकी एकरागिता पर भार दिया जाता है ।

भारत में विकास के अध्ययनों का सिलसिला प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रमों के अमलीकरण से ही शुरू हो गया ऐसा कहा जा सकता है । तत्कालीन समय में भारतीय समाजशास्त्र पर पश्चिम के समाजों और विशेषतौर से अमेरिकन समाजशास्त्र का प्रचंड प्रभाव था। इसके पीछे भारत के सामुदायिक विकास योजनाओं के साथ -साथ औद्योगिक विकास एवं शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक आदान -प्रदान के लिये विविध प्रकार से आर्थिक और तकनिकी सहायता का हाथ रहा है । इस बौद्धिक प्रभाव से प्रोत्साहित होकर भारत में अनेक समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपगाम के दृष्टिकोण से नियोजित विकास के प्रभावों को समझने में अमूल्य योगदान दिया है । इस उपागम के द्वारा ग्रामीण सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रमों तथा पंचायती राज की कार्यप्रणाली के मूल्यांकन का एक अटूट प्रवाह शुरू हुआ यह कहे तो सत्य होगा । एक अन्य महत्व की बात यह भी हुई कि सरकारी आँकडों या जनगणना के आंकड़ो पर ही निर्भर रहने के बजाय गाँवों के वास्तविक जन -जीवन का गहराई से अवलोकन करके क्षेत्र -आधारित तथ्य प्रकाश में लाये जाने लगे ।

इस उपागम से हुए समाजशास्त्रीय योगदानों मे एस.सी.दूबे, एम.एन.श्रीनिवास, एफ.जी.बैले (F.G.Bailey), टी. सी.एपस्टीन (T.S.Epstein), एम.सी.मुथ्यया (M.C.Muthayya), एस.सी.जैन, एन स्मिंगर (Enismiger), एन. पटनायक (N.Patnaik), योगेश अटल, बी.आर.चौहान आदि के अलावा दूसरे अनेक विद्वानों के नामों का उल्लेख किया जा सकता है । इन उपागम के आधार पर अध्ययनों से जो प्रमुख वास्तविकताएँ प्रकाश में आई है उसे संक्षेप में निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है ।

(1) गाँवों के नियोजित विकास के प्रयासों में स्थानिक लोगों कि सहभागिता का महत्व अनिवार्य पाया गया ।

(2) गाँवों मे विकासोन्मुख नया नेतृत्व उभरने लगा है । इससे परंपरागत सत्ता के ढांचे में बदलाव आने लगा है ।

(3) विकास के कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दे सकें इस आशय से स्थानिक लोगों के स्थानिक संगठनों तथा मंडलों के रूप में नई संस्थागत व्यवस्थाएँ खड़ी हुई है ।

(4) गाँव के लोगों की क्रमश: मानसिकता बदलने लगी है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था से सुसंगत वैचारिक परिवर्तन आने लगा है ।

(5) विकास के कार्यक्रम के फलस्वरूप गाँवों में आधुनीकरण की प्रक्रिया को विशेष गति प्राप्त हुई - है ।

(6) गाँव के लोगों मे विकास के कार्यक्रमों का लाभ लेने हेतु राजनैतिक जागती आई है । इसका एक परिणाम यह भी आया है कि कई जगह राजकीय पक्षों के आधार पर गाँवों में मजबूत गुट्ट (Faction) बन गये हैं, जो अक्सर राजकीय स्वार्थो से प्रेरित होकर विकास के कार्यो में अवरोध खड़े करते हैं ।

(7) गाँवों के लोगों को आई नई जागती एवं आर्थिक समृद्धि के फलस्वरूप गाँवों से शहरों की ओर अप्रवास (Migration) की प्रक्रिया ने प्राप्त की है । इसके अलावा लोगों साहस, मनोबल और आकांक्षाएँ भी ऊँची हुई है ।

(8) आज भी गाँव के पंरपरागत सामाजिक ढांचे मे कोई खास बदलाव नही आया है, फिर भी उसके तानेबाने में कई संघर्षमय परिस्थितियों ने जन्म लिया है क्योंकि विकास के कामों का लाभ लेने के लिये सभी वर्गो के तथा भिन्न -भिन्न स्तर की सामाजिक प्रतिष्ठा रखते लोग प्रयास करते है ।

(9) विकास के कामों के फलस्वरूप गाँवों में जो सामाजिक सुधार तथा तकनिकी विकास हुआ है इससे नये सामाजिक -सांस्कृतिक मूल्यों का जन्म हुआ है ।

(ii) मार्क्सवादी उपागम (Matrix Approach) :

भारत के समाजशास्त्र मे विकासवादी कार्यक्रमों का मार्क्सवादी उपागम से भी काफी गहराई से अध्ययन हुआ हैं । इसके फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र को सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण हेतु एक आधार (Edge) मिला है । यह कहें तो उचित होगा । इस उपागम के द्वारा जिन -सामाजशास्त्रीयों ने विशिष्ट योगदान दिया उसमे ए.आर.देसाई, पी.सी.जोशी गेल आम्बवत,

एलिस थोरर्नर एण्ड डेनियल थोरर्नर, डी.एन.धनागरे, जगन्नाथ पाथी आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

इस उपागम के प्रवर्तकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत में आ रहे सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण मे मार्क्सवादी उपागम ही सर्वश्रेष्ठ है । इस समझ को वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर साबित करने का बौद्धिक प्रयास करते है । इस उपागम के प्रणेताओं का यह भी एक तर्क है कि भारत में नियोजित कार्यक्रमों के मूल्यांकन से जुड़े जो समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए है उनमें संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम से जो ज्ञान का सर्जन हुआ है वो ज्ञान एक मात्र विकास के पूँजीवादी मार्ग को न केवल बौद्धिक आधार प्रदान करना है, परन्तु उक्त मार्ग को प्रोत्साहन भी देना है । अत: मार्क्सवादी उपागम का यह एक प्रभावशाली तर्क है कि इस प्रकार के ज्ञान के सामाजिक प्रकार्यो (Social Function) की निष्पक्ष समिक्षा की जानी चाहिये ।

ए.आर.देसाई का कथन है कि भारत के विश्वविद्यालयों मे सामाजशास्त्र के पाठ्यक्रम की विषय -वस्तु में समाजशास्त्र तथा संशोधन प्रवर्तीयो का विश्लेषण भी इतना ही आवश्यक है क्योंकि यहाँ भी एकमात्र पूँजीवादी मानसिकता को तैयार करने का संदेश दिखाई देना है ।

वे कहते हैं कि विकास के कार्यक्रमों को सही मायने में समझने के लिये संरचनात्मक -प्रकार्यात्मक उपागम से भिन्न हो ऐसे एक वैकल्पिक उपागम की आवश्यकता है । ए.आर.देसाई के कथानुसार यह वैकल्पिक उपागम एकमात्र मार्क्सवादी वैचारिकता पर ही आधारित हो सकता है। मार्क्सवादी उपागम ही वस्तुनिष्ठ (Objective) संबोधन के लिये अर्थपूर्ण शोध प्रश्न एवं उपकल्पनाएँ प्रदान कर सकता है जिनके द्वारा सामाजिक ढांचे के तथा उसके उप -विभागों में विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप हो रहे रूपान्तर को सही अर्थों में समझाया जा सकता है ।

मार्क्सवादी उपागम से भारतीय समाजशास्त्र में हुए विकासवादी अध्ययनों की मूल धारणा है कि आजादी के बाद भारत में पिछड़ापन, गरीबी तथा विषमताओं को समाप्त करने के बहाने राज्य द्वारा राष्ट्रव्यापी नियोजन की नीतियाँ तथा कार्यक्रम अस्तित्व में आये, जिससे अन्ततोगत्वा भारत एक समृद्ध, विकसित एवं आधुनिक समाज में रूपान्तरित हो सके । परन्तु वास्तव में जो परिस्थितियाँ उभर कर आई है वे मार्क्सवादी उपागम के प्रणेताओं के मतानुसार राज्य को पूँजीवाद का एजेन्ट साबित करने के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । इस उपागम के आधार पर हुए विकास के अध्ययनों की उपलब्धियों का संक्षिप्त सार निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

(i) विकासवादी कार्यक्रमों के पीछे करोड़ो रूपयों का खर्च और विविध कार्यक्रमों के अमलीकरण के बाद भी भारत एक गरीब राष्ट्र रहा हैं । विश्व के कई अन्य देशों की तुलना मे भारत की कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GPN) तथा प्रति -व्यक्ति वार्षिक आय (Per -capita Income) विकास के कई वर्ष गुजर जाने के बाद भी काफी नीचे रही है ।

(ii) भारतीय समाज आज भी गंभीर सामाजिक -आर्थिक विषमताओं के जीवन यापन करता है । इतना ही नही अपितु विकास के कार्यक्रमों के बदौलत आय एवं सम्पत्ति के विकास के क्षेत्र

में विद्यमान विषमताएँ और अधिक बढ़ रही है । गरीब अधिक गरीब और अमीर अधिक अमीर हो रहा है ।

(iii) आर्थिक विकास की दर अनियमित रही है और सदैव की भाँती इसकी निम्न दर (Low Rate) यथावत रहती है ।

(iv) कुल आबादी का लगभग एक तिहाई भाग आज भी गरीबी की रेखा (Below Poverty Line) के नीचे है ।

(v) अमीर वर्ग के हाथ में पूँजी और सत्ता का केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है ।

(vi) पूँजीवादी वर्ग में भी बड़े -बड़े पूँजीपतिओं में उत्पादन के साधन, सम्पत्ति तथा आय आदि पर नियंत्रण और भी बढ़ता और मजबूत होता जा रहा है ।

(vii) ग्रामीण कुटीर उद्योगों की समय पर छोटे -पैमाने वालों उद्योगों (Small Scale Industries) बड़ी मात्रा में पूँजी निवेश कर विकसित हो रहे हैं जिससे ग्रामीण बेरोजगारी तथा गरीबी बढ़ रही है।

(viii) छोटे -छोटे तथा सीमान्त कृषकों के मालिकों की भूमि बड़े -बड़े किसानों के हाथ में जा रही है, इससे भूमिहीन कृषक -मजदूरों की (Landless Labourers) संख्या तेजी से बढ़ रही है । हरितक्रान्ति (Green Revolution) से इस प्रक्रिया को तीव्र वेग मिला है । इसके फलस्वरूप ग्रामीण बेकारी का आकार भी काफी बढा है ।

(ix) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा महिलाओं की दशा और भी बिगड़ी है और उत्तरोतर इन वर्गो पर शोषण तथा अत्याचार की घटनाएँ बढ़ती जा रही है ।

(x) शिक्षण तथा स्वास्थ्य की सुविधाएँ लगभग अनुपलब्ध हैं और जो भी उपलब्ध है वे एक विशाल गरीब एवं पिछड़े वर्ग के लोगों की पहुँच से परे है इसके अलावा इस सेवाओं की गुणवत्ता भी काफी भिन्न है ।

(xi) औद्योगिक विकास के साथ -साथ जो नगरीय विकास हुआ है उसका लाभ केवल एक छोटे से समृद्ध तथा साधन सम्पन्न वर्ग को ही हुआ है । गाँवों से अप्रवासी (migration) करके आने वाले लाखों लोगों की दशा नगरों मे भी दयनीय हो रही हैं ।

(xii) इस उपागम से प्रेरित अध्ययनों से यह भी प्रकाश में लाया गया है कि विशाल जनसामान्य (Masses) में बढ़ते हुए असंतोष तथा प्रतिरोध के कारण राज्य उत्तरोतर दमनकारी रूप धारण करता जा रहा है । साथ ही राज्य लोक -कल्याण, नागरिक स्वतंत्रता तथा जनता के प्रजातांत्रिक अधिकारों का बड़े पैमाने पर हनन करने की युक्तियाँ निर्दयता से उपयोग मे लाने लगा है ।

उपरोक्त प्रस्तुतीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि विकास के मार्क्सवादी उपागम के अनुसार भारत में राज्य विकास के कार्यक्रमों की आड में पूँजीवाद के लक्षण धारण करने लगा है, और इसी आधार पर वह पूँजी (Capital) तथा आर्थिक उत्पादन के सम्बन्धों का संचालन और नियंत्रण करने लगा है ।

(iii) विकास का सांस्कृतिक उपागम (Culture Approach of Development)

आप को ज्ञात है कि संस्कृति किसी भी समाज -व्यवस्था की अपनी धरोहर तथा पारस्परिक व्यवहार की एक अन्तर्निहित प्रणाली होती है । इस संदर्भ में देखा जाय तो संस्कृति तथा विकास में गहरा सम्बन्ध है । इस मर्म को समझ कर भारतीय परिस्थितियो के संदर्भ में विकास के कार्यक्रमों के मूल्यांकन में समाजशास्त्रीयों तथा सामाजिक नृवंशशास्त्रीयों का अमूल्य योगदान रहा है । विशेषतौर से इन्द्रदेव, एस.सी.दूबे, योगेन्द्र सिंह पटनायक सच्चिदानन्द एवं योगेश अटल के योगदान का उल्लेख यहाँ जरूरी होगा । इसके अलावा अहपन्न गोपाल अय्यर तथा ब्रिजराज चौहान आदि के योगदान भी महत्वपूर्ण रहे हैं ।

इस उपागम के अन्तर्गत राज्य संचालित एवं नियंत्रित विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के समक्ष आधुनिकीकरण के नियोजित बलों (Forces) के रूप में नई चुनौतियाँ खड़ी हुई है । योगेन्द्र सींग कहते है कि आज परम्पराओं तथा आधुनिकीकरण के बलों के बीच अद्विपक एवं प्रतिभाव (Stimulus and Response) जैसी पारस्परिक अन्तरक्रिया के दर्शन होते है । यह अन्तःक्रिया एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में चल रही है । इसका प्रभाव परंपरागत सामाजिक -सांस्कृतिक ढ़ाचे पर ठोस रूप से हो रहा है । फिर भी विकास के प्रयासों तथा आधुनिकीकरण के बलों के समक्ष परंपराओं का अस्तित्व विलोप नहीं हुआ है । एक तरह से प्रबन्धन की भाषा में कहें तो परंपराएँ सफलता से पैराडाईम शिफ्ट कर सकीं है। यानि कि बदलती परिस्थितियों के साथ प्रकार्यात्मक ढंग से अनुकूलन करके अपने अस्तित्व को बनाये रख सकी है । इसी बात को योगेन्द्र सींग "मोडर्नाइजेशन ऑफ इंडीयन ट्रेडीशन" नामक पुस्तक में समझाते हैं

एस.सी.दूबे ने 1958 में ग्रामीण सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की कार्यप्रणाली का उत्तरप्रदेश के दो गाँवों 1. त्यागी गाँव तथा 2. राजपूत गाँव में क्षेत्रीय संशोधन के आधार पर विषय विश्लेषण किया है । उन्होनें पाया कि विकास के विविध कार्यक्रम प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से इन गाँवों के सामाजिक -सांस्कृतिक ढांचे से प्रभावित हुए है। इस संशोधन पर आधारित उनकी कृति "India's Changing villages" आज समाजशास्त्रीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है । एस.टी.दूबे अपने अध्ययन में सामाजिक -सांस्कृतिक ढांचे को मानवीय बलों (Human forces) की व्याख्या देते है । इसके बारे में आप अगले कुछ पृष्ठों में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे ।

विकास के सांस्कृतिक उपागम की जो प्रमुख समाजशास्त्रीय उपलब्धियाँ है, उन्हें निम्नरूप से दर्शाया जा सकता है :

(i) विकास के कार्यक्रमों के फलस्वरूप भारत के गाँवों मे कृषि, कुटीर उद्योगों, यातायात के साधनो, संदेश वाहन के माध्यमों तथा जीवन शैली के क्षेत्र में विज्ञान और तकनीकी पर आधारित विविध मानवोपयोगी संसाधनों का प्रसार हुआ है । हालांकि ये भौतिक संसाधन सभी को प्राप्त नही हो सके है जिसके परिणाम स्वरूप एक तरफ अमीर -गरीब का भेद जीवन शैली के क्षेत्र में बढ़ने लगा है, तो दूसरी ओर ग्रामीण जीवन की एकरागिता में "सापेक्ष असंतोष" (Relative Depreivation) की कक्षा भी बढ़ने लगी है ।

(ii) गाँवों के सामाजिक जीवन में ऑगबर्न की अवधारणा के अनुरूप सांस्कृतिक मंदना (Culture Lag) की परिस्थिति उजागर होने लगी है । क्योंकि जिस गति से गाँवों में नये -नये भौतिक संसाधन तथा उपकरणों का प्रमाण बढ़ा है उसकी तुलना में गाँवों के सामाजिक सांस्कृतिक ढांचे और मानसिकता में कुछ अपवादों को छोडकर लगभग परिवर्तन आया है ।

(iii) इन्द्रदेव का मानना है कि विकास के प्रणेता तथा कार्यक्रमों को अमल करने वाले अधिकारियों के विचार में विकास का जो अर्थ होना है वो गाँव की सामाजिक -सांस्कृतिक परिस्थितियो से अक्सर मेल नहीं खाता है । इसी कारण विकास के कई कार्यक्रमों को जरूरी स्थानिक लोक -सहभागिता संपादित नहीं हो पातीं । इसी प्रकार के तथ्य एस.सी.दुबे को भी त्यागी गाँव एवं राजपूत गाँव के अध्ययन से प्राप्त हुए थे ।

(iv) ऐसा भी पाया गया है कि विकास से जुड़े कार्यक्रमों के प्रति जनचेतना लाने के लिये तथा स्थानीय लोगों को विकास के कार्यो मे जोड़ने का आह्वान करने के लिये जो जनसंचार के माध्यम उपयोग में लाये जाते है, इसी तरह जो संकेत (Massage) एवं प्रतिक (Symbols) उपयोग में लिये जाते है वे गाँवों के परंपरागत प्रतीकों तथा जनसंचार की प्रमाणिकताओं से भिन्न होते हैं । अक्सर गाँव के लोग इसी कारण सही अर्थ विकास के उद्देश्य नहीं समझ पाते और विविध प्रयासों और कार्यक्रमों से दूर रहना ही पसंद करते हैं ।

(v) विकास की फलश्रुति के रूप में गाँवों का पारंपरिक ढांचा और स्थानिक व्यवस्थाएँ प्रभावित होती हैं। उनकी जगह क्रमश: नया ढांचा और व्यवस्था की श्रृंखला जन्म लेती है । परन्तु ये नई अवस्थाएँ एवं संस्थाएँ पुरानी संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं के जो काम और भूमिका थी उसे अदा नहीं कर पाते । इससे कई पहलुओं में अनिश्चितता और अव्यवस्था जन्म लेती है। इसका परिणाम यह पाया गया हैं कि गाँवों के लोगों के काम खटाई में पड़ जाते है । पुरानी व्यवस्थाएँ सुषुप्त हो जाती है और नई व्यवस्थाओं की कामगिरी लोगों की समझ के अभाव के कारण लोगों का विश्वास संपादित नहीं कर पाती है ।

(vi) ग्रामवासियों के मनोवलणा (Attitude) तथा परम्पराओं के प्रति श्रद्धा के बारे में कहें तो आज भी नियोजित विकास के मंत्रों से कई ज्यादा दृढ़ता से परम्परागत सोच को स्वीकारा जाता है । यहाँ तक की जो ग्रामीण लोग बड़े -बड़े नगरों में बसने लगे है, उनकी मानसिकता में भी परम्परागत रिवाज, विश्वास, श्रद्धा या अन्धश्रद्धा वगैर में नहिवत् परिवर्तन आया है । इस अर्थ में कहा जा सकता है कि विकास के कार्यक्रम गाँवों के परम्परागत सांस्कृतिक पर्यावरण को बदलने में सफल नहीं हो पाये है।

विकास के प्रमुख समाजशास्त्रीय उपागमों का परिचय लेने के बाद अब आपको संक्षेप में संचार और विकास के बीच के सम्बन्ध की समझ देंगे । सही और प्रभावशाली संचार लोगों में विकास की भूख जगाने से महत्व की भूमिका अदा करता है ।

21.06 संचार ओर विकास (Communication and Development)

विकास के लिये संचार नितान्त आवश्यक है । विकास की योजनाएँ छोटी हो या बड़ी, स्थानीय हो या राष्ट्र व्यापी, प्रत्येक योजना के हेतु और लाभ सही ढंग से लाभार्थियों की समझ में आना जरूरी है । अगर यह बात प्रभावरूप से सिद्ध हो जाती है तो विकास के कार्यक्रमों का

न केवल सरलता से अमलीकरण हो सकता है वरन स्थानिक लोग स्वयं उत्सुकता से विकास के इन कार्यक्रमों में अपनी सहभागिता देते है । आप जानते है कि जन -सहमति और जन - सहयोग विकास योजनाओं की सफलता के लिये नितान्त अनिवार्य होता है । एस.सी. दूबे का कथन है कि "संचार साधनो के योजनाबद्ध उपयोग से जनता का ध्यान विकास योजनाओं पर केन्द्रित किया जा सकता है ओर उसकी रूचि इन योजनाओं में जागृत की जा सकती है । जनशक्ति और साधनों का संगठन ऐसी स्थिति में अपेक्षाकृत सरल होता है ।"

हालांकि वे इसकी कुछ कठिनाईयों की तरफ भी ध्यान आकर्षित करते है । वे कहते हैं कि कोई किसी दूसरे के कहने मात्र से ही अपना दृष्टिकोण ओर अपनी मान्यताएँ नहीं बदल लेता। संचार कर्मी इस तथ्य से भली -भांति परिचित है । जहाँ आदेश विफल होता है, प्रयोग ओर निर्देश -सफल हो जाते है । अल्पकालीन समय में वैचारिकता तथा धारणाएँ बदलने मे संचार की शक्ति निश्चित रूप से सीमित होती है, परन्तु प्रयोग की प्रवृति जागृत करने में वह अधिक सक्षम है । निदर्शन संचार की एक उपयोगी और प्रभावशाली तकनीक है । यदि निदर्शन और प्रयोग सफल हुए तो वे जनता की मान्यताओं को सरलता से मोड़ देते हैं ।

संचार की प्रक्रिया की एक महत्व की बात यह भी है कि यह प्रक्रिया काफी जटिल होती है । ऐसा मानना कि संचार को प्रक्रिया बहुत सरल है और संदेश, बिना किसी कठिनाई के, अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं, एक भ्रम होगा । संदेश और इसके अपेक्षित परिणाम के बीच अनेक समस्याएँ आती हैं । इसमें तकनीकी समस्याओं से भी ज्यादा सामाजिक -सांस्कृतिक बलों से प्रेरित मानवीय समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर स्वरूप भी धारण कर लेती है । भारत में परिवार नियोजन के कार्यक्रमों की विफलता के पीछे इसी प्रकार के मानवीय बलों का गहरा हाथ है । संचार कुछ विपरीत प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है । कभी -कभी वह विचार ओर व्यवहार को बदलने के बजाय पूर्वाग्रहों को सशक्त करता है और कभी -कभी वह जिन समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित होना चाहिये उनसे समुदाय का ध्यान हटा देता है । विकास योजनाओं का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से किये गये संगठित संचार प्रत्यय अपने विपरीत प्रभावों के कारण उनकी सफलता की संभावना को ही नष्ट कर देते हैं ।

इस तरह से हम कह सकते हैं कि विकास के मार्ग मे संचार की प्रक्रिया उलझनों से भरी और बहुत ही जटिल वास्तविकता है । विशेष कर के उसके परिणामों की भविष्यवाणी कर सकना कठिन है । परन्तु इन कठिनाईयों को पार करना विकास योजनाओं की सफलता के लिये अनिवार्य है । एस.सी. दूबे अपनी पुस्तक 'संचार और विकास' (1974) में संचार की कठिनाईयों का हल ढूँढने के लिये एक नहीं व्यूहरचना की आवश्यकता पर भार देते हैं । उनके मतानुसार संचार की नई व्यूहरचना में वे निम्न तत्वों का समावेश करते हैं ।

(i) संचार साधनों की पहुँच को विस्तृत करना

(ii) संचार के माध्यम से दिये गये संदेश को कई सूत्रों में देना, क्योंकि अध्ययनों से पता चला है कि एक ही सुत्र से दिये गये संदेश का प्रभाव कम पड़ता है ।

(iii) जनसंचार के प्रतिमानों में निरंतर बदलाव लाते रहना

(iv) संचार साधनों की क्षमता का अधिकतम विकास होता रहे इस आशय से संचार माध्यम के विशेषज्ञों तथा तथ्यों का सहारा लेना ।

(v) विकास के हेतु से उपयोग में लाई जा रही संचार व्यवस्था का निरंतर मूल्यांकन करते रहना।अब तक मूल्यांकन के ऐसे प्रयासों में केवल कोई कार्यक्रम कितने लोगों ने देखा और सुना उस पर ही ध्यान दिया गया है । परन्तु उसका गुणात्मक प्रभाव क्या रहा है, इरा बात पर खास ध्यान नहीं गया । प्रोफेसर दुबे कहते है कि "मूल्यांकन से वास्तविक मार्ग निर्देश तभी मिल सकता है जहां हम परिमाण के स्थान पर परिणाम का विश्लेषण करें ।

उपरोक्त तत्वों को ध्यान में रखकर बनाई गई संचार की नई व्यूहरचना विकास के क्षेत्र में आने वाली भविष्य की चुनौतियों का सामना करने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है ।

21.07 विकास के मार्ग में आते मानवीय अवरोध

आपने देखा कि विकास की प्रक्रिया एक जटिल मार्ग से गुजरती है । जन समान्यत के हित में उठाये जाने विकास के कदमों का ही जनसामान्य द्वारा विरोध होता है, या उन्हे सही अर्थ में समझ कर नहीं अपनाया जाता है । इस बात को स्पाईसर ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन प्रोब्लम्स इन टेक्नोलॉजिक चेन्ज' (1952), एस.सी.दुबे ने अपने ग्रन्थों (1) "इण्डियाज़ चेन्जीग विलेजेज (1958) तथा (2) "ह्यूमन फेक्टर्स इन काम्युनिटी डेवलपमेन्ट" में काफी गहराई से समझाई है ।

लोगों के स्थानिक सामाजिक -सांस्कृतिक पर्यावरण में निहित परम्परागत व्यवस्थाएँ तथा समझ विकास के मार्ग में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव डालते है । विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह प्रस्तावित होता आ रहा है कि विकास के सक्रिय परिणाम आयें है परन्तु इनका लाभ केवल भ्रदवर्ग तथा समुदाय में सत्ता एवं प्रभुत्व प्राप्त वर्ग के लोगों को ही हुआ है । इसके अलावा यह भी पाया गया है कि विकास के कार्यक्रमों को अपनाने के भाव स्थानिक परिस्थितियों तथा मान्यताओं से प्रभावित थे नही कि सही अर्थ में विकास की नीति और उद्देश्यों की समझ के आधार पर । एस.सी.दूबे ने त्यागी और राजपूत गाँवों के अध्ययन में पाया कि लोगों ने सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों मे इसलिये अपना सहयोग दिया था क्योंकि उन्हें इसमें (1) अपना आर्थिक लाभ तथा सुविधाएँ दिखाई दी थी, (2) व्यक्ति, परिवार अथवा जाति की प्रतिष्ठा बढ़ेगी ऐसा लगा था, तथा (3) कई लोगों को गाँव में नेतृत्व प्राप्त करने के अवसर दिखने लगे थे।

मानवीय बलों का महत्व जिस तरह से विकास के कार्यक्रमों के स्वीकार को प्रभावित करते है, उसी तरह से ये बल विकास के मार्ग में अवरोध भी खड़े करते हैं । इसी श्रेणी में निम्न मानवीय बलों (Human Factors) का समावेश किया जा सकता है ।

1. गरीबी ओर निरक्षरता
2. परंपरागत सामाजिक ढांचे में निहित संस्थागत असमानताएँ तथा भेदभाव
3. भाग्यवादिता तथा जीवन के अवसरों को सुधारने के प्रति उदासीनता
4. धार्मिक अन्धविश्वास एवं सामाजिक कू -रिवाज
5. नये के प्रति या नव -प्रयोग के प्रति उदासीनता ।

6. विकासलक्षी नेतृत्व का अभाव
7. स्थापित -हितों (Verted Interest) के व्यक्ति तथा वर्गो का प्रभुत्व
8. विकासलक्षी नौकरशाही में प्रर्वतमान लाल फिताशाही एवं भ्रष्टाचार

उपरोक्त मानवीय बल अपने आप में स्वयं स्पष्ट है । इन बलों की सक्रीय क्रियाशीलता के फलस्वरूप विकास के भौतिक लक्षांक सिद्ध होते हुए भी सही अर्थ में इच्छित दिशा में परिवर्तन लाने के प्रयास तथा सामाजिक पूर्नगठन की प्रक्रिया शिथिल और असफल होती आई है। अंत में ऐसा भी कहा जा सकता है कि इन मानवीय बलों के कारण विकास की प्रक्रिया और भी जटिल और कठिन हो जाती है ।

21.08 समीक्षा:

विकास सामाजिक परिवर्तन की नियोजित प्रक्रिया होती है । वैश्विक स्तर पर दूसरे विश्वयुद्ध के कारण जो भारी विनाश हुआ था, उस दुर्दशा में से सामाजिक -आर्थिक पूर्नगठन के आशय से नियोजित विकास का, मार्ग अपनाया जाने लगा । आजादी के बाद भारत में भी पंचवर्षीय योजनाओं के तहत ग्रामीण सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं पंचायती राज संस्थाऐं विकास के वाहक के रूप में अस्तित्व में आई । इसके फलस्वरूप एक तरफ राष्ट्रीय स्तर पर विकासलक्षी नौकरशाही व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ तो दूसरी तरफ स्थानिक स्तर पर विकास के कामों में लोक -सहभागिता को प्रोत्साहन मिले इस आशय से पंचायती राज संस्थाओं के उपरान्त महिला मण्डल, युवक मंडल, सहकारी मंडलियों तथा खेल -कूद आदि की नई संस्थानिक व्यवस्थाएँ खड़ी हुई । ये नई उभरती वास्तविकताएँ आधुनिकीकरण के नाम से भी जानने लगी। इन्हीं से आकर्षित होकर समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक नृवशंशास्त्रीयों ने क्षेत्रीय संशोधन के आधार पर मौलिक योगदान किया है इससे भारतीय समाजशास्त्र समृद्ध हुआ है । आज भी विकासलक्षी अध्ययनों की यह परंपरा अविरत रूप से चालू है ।

21.09 साराश

आपने देखा कि विकास के कार्यक्रम आजादी के पश्चात भारत में सामाजिक आर्थिक पूर्नगठन के राज्य संचालित एवं नियंत्रित कार्यक्रम है । इन कार्यक्रमों के पीछे रहा दर्शन भारत के प्रजातांत्रिक संविधान में निहित है । इन कार्यक्रमों का गठन भौतिक और मानवीय संसाधनों की उपलब्धि तथा विकास की अनिवार्यता के अग्रक्रम में ध्यान में रखकर (प्लानिंग कमीशन) द्वारा किया जाता है । आपने यह भी देखा कि 1951 से प्रारम्भ हुई पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये विविध क्षेत्रों मे विकास के विविध कार्यक्रम हाथ पर लिये जाते रहे है । इस प्रक्रिया को मजबूत करने के लिये समय -समय पर जरूरी नई व्यवस्थाएँ भी खड़ी की जाती रही हैं । इस संदर्भ में पंचायती राज के उपरांत ग्रामीण विकास की अन्त्योद्ता से लेकर संकलित - ग्रामीण विकास योजना (IRDP) तथा दूसरे अनेक कार्यक्रमों की उपस्थिति ने गाँवों में एक नई वास्तविकताओं को जन्म दिया है । यह प्रक्रिया सन.1991 में अस्तित्व में आई नई आर्थिक - नीति के तले भी चालू रही है । हालांकि आर्थिक -विकास के साथ सामाजिक कल्याण की जो

बात थी उसे ठेस लगी है । कई विद्वानों का यह भी मानना है कि अब भारतीय राज्य व्यवस्था अपना कल्याणकारी स्वरूप धीरे -धीरे खो रही है।

21.10 मुख्य शब्दावली

(1) विकास सामाजिक परिवर्तन की वो प्रक्रिया जिसमें आर्थिक वृद्धि (Economic Growth) के साथ -साथ समाज जीवन के अन्य सामाजिक आर्थिक पहलुओं का भी पुनर्गठन करने का प्रयास होता है ।

(2) प्रगति : इच्छित दिशा में मूल्यों के अनुरूप सकारात्मक सामाजिक -परिवर्तन

(3) भ्रदवर्ग : समुदाय के उच्च तबके के वे लोग जो सत्ता, प्रतिष्ठा तथा अपने नये दृष्टि बिन्दु के कारण महत्व के तथा पूछे जाने वाले लोग माने जाते हैं ।

(4) मानवीय बल : वे सामाजिक सांस्कृतिक पहलू जो स्थानिक परिस्थिति जन्य होते हैं तथा लोगों की समझ, वैचारिकता एवं मान्यताओं में समाये होते हैं ।

(5) संचार माध्यम : संदेश अथवा विचार विनिमय के वो माध्यम जो रेडियो, टीवी, समाचार पत्र, फिल्म, पत्रिका, निदर्शन एवं प्रयोग आदि के रूप में पाये जाते हैं ।

21.11 बोध प्रश्न

1. विकास का अर्थ एवं उद्देश्य दर्शाइये ।
2. भारत में नियोजित विकास की पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए ।
3. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों के प्रमुख उपागम समझाइये ।
4. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में मार्क्सवादी उपागम की दलिलों की समीक्षा कीजिए ।
5. सस्टेनेबल विकास का अर्थ सविस्तार समझाइये ।
6. संचार और विकास पर एक टिप्पणी लिखिये ।
7. नियोजित विकास के मार्ग में आते मानवीय अवरोधो को सोदाहरण समझाइये ।
8. विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययनों मे सांस्कृतिक उपागम की उपलब्धियाँ दर्शाइये ।
9. भारत में विकास की उपलब्धियों का अपने शब्दों में संक्षिप्त सार दीजिए ।
10. विकास, उत्क्रान्ति एवं प्रगति की अवधारणाओं की तुलनात्मक समझ दीजिए ।

21.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. Dube S.C.(1954)	India's Changing villages;Routledge & Kegan Paul Ltd.,London
2. Dube S.C.(1988)	Modernization and Development : The United Nation University, Tokyo
3. दूबे (1974)	संचार और विकास : भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान : शिमला
4. Desai A.R. (1983)	India's Path of Development; Popular Prakashan, Bombay.

5. I.C.S.S.R(1974) A Survey of Research in sociology and social anthropology : Vol II pp.30 -165
6. Jain S.C(1985) Rural Development : Institution & Strategies, Rawat Publication, Jaipur
7. Sharma S.L. (1986) Development:Sociocultural Dimensions, Rawat Publication 8.
8. Singh Yogendra (1986) Modernization of Indian Tration: Rawat Publication.

ISBN-13/978-81-8496-016-7